भारतीय न्याय-शास्त्र

एक अध्ययन

लेखक :
डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी

प्रकाशक
इन्दु प्रकाशन, दिल्ली

समर्पणम्

परमश्रद्धेयानां तातचरणनां पं० रविनाथ अवस्थि महाभागानां
पादपद्मयोः सप्रश्रयमुपायनीक्रियते,
नवनिबन्धकुसुममिदम्

प्रकाशकीय—

भारतीय दर्शन चिरकाल से विश्वविद्यालयों में अध्ययन अध्यापन का विषय रहा है। मुख्यत: न्याय वेदान्त और बौद्ध दर्शनों का सामान्य अथवा विशिष्ट अध्ययन दर्शन तथा संस्कृत विभाग के स्नातकोतर (एम. ए.) कक्षा के विद्यार्थियों के लिए लगभग अनिवार्य होता है, और इसीलिए भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इन विषयों पर पर्याप्त साहित्य की सृष्टि की है। चूंकि विश्वविद्यालयों में अध्यापन का माध्यम अंग्रेजी भाषा रही है, अत एव यह साहित्य अंग्रेजी भाषा को ही माध्यम बनाकर लिखा गया, जब कि प्राचीन समस्त ग्रन्थ एक मात्र संस्कृत भाषा में उपलब्ध होते हैं।

स्वातन्त्र्य के बाद इधर भारतीय भाषाओं में अध्ययन की माग राष्ट्रियता की दृष्टि से बढ रही है। उत्तर भारत के अनेक विश्वविद्यालयो ने राष्ट्रभाषा हिन्दी को अध्ययन अध्यापन के माध्यम के रूप में स्वीकार भी कर लिया है, शेष विश्वविद्यालयो में भी शीघ्र ही हिन्दी को माध्यम बनाने के प्रयत्न चल रहे है, और यह आवश्यक भी है, किन्तु हिन्दी के माध्यम होने पर विद्यार्थियों प्राध्यापको एव शिक्षाविदों के समक्ष हिन्दी में उच्चकोटि की पुस्तको का अभाव एक बड़ी समस्या है, जिसका समाधान लेखकों और प्रकाशकों को करना है। हमारा यह प्रयास इसी अभाव की पूर्ति के लिए प्रारम्भ हुआ है।

प्रकाशन के क्षेत्र में यह हमारा प्रथम प्रयास है। इसलिए अनुभव और साधनों के अभाव में अनेक स्थानों पर त्रुटियां रह गयी है, जो पाठकों को अनेक दृष्टि से खटक सकती है, जिनके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं। इस प्रयास के प्रसग मे हम सत्साहित्य केन्द्र के व्यवस्थापक श्री विमलप्रसाद शर्मा के अत्यन्त आभारी हैं, जिन्होने हमारी स्थिति से पूर्ण परिचित होते भी कार्य प्रारम्भ करने को न केवल प्रोत्साहित किया, अपितु सब प्रकार से सहयोग प्रदान कर प्रकाशन के पथ पर हमें आगे बढ़ाया है; साथ ही आपके सहयोगीजनों की भी अत्यधिक कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इसे अपना कार्य समझ कर संवारा है। यदि पाठकों ने इस भेंट को उपयोगी मानकर स्वीकार किया, तो हम भविष्य में इससे भी अधिक उपयागी अनुसन्धानपूर्ण प्रकाशन कर उनकी सेवा का प्रयत्न करेगे।

२-६-१९६७ **सुशीला शास्त्री**

निवेदनम्

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य न्याय और वैशेषिक दर्शन के जिज्ञासु पाठकों के लिए न्यायशास्त्र की प्रपञ्चमयी भाषा में यत्र-तत्र विकीर्ण सामग्री को सर्व सामान्य की भाषा में सुलभ करना है। इस उद्देश्य को ध्यान मे रखकर ही न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तो को विविध आचार्यो की मान्यताओं के साथ एक सूत्र में निबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। यथास्थान अन्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों के साथ यथासम्भव तुलनात्मक समीक्षा भी की गयी है। अधिकांश स्थलो में तटस्थ रहते हुए निर्णयात्मक समीक्षा का भार पाठको पर ही छोड़ दिया गया है, यद्यपि कही कही अपने विचार भी अनायास आ गये हैं।

अनुसन्धान में प्रवृत्त मनीषी पाठकों की सुविधा के लिए परिशिष्ट में प्राचीन आचार्यो के विचारो को उनकी शब्दावली मे ही संकलित कर दिया गया है।

लेखक को दर्शन शास्त्र के विशेष अध्ययन की प्रेरणा अपने अध्ययन काल में लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष माननीय डा० सत्यव्रतसिह पी-एच० डी०, डी० लिट्० एवं उदयपुर विश्वविद्यालय के वर्त्तमान सस्कृत विभागाध्यक्ष डा० रामचन्द्र द्विवेदी से लखनऊ विश्वविद्यालय में मिली, एव उन्ही की छत्र छाया में बैठकर कुछ सीखने का अवसर मिला, अतः लेखक उनके चरणो मे श्रद्धा से अवनत है।

साथ ही केन्द्रीय संस्कृत शिक्षा सलाहकार डा० रामकरणशर्मा के सौहार्दपूर्ण प्रोत्साहन से, श्री लालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ के निदेशक डा० मण्डन मिश्र महोदय की वरद छाया में, दिल्ली विश्वविद्यालय के बौद्ध अध्ययन विभागाध्यक्ष गुरुकल्प डा० रामचन्द्र पाण्डेय महोदय के स्नेहसिक्त सवर्धन एव सस्कृत विद्यापीठ दिल्ली के स्नातकोत्तर विभागाध्यक्ष महामहोपाध्याय श्री पं० परमेश्वरनन्द जी शास्त्री के वात्सल्यपूर्ण पथप्रदर्शन एवं परिष्करण से यह ग्रन्थ इस रूप में आ सका है, अतः इन मान्य गुरुजनों के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूं, वस्तुतः यह सब इनकी ही कृपा का फल है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ की पृष्ठभूमि तैयार करने में आर्य कन्या डिग्री कालेज खुर्जा की संस्कृत विभागाध्यक्षा कु० सुषमा एम० ए० एवं दिल्ली कालेज दिल्ली के प्राध्यापक डा० गगाप्रसाद पाठक से विशेष सहायता मिली है। इन्हे किन शब्दो में धन्यवाद करूं, क्योकि ये तो अपने ही है।

इसके साथ ही परम माननीय दिल्ली के उपराज्यपाल स्वनामधन्य डा० आदित्यनाथ झा महोदय ने अपने अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रम में भी अवसर निकाल कर गून्थ की प्रस्तावना लिखने की कृपा की है, तदर्थ आभार प्रदर्शन धृष्टता ही हो सकती है, अत: उनकी सेवा में श्रद्धा के सुमन अर्पित करना ही कर्तव्य समझता हूं।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में जिन ग्रन्थों से यथावसर सहायता ली गयी है, उनके विद्वान् लेखको के प्रति भी लेखक कृतज्ञ होता हुआ आभार प्रकट करता हे। समय और सामर्थ्य दोनों के सीमित होने के कारण इसमें यथास्थान त्रुटियां रह गयी है; विशेषत: ऐतिहासिक चर्चा के अवसर पर; क्योकि उस प्रकरण मे अनिवार्य होने के कारण न्यायशास्त्र के सन्दर्भ में ऐतिहासिक मान्यताओ का संकलनमात्र कर दिया गया है। विद्वान् पाठक कृपया उन्हे अवश्य सुधार लेगे, क्योकि यह तो उनका स्वभाव ही है।

अन्त में कालिदास के शब्दों में यही कहना है—

आपरितोपाद् विदुषां न मन्ये साधु प्रयोगविज्ञानम्
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेत: ।

विदुषां वशंवद:
ब्रह्ममित्र अवस्थी
श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
शक्तिनगर, दिल्ली-७

आषाढ पूर्णिमा
२०२४ वि०
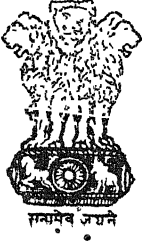
उपराज्यपाल
दिल्ली

प्रस्तावना

दार्शनिक चिन्तन की परम्परा भारतीय संस्कृति और साहित्य की आदिकाल से आत्मा रही है, इसलिए यदि यह कहा जाए कि दर्शन शास्त्र का अध्ययन किये बिना भारतीय संस्कृति और साहित्य के अन्तस्तल तक पहुंचना संभव नहीं है, तो अनुचित नहीं होगा। भारतीय दर्शन की आत्मा तक पहुंचने के लिए भी न्यायशास्त्र अर्थात् न्याय और वैशेषिक दर्शनों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। किन्तु न्यायशास्त्र की पारम्परिक भाषा की दुरूहता इस युग के जिज्ञासुओं के लिए एक समस्या के रूप में उपस्थित हो जाती है। विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ में इस कठिनाई से बचने के लिए एक प्रशस्त मार्ग उपस्थित किया है। इसमें न्याय और वैशेषिक दर्शन की प्रमुख समस्याओं–विशेष और समवाय पदार्थों की मान्यता, परमाणुवाद, कारणवाद, अनुमान के अंग-व्याप्ति, पक्षता, पक्षधर्मता और हेत्वाभास आदि के विवेचन के प्रसंग में प्राचीन आचार्यों द्वारा किये गये सूक्ष्म चिन्तन को सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है, साथ ही विविध भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों के मान्य सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा भी की गई है। हिन्दी माध्यम में लिखी गई अपने ढंग की यह एक उत्कृष्ट रचना है। इस सफल प्रयास के लिए डा० ब्रह्म मित्र अवस्थी बधाई के पात्र हैं।

९-८-१९६८

(डा० आदित्यनाथ झा)

विषय सूची

पदार्थ विमर्श

द्रव्य विमर्श

गुण विमर्श

बुद्धि विमर्श

गुण विमर्श (शेषांश)

भूमिका

संस्कृत वाङ्मय की अन्य शाखाओं के समान ही न्यायशास्त्र का भी आरम्भ कब कैसे और कहां हुआ, इसका कोई स्पष्ट विवरण उपलब्ध नही है। विश्व के सूक्ष्मतम तत्व के अनुसन्धान और परीक्षण में प्रवृत्त मनीषियो को अपनी सुध भूल जाना अस्वाभाविक नहीं है। फिर भी अन्तः साक्ष्य और बहिः साक्ष्य के आधार पर अब तक किये गये ऐतिहासिक अनुसन्धानों के आधार पर न्यायशास्त्र का आरम्भ ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी के अनन्तर नही माना जा सकता, जिसका विवेचन हम इन्ही पृष्ठो में करेंगे।

न्यायशास्त्र के इस बाइस सौ वर्षो के विस्तृत इतिहास को सुविधा क दृष्टि से हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :

१. **आदिकाल**: ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी से ५०० ईसवी पर्यन्त
२. **मध्यकाल**: सन् ५०१ ईसवी से १३०० ,, ,,
३. **उत्तरकाल**: सन् १३०१ ईसवी से १९०० शताब्दी के उत्तरार्ध पर्यन्त

आदिकाल के प्रतिनिधिस्वरूप हमें गौतम तथा कणाद के केवल दो सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। यद्यपि इनके साथ पदार्थधर्मसंग्रह (प्रशस्तपाद भाष्य) को भी जोड़ा जा सकता है, किन्तु इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी रहे होंगे, जो आज उपलब्ध नही है। दूसरा काल सूत्रों के भाष्यों का कहा जा सकता है, जिसका आरम्भ वात्स्यायन के साथ होता है, जिसमे अनेक प्रख्यात विद्वानों द्वारा न्याय और वैशेषिक पर भाष्य और टीकाओ की उद्भावना हुई। तृतीय काल में तत्वचिन्तामणि कारिकावली भाषापरिच्छेद जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना एवं उन पर टीका प्रटीकाएं लिखी गयी।) इस काल में ही तर्कसंग्रह तर्ककौमुदी आदि गुटका ग्रन्थों का भी जन्म हुआ। ये तीनों काल न्याय और वैशेषिक दर्शनो के विकास के तीन क्रमिक चरण के भी प्रतीक है। इस दृष्टि से प्रथम काल को सूत्रों के रूप में सिद्धान्तों के निर्माण का काल कहा जा सकता है, दूसरा काल भाष्य अथवा व्याख्याओं द्वारा उनके परिष्कार का काल है, तृतीय काल कारिकाओं द्वारा उनके

व्यवस्थीकरण का है। पहले काल की विशेषता है उसकी महान मौलिकता और नवीनता, दूसरे की पूर्ण विशदीकरण और तीसरे की सूक्ष्मीकरण। काल विभाजन की रेखा की ये सीमाएं कोई लक्ष्मण रेखा नही है, अनेक बार ये शिथिल होती दिखाई देती हैं ; उदाहरणार्थ १४ वीं शताब्दी से पूर्व तार्किक-रक्षा और सप्तपदार्थी जैसे कारिका या गुटका ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं, और परवर्ती काल में शकर मिश्र और विश्वनाथ की वैशेषिक और न्याय सूत्रो पर वृत्तिया भी लिखी गयी। किन्तु इन एकाध कृतियों के आधार पर पूर्वोक्त धारणाओ पर कोई व्याघात नही आता, क्योकि ये धारणाएं सामान्य प्रवृत्तियो पर आश्रित हैं, एव उन प्रवृत्तियों मे तात्विक अन्तर है।

न्याय और वैशेषिक दर्शनों का पारस्परिक सम्बन्ध समय समय पर बदलता रहा है। प्रथम काल में इनकी पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता दृष्टिगोचर होती है यद्यपि विवेचनीय विषयो की दृष्टि से दोनों मे परस्पर समानता भी दिखाई देती है। उत्तरोत्तर टीका प्रटीकाओ के निर्माण के बाद जब ये विरोधी रूप में प्रतीत होने लगे तभी तृतीय काल में इनके एकीकरण की प्रवृत्ति का उदय हुआ। तर्कसंग्रह भाषापरिच्छेद आदि ग्रन्थों में इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते है, जिनका निर्माण दोनों के श्रेष्ठ तत्वों को ग्रहण करते हुए ही किया गया है।

न्यायशास्त्र के विकास क्रम का वर्गीकरण करने के अनन्तर हमारे सम्मुख सर्व प्रथम महत्वपूर्ण प्रश्न है, गौतम और कणाद के सूत्रों के निर्माण काल का, ये सूत्र ही न्याय और वैशेषिक दर्शनों के आधार हैं, तथा ये ही न्याय और वैशेषिक दर्शन के अब तक उपलब्ध ग्रन्थों में प्राचीनतम हैं। इसके निर्माण काल के निश्चय के लिए सर्व प्रथम हमें इनके सूत्रों के निर्माता के सम्बन्ध में विविध मान्यताओं का विश्लेषण करना आवश्यक है। पद्मपुराण स्कन्द पुराण गान्धर्वतन्त्र नैषधीय चरित तथा विश्वनाथ वृत्ति आदि ग्रन्थों में न्याय सूत्रों के रचयिता के रूप में गौतम का उल्लेख किया गया है।[१] इसके

---

१. (क) पद्मपुराण उ० खण्ड २६३ (ख) स्कन्द कलिका ख० अ.१७
(ग) न्यायसूत्र वृत्ति १८२ (घ) नैषधीय चरितम् १७.
(ङ) न्यायसूत्र वृत्ति पृ० १८५

विपरीत न्यायभाष्य न्यायवार्त्तिक न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका एवं न्यायमञ्जरी आदि न्याय ग्रन्थों मे न्यायसूत्रो को अक्षपादकृत माना गया है ।[१] महाकवि भास के अनुसार इन सूत्रो के प्रणेता का नाम मेधातिथि होना चाहिए ।[२] सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त के अनुसार न्यायसूत्र के प्रणेता अक्षपाद हैं । गौतम या मेधातिथि नही ।[3]

न्याय सूत्रों के प्रणेता के रूप में इस मत भेद के समाधान में एक सबसे बड़ी बाधा गौतम और अक्षपाद के निवास स्थान के सम्बन्ध मे लोक प्रथित मान्यताओं से आती है । क्योंकि रामायण के कथानक के अनुसार सीता स्वयवर मे जाते हुए राम ने गौतम के आश्रम में पहुचकर उनकी पत्नी अहल्या का उद्धार किया था । इसके अनुसार गौतम का आश्रम कही मिथिला के निकट होना चाहिए । वर्त्तमान दरभङ्गा से पूर्वोत्तर लगभग २८ मील की दूरी पर गौतम स्थान नाम से एक प्रसिद्ध स्थान है, जहां गौतम कुण्ड नामक जलाशय भी है । यहा प्रतिवर्ष चैत्र नवमी को गौतम की स्मृति में मेला भी लगता है, इन सब कारणों से गौतम का स्थान मिथिला के निकट होना चाहिए । दूसरी ओर अक्षपाद का निवास स्थान ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार प्रभासपत्तन काठियावाड़ है,[४] अतः इन दोनो की एकता के लिए कोई सभावना प्रतीत नहीं होती । हा गौतम और मेधातिथि को परस्पर अभिन्न मान लेना अधिक कठिन नही है, क्योकि मेधातिथि के सम्बन्ध में किसी प्रकार की विशेष जानकारी लोक परम्परा अथवा पुराण आदि में उपलब्ध नही । सभव है, दोनों नाम एक व्यक्ति के ही हों । महाभारत के एक प्रसङ्ग में इन दोनों को अभिन्न

---

१. (क) न्याय भाष्य पृ० २५८ (ख) न्यायवार्त्तिक
(ग) न्यायवर्त्तिका तात्पर्य (घ) न्यायमञ्जरी

२. प्रतिमानाटक

३. History of Indian Philosophy Vol. ii P. 393-94

४. ब्रह्माण्ड पुराण अ० २३.

स्वीकार भी किया गया है।[1] गौतम और अक्षपाद की समस्या का एक समाधान आचार्य विश्वेश्वर ने तर्कभाषा की भूमिका में खोजने का प्रयत्न किया है। उनका विचार है कि 'न्यायशास्त्र के क्रमिक विकास में गौतम और अक्षपाद दोनों का ही महत्वपूर्ण भाग है। प्राचीन न्याय के विकास में आध्यात्म प्रधान और तर्क प्रधान दो युग स्पष्ट प्रतीत होते हैं। इनमे आध्यात्मप्रधान युग के, जिसे दूसरे शब्दों में प्रमेय प्रधान अथवा साध्य प्रधान भी कह सकते है, निर्माता गौतम और तर्क प्रधान (प्रमाण प्रधान) युग के प्रवर्त्तक अक्षपाद हैं। यद्यपि वर्त्तमान न्याय सूत्रो मे प्रमेय के स्थान पर प्रामाण्य का ही प्राधान्य प्रतीत होता है, किन्तु वह अक्षपाद द्वारा किये गये प्रतिसंस्कार का ही फल है। इसके पूर्व गौतम का न्याय उपनिषदों के समान प्रमेय प्रधान ही था। अध्यात्मविद्यारूप उपनिषदो से न्यायविद्या को पृथक् करने के लिए ही अक्षपाद ने उसे प्रमाण प्रधान बनाया। इस प्रकार प्राचीन न्याय का निर्माण महर्षि गौतम और अक्षपाद इन दोनों के सम्मिलित प्रयास का फल हैं।' आचार्य विश्वेश्वर की उपर्युक्त कल्पना की पुष्टि के आधार संस्कृत वाङ्मय के अन्य क्षेत्रों मे उपलब्ध भी होते हैं। उदाहरणार्थ आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक के रचयिता उसके नाम से महर्षि चरक प्रतीत होते हैं। लोक प्रसिद्धि भी यही है; किन्तु चरक के प्राचीन टीकाकार दृढबल ने स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है कि इसकी रचना महर्षि अग्निवेश ने की थी, कालान्तर में उसका प्रति सस्कार महर्षि चरक ने किया था और तभी से वह ग्रन्थ चरक के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। इसी प्रकार 'गौतम प्रवर्त्तित न्यायशास्त्र का प्रतिसंस्कार अक्षपाद ने किया हो, यह कथन असंगत नही माना जा सकता। प्रतिसस्कर्त्ता होने के कारण चरक के समान अक्षपाद को कहीं कही प्रणेता कह लिया गया हो, यह अस्वाभाविक नही है।

वैशेषिक के प्रणेता के सम्बन्ध में किसी प्रकार का मत भेद नही है। परम्परा और प्रमाण दोनों के अनुमार इसका प्रणयन महर्षि कणाद ने किया है। कणाद को कभी कभी काश्यप कणभक्ष कणभुक् आदि नामों से भी स्मरण किया जाता है। इनके दर्शन का दूसरा प्रसिद्ध नाम औलूक्यदर्शन है। इस नाम की व्युत्पत्ति के आधार पर कहा जा सकता हैकि इसके रचयिता महर्षि उलूक हैं। इस प्रकार कणाद का ही एक नाम उलूक भी कहा जा सकता है।

---

१. महाभारत शान्तिपर्व २६५. ४५

न्याय और वैशेषिक सूत्रों के रचना काल का प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है। इनका समय निर्धारित करने से पहले हमें इनके सम्बन्ध में कुछ भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करना आवश्यक होगा। सामान्यतः इन दोनो दर्शनो और कतिपय सिद्धान्तो के मध्य अन्तर का अभाव मान लिया जाता है। गौतम के सूत्र न्याय दर्शन तथा कणाद के सूत्र वैशेषिक दर्शन के स्वतन्त्र वैशिष्ट्य के सभी मूलतत्व पृथक् पृथक् हैं, जिनकी उद्भावना भिन्न भिन्न समय मे हुई है।

भारत के विविध दार्शनिक पद्धतियो के काल क्रम का निर्धारण एक दुःसाहस पूर्ण कार्य है, जिसमें बहुत सफलता नही मिल सकी है। साख्य दर्शन और यदि समग्र रूप से नही तो वैशेषिकदर्शन के कतिपय सिद्धान्त संभवतः बौद्धदर्शन से पूर्ववर्त्ती है। वैशेषिकदर्शन से सांख्यदर्शन की पूर्व विद्यमानता निश्चित है, और इसके भी पर्याप्त प्रमाण हैं कि वैशेषिक दर्शन बौद्ध एव जैन दर्शनो से न केवल पूर्ववर्त्ती है, अपितु इन दोनों सम्प्रदायो ने कतिपय सिद्धान्तों के उद्भव में परोक्ष रूप से वैशेषिकदर्शन से सहायता प्राप्त की है। उदाहरण स्वरूप बौद्धदर्शन का शून्यवाद वैशेषिक सिद्धान्त असत्कार्थवाद का ही विस्तृत रूप है। इसीप्रकार वैशेषिक के पदार्थ विभाजन और आणविक सिद्धान्तों को जैन दर्शन मे स्वीकार कर लिया गया। जहां तक मीमांसा दर्शन का प्रश्न है, उनकी उद्भावना बौद्ध दर्शन के उद्भव के पश्चात् तथा न्याय और योग दर्शन से पूर्वकाल में हुई, क्योकि न तो बादरायण ने और नही जैमिनि ने ही न्याय सिद्धान्तो को कोई उल्लेख किया है। इसके विपरीत स्वय गौतम बादरायण के ऋणी है।

चूंकि मीमांसा वेदान्त तथा साख्य सूत्रों में बौद्ध दर्शन के अनेक सिद्धान्तो का उल्लेख और उनका खण्डन पाया जाता है, तथा बौद्धदर्शन का आरम्भ महात्मा बुद्ध के बाद ही हुआ है, अतः इनका निर्माण काल बुद्ध से पूर्व अर्थात् ईसा पूर्व पञ्चम अथवा चतुर्थ शताब्दी से पूर्व नहीं मान सकते। गौतम और कणाद के प्रथम सूत्र में भी वेदान्त के ज्ञान के सिद्धान्त का प्रभाव दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त इनके सूत्रो में मुख्यतः **आत्मा दुःख मोक्ष ज्ञान** तथा इसी प्रकार की अन्य समस्याओं की प्रमुखता को देख कर भी यह कहा जा सकता है कि इनकी रचना वेदान्त दर्शन के बाद हुई है। अनेक स्थानों पर तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो वेदान्त दर्शन में के कुछ प्रश्नो को उठाकर उनका समाधान ही किया गया है। उदाहरणार्थ वैशेषिक दर्शन के 'अनित्यः इति प्रतिषेधाभावः'

तथा 'अविद्या'[१] सूत्रों में वेदान्त दर्शन द्वारा परमाणुओं की नित्यता पर किये गये आक्षेपों का समाधान ही प्रतीत होता है ।[२] इसी प्रकार 'अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम्'[३] सूत्र प्रथम चार सूत्रो में किये गये वेदान्त के सिद्धान्त का समाधान कहा जा सकता है । क्योकि वेदान्त की यह मान्यता है कि आत्मा का ज्ञान श्रुति के द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त **अविद्या लिङ्ग प्रत्यगात्मा** आदि कुछ शब्द भी वैशेपिक मे वेदान्त से लिए गये प्रतीत होते है ।

यही स्थिति गौतम के सूत्रो की है। इनमे अनेक स्थलो पर वेदान्त के प्रसिद्ध सिद्धान्तो की समानता मिलती है,[४] कही कहीं भापा और उदाहरण भी वेदान्त सूत्रों से लिए हुए प्रतीत होते है।[५] इसी प्रकार गौतम के कुछ सूत्र उन्हे जैमिनि से भी परवर्त्ती सिद्ध करते है।[६] यद्यपि यह कहा जा सकता है, कि वैशेषिक और न्याय के सूत्रों में यह आदान अन्य माध्यम से भी हो सकता है, अथवा इन सूत्रो की रचना परवर्त्ती काल में हुई हो। किन्तु केवल इतनी कल्पना से ही किसी निर्णय को बदला नही जा सकता। इसके लिए तो न्याय और वैशेषिक की विचार प्रक्रिया को ही आधार बनाना होगा, और सम्पूर्ण रूप से विचार कर हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि ये दोनो दर्शन मीमासा और वेदान्त के रचना काल ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी से पूर्ववर्त्ती नहीं हो सकते। किन्तु इसके साथ ही यह भो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि न्याय और वैशेपिक दर्शनों के सिद्धान्त सांख्य और बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तो के पूर्ववत्ती हैं। उदाहरार्थ न्यायदर्शन का असत्कार्यवाद न केवल बौद्ध धर्म के उद्भव से पहले अपितु साख्यदर्शन की रचना से भी पहले विद्यमान था जिसका खण्डन सांख्यदर्शन अथवा सांख्यकारिका में सत्कार्यवाद की स्थापना के द्वारा किया गया है। बौद्धो का शून्यवाद असत्कार्यवाद का ही विकसित रूप कहा जा सकता है, किन्तु दर्शनों के रचना-काल से पूर्व उसके सिद्धान्तों का परम्परा में प्रचलन न्यायदर्शन के समान ही अन्य दर्शनो में भी रहा है, यही कारण है कि प्रत्येक दर्शन में दूसरे दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिवाद करने के लिए उनका उल्लेख प्राप्त होता है। इस

---

१. वैशेषिक सूत्र ४.१. ४-५
२. वेदान्त सूत्र २.२. १४-१५
३. वैशेषिक सूत्र ३. २.९ ।
४. न्यायसूत्र ४.१.६४
५. (क) न्यायसूत्र ३.२.१५ (ख) वेदान्तसूत्र २.१.२४
६. न्यायसूत्र २.१. ६१.६७

प्रकार किसी विशिष्टकाल में किसी विशिष्ट सिद्धान्त की विद्यमानता के आधार पर यह निर्णय कर लेना उचित न होगा कि गौतम या कणाद के सूत्र उस समयविशेष में विद्यमान थे। वैशेषिकदर्शन के अनेक आधारभूत सिद्धान्तों का अस्तित्व कणाद की कृति में नही मिलता है। उदाहरण स्वरूप पदार्थ के रूप में अभाव का तथा गुणों में अन्तिम सात गुणो का उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु यह भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सूत्रो की रचना के समय इन दोनो दर्शनो ने एक व्यवस्थितरूप अवश्य ग्रहण कर लिया था, जिनमें कभी कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। यह ठीक है कि इन दोनों दर्शनों के विकास की प्रक्रिया निर्बाध रूप से चलती रही है, परन्तु दोनों दर्शनों का ढांचा यथावत् बना रहा। इन दर्शनों की विकास की प्रक्रिया का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है—सर्वप्रथम निर्भीक विचारकों ने तत्कालीन ज्वलन्त प्रश्नो पर अपने-अपने विचार प्रगट करना आरम्भ किया। तत्पश्चात् एक गभीर ऊहापोह के उपरान्त इन विचारों ने असत्कार्य समवाय आदि के रूप में एक व्यवस्थित सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लिया। प्राचीन उपनिषदो में इन विचारों के मूल स्रोत मिलते है, जिन्हे ग्रहण कर परवर्त्ती मनीषियो ने अपने चिन्तन द्वारा उन्हे एक विचारसरणि तत्पश्चात् एक पद्धति के रूप में विकसित किया है। इस विचारसरणि और पद्धति में कोई प्रकार भेद नही, अपितु परिमाण भेद है। औडुलोमि काशकृत्स्न, बादरि आदि अनेक ऐसे लोगों ने, जिनका नामोल्लेख दार्शनिक सूत्रों में मिलता है, विचार सरणियो की स्थापना की होगी, जिनका विकास एक व्यवस्थित विचारपद्धनि के रूप में हुआ है। इन पद्धतियों की संघटना के अनन्तर प्रमाणित व्यवस्थाओं की आवश्यकता पड़ी होगी। इस आवश्यकता की पूर्ति के रूप में ही अनेक अवस्थाओं के पश्चात् गौतम और कणाद जैसे प्रखर में मेधावियों का कृतित्व आया होगा, जिनकी सत्ता आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है; अत: गौतम और कणाद के सूत्रो को तत्सम्बन्धी दर्शन के विकास की प्रक्रिया के उपक्रम की अपेक्षा उस प्रक्रिया की समाप्ति के रूप में ग्रहण करना चाहिए। यह इन दार्शनिक पद्धतियों का स्रोत नहीं, अपितु व्यवस्थित विकसित रूप है। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि स्वय उन सूत्रो की स्थापना तो नहीं, अपितु सूत्र में उनकी व्याख्या करने की प्रथा का प्रचलन बौद्ध धर्म के उद्भव के बाद हुआ हो। गौतम बुद्ध के नैतिक उपदेशो की अभिव्यक्ति सुत्त वाक्यों (सूत्रों) के रूप में हुई, जो स्मरण के लिए अधिक

सरल थे, और जिनमें लोक बुद्धि के लिए एक प्रबल आकर्षण था। संभवत: ब्राह्मणों ने अपने प्रतिद्वन्द्वी को उनके ही आयुधों से परास्त करने की कामना से अपने दार्शनिक सिद्धान्तो को बौद्धदर्शन के सूत्रो के रूप में ढाल दिया। इसी कारण उपनिषदो की शिथिल तर्कबुद्धि और काव्यात्मक कल्पना की अपेक्षा बौद्धोत्तरकालीन सूत्रो में आक्रामक स्वर और दृढ तार्किकता की प्रवृत्ति मिलती है। उस प्रारम्भिक अवस्था में नैतिकता बौद्ध धर्म की मूलनीति थी, परन्तु दर्शन उसका दुर्बल पक्ष था, चतुर ब्राह्मणों द्वारा उनके इस दुर्बल पक्ष को परास्त कर इन्हें धराशायी करने के लिए अपने दर्शन को पुष्ट एवं प्रबल बनाना स्वाभाविक ही था। जैमिनि और बादरायण के सूत्रो की रचना निश्चित रूप से इस विशिष्ट सन्दर्भ एवं दृष्टिकोण से प्रभावित है; जिनका अनुसरण अन्य अनेक परवर्त्ती विचारको ने किया है।

सूत्रों पर विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मीमांसा दर्शन के सूत्रो का संकलन सर्व प्रथम हुआ है, और उसके पश्चात् क्रम से गौतम और कणाद के सूत्रों का। जैमिनि और बादरायण का समय जो एक दूसरे को उद्धृत करते हैं, और जो संभवत: समकालीन हो सकते है, अभी तक निश्चित नही हो सका है, परन्तु इतना निश्चित है कि वे बौद्ध सम्प्रदाय से परिचित हैं, जिनके सिद्धान्तों का वे उल्लेख तथा खण्डन करते हैं; अतः मीमांसा सूत्रो की रचना ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पहले की नही हो सकती। हम उनका समय ईसा पूर्व पंचम अथवा चतुर्थ शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित कर सकते है। इस स्थिति में गौतम तथा कणाद के सूत्रो की रचना इससे परवर्त्ती काल में हुई होगी, जैसाकि ब्रह्मसूत्रों द्वारा उनकी तुलना से प्रगट हो चुका है। गौतम और कणाद दोनों अपने प्रारम्भिक सूत्रों के द्वारा ज्ञान को वेदान्त के मोक्ष साधन के रूप में स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार अपने समग्र ग्रन्थ में वे जहां कही भी आत्मा मोक्ष दु:ख ज्ञान आदि विषयों का विवेचन करते हैं, उनकी भाषा पर वेदान्त मत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अनेक बार तो शब्दावली में भी समानता मिलती है। अनेक स्थलों पर तो ब्रह्मसूत्र के सन्दर्भो को भी ढूढ लेना कठिन नही है। गौतम सूत्रों में दृष्टान्तों तथा तर्को का साम्य पूर्व पृष्ठों में उद्धृत भी किया जा चुका है। यही स्थिति मीमांसा सूत्रों की है। इन सब प्रमाणों के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गौतम और कणाद के ग्रन्थ वर्त्तमान में जिस रूप में उपलब्ध हैं, ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी से प्राचीन नही हो सकते।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में कौन एक दूसरे से प्राचीन है, यह एक जटिल प्रश्न है। इस सम्बन्ध में दोनो ओर से तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। चन्द्रकान्त तर्कालंकार ने वैशेषिक सूत्रो की भूमिका मे वैशेषिक दर्शन की प्राचीनता का समर्थन किया है। गोल्डस्टूकर इस प्रश्न पर विचार करते हुए वैशेषिक दर्शन को न्याय दर्शन की केवल एक शाखा मानते है, जबकि वेबरने इस प्रश्न को उठाकर भी किसी निर्णय को स्वीकार नहीं किया है। यदि हम वैशेषिक दर्शन और वैशेषिक सूत्रो को अलग अलग करके देखे तो इस प्रश्न की जटिलता कुछ कम हो सकती है। जैसीकि तर्कालंकार की धारणा है, इस विश्वास के पर्याप्त आधार हैं कि वैशेषिक दर्शन गौतम का पूर्ववर्त्ती है, यद्यपि कणाद के सूत्र अथवा उसके अधिकाश सूत्र उससे परवर्त्ती काल के हैं। इस तथ्य मे कि बादरायण के ब्रह्मसूत्रों में वैशेषिक सिद्धान्तो की झलक मिलती है, जबकि गौतम के न्याय दर्शन का कोई उल्लेख नही मिलता है, यह प्रगट होता है कि वैशेषिक दर्शन न केवल गौतम से पहले अपितु ब्रह्म सूत्रो की रचना से भी पहले प्रकाश में आ गया था। वात्स्यायन के इस कथन से कि गौतम की रचना के अनुल्लिखित अंशो की पूर्त्ति सजातीय वैशेषिकदर्शन से होती है, गौतम से पहले वैशेषिक दर्शन की पूर्व विद्यमानता का अनुमान लगाना स्वाभाविक है। इस अनुमान को इस तथ्य से और अधिक बल मिलता है कि कणाद द्वारा उपेक्षित अनुमान हेत्वाभास शब्द की नित्यता आदि कतिपय विषयो की गौतम ने विस्तृत विवेचना की है। इन सब तर्कों से गौतम की रचना से पहले कणाद के सूत्रों की भी पूर्व विद्यमानता सिद्ध होती है, और संभवत: गौतम वैशेषिक सूत्रों से परिचित थे, परन्तु हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कणाद के सूत्रों के वर्त्तमान संग्रह में अनेक सूत्रों पर गौतम की रचना की स्पष्ट छाया मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कणाद के सूत्रों का सकलन यदि समग्र रूप से नहीं, तो कम से कम कतिपय सूत्रों की रचना गौतम की कृति के प्रकाश के पश्चात् हुई, और इसके अधिकाश सूत्र आज अपने परिवर्त्तित रूप मे मिलते है, अथवा बाद में जोड़े हुए रूप में। भारतीय साहित्य की पुरातन कृतियो मे प्रक्षिप्त अशो की यह प्रवृत्ति कोई असामान्य प्रश्न नहीं है।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, वैशेषिक सूत्रो का वर्त्तमान रूप ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी के बाद का है, और गौतम सूत्रो के वात्स्यायन भाष्य मे

इसके उल्लेख के आधार पर ईसवी सन् की पांचवीं शताब्दी से पूर्व इसकी विद्यमानता सिद्ध होती है। वैशेषिक सूत्रों की रचना काल के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ अधिक कह सकना सभव नही है। सौभाग्य से गौतम के सूत्रों के सम्बन्ध में कुछ अधिक निश्चित रूप से कहा जा सकता है। क्योकि गौतम द्वारा उल्लिखित कतिपय बौद्ध सिद्धान्तो द्वारा यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ये सूत्र बौद्धदर्शन के उद्भव के पश्चात् की कृति है। यह भी स्पष्ट है कि ये बादरायण के ब्रह्मसूत्रो के रचना काल ईसा पूर्व पञ्चम शताब्दी के उत्तरार्ध से परवर्त्ती हैं, क्योकि ब्रह्मसूत्रों में वैशेषिक के सिद्धान्तों के खण्डन के संदर्भ में उसके सजातीय न्यायदर्शन का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

गोल्ड्स्ट्कर के अनुसार कात्यायन और पतञ्जलि न्याय सूत्रों से परिचित थे। पतञ्जलि के महाभाष्य की रचना का समय लगभग १४० ईसा पूर्व माना जाता है, परन्तु कात्यायन के काल के सम्बन्ध में कुछ निश्चित कह सकना संभव नही है। कथासरित्सागर की एक कहानी के अनुसार कात्यायन उमावर्मा के शिष्य तथा राजानन्द के एक मन्त्री थे, जिसने ईसा पूर्व ३५ के लगभग शासन किया था। गोल्ड्स्कर इस कहानी को प्रामाणिक नहीं माते, परन्तु यदि इस कहानी का कोई आधार हो तो न्याय सूत्रों को २५३ ईसा पूर्व से भी पूर्व रखना होगा अधिकांश विद्वानों का विचार है कि कात्यायन को ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी का मानना चाहिए; अत: गौतम को इस काल से भी पूर्व रखना होगा। इस निर्णय की पुष्टि एक अन्य तथ्य से भी होती है। जैमिनि सूत्रों के व्याख्याकार शबर स्वामी ने भगवान् उपवर्ष नामक एक पुरातन लेखक को अनेक बार उद्धृत किया है, जो निश्चित रूप से उनसे बहुत पहले हुए होंगे। उपवर्ष के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने मीमांसा और वेदान्त दोनों पर ही टीकाएं लिखी थीं; यदि इन्हे कात्यायन के गुरु के रूप स्वीकार कर लिया जाए, तो उनका काल ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। शबर स्वामी द्वारा उपवर्ष की टीका से उद्धृत अंश से यह प्रगट होता है कि वे गौतम के न्याय दर्शन से पूर्ण परिचित थे, और उसे अधिकांशत: स्वीकार करते थे; अतः यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि गौतम के सूत्रों की रचना ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में हुई है।

उपर्युक्त निर्णय के समर्थन में एक अन्य प्रमाण भी है, वह यह कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र में दो स्थानो पर न्याय एवं न्यायवित् शब्दों का

प्रयोग किया गया है। किन्तु वहां प्रसंग को देखकर यह पता चलता है कि इन शब्दों का प्रयोग गौतम के दर्शन के सन्दर्भ में न होकर पूर्व मीमांसा के सन्दर्भ में हुआ है। प्राचीन ग्रन्थो में मीमांसा के सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग कोई असामान्य बात नहीं है। जैमिनीय न्यायमाला • आदि मीमासा ग्रन्थों के नाम इसके साक्षी हैं, और इसीलिए आपस्तम्ब न्याय शब्द का प्रयोग जैमिनीय दर्शन के संदर्भ में करते हैं, परवर्त्ती काल मे इस शब्द पर एकाधिकार गौतम और उनके अनुयायियों का हो गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस समय तक गौतम का दर्शन या तो अज्ञात था अथवा इतना नवीन था कि उसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त न हो सकी थी। ब्यूल्हर के अनुसार आपस्तम्ब का समय ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी अथवा उससे १५०-२०० वर्ष पूर्व भी हो सकता है, परन्तु मीमांसा और वेदान्तदर्शन से उनकी अभिज्ञता से यह स्पष्ट है कि वे ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी से बहुत पहले नहीं हुए होगे। इससे सिद्ध होता है कि गौतम के सूत्रों का रचना काल या तो ईसा पूर्व पचम शताब्दी का अन्तिम भाग अथवा चतुर्थ का प्रारम्भ होना चाहिए।

यहां यह कहना अनावश्यक होगा कि धर्मसूत्र के लेखक से न्यायदर्शन के प्रणेता गौतम नितान्त भिन्न हैं, अथवा रामायण और महाभारत मे अहल्या के पति के रूप मे उल्लिखित गौतम से इनका कोई सम्बन्ध है। इनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नही है। इनके नाम के सम्बन्ध मे भी निश्चित रूप से कह सकना सम्भव नही है कि गौतम है अथवा गोतम; किन्तु इसमे थोड़ा भी सन्देह नही है कि इसके लेखक महान् मौलिक प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति है; जिन्होंने न्यायशास्त्र को सर्व प्रथम एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया है। फिर भी हम इन्हें न्यायशास्त्र के सस्थापक के रूप मे स्वीकार नही कर सकते।

गौतम निश्चित रूप से न्यायशास्त्र के प्रवर्त्तक नही थे, यह इसी से सिद्ध हो जाता है, कि उन्होने न्यायशास्त्र का पूर्ण विकसित एवं व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया है, जिसके लिए उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती विचारकों के सिद्धान्तों से अवश्य सहायता ली होगी। यह केवल अनुमान नहीं है, गौतम सूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन स्वयं बताते हैं कि नैयायिकों का एक ऐसा वर्ग था जो

दशावयव का समर्थक था, जिसे घटाकर गौतम ने पंचावयव कर दिया।[1] कतिपय वाह्यसाक्ष्यों से इसकी और भी पुष्टि होती है, जैसी कि पहले चर्चा हो चुकी है आपस्तम्ब धर्मसूत्र में न्याय का शब्द प्रयोग दो स्थानों पर पूर्व मीमांसा के सम्बन्ध में किया गया है। इसी प्रकार अनेक प्राचीन स्मृतियों एव कुछ नवीन ग्रन्थों में इस शब्द अथवा उसके तद्भव रूप का प्रयोग जैमिनि के साथ किया गया है। माधवाचार्य जैसे अत्याधुनिक लेखक ने जैमिनि ग्रन्थ के अपने सारसंग्रह को न्यायमाला विस्तर की संज्ञा दी है, जबकि अन्य अनेक मीमांसा ग्रन्थों में न्याय एक उपशीर्षक है। यहां तक कि पाणिनि भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में यह विचित्र संयोग है कि सामान्यत: मीमांसको द्वारा प्रयुक्त यह शब्द गौतम द्वारा प्रवर्त्तित अथवा व्यवस्थापित सर्वथा भिन्न तथा प्रतिद्वन्द्वी विचारसरणि का प्रतीक बन गया। प्राय: यह देखा जाता है कि एक नव उद्भूत विचारसरणि पूर्ववर्त्ती सरणि से अपनी पृथक् सत्ता सिद्ध करने के लिए अपनी निजी शब्दावली की सवटना करती है, किन्तु यहां गौतम के अनुयायियो ने एक प्राचीन प्रचलित शब्द को ग्रहण कर उसे इस रूप में सर्वतोभावेन आत्मसात् कर लिया कि वह शब्द उनकी निजी सम्पत्ति बन गया। इसका यही समाधान हो सकता है कि न्यायशास्त्र, उत्तर काल में जिसका विकास पृथक् दर्शन के रूप मे हुआ, मूलत: पूर्वमीमांसा का शिशु है।

भारत में समस्त पुरातन शास्त्रों का उदय यज्ञो की आवश्यकतानुसार हुआ, अत: यह असम्भव नहीं है कि इन महत्वपूर्ण यज्ञों की किसी आवश्यक पृष्ठ भूमि के प्रसंग में तर्क पद्धति का उदय हुआ हो। न्यायशास्त्र इस प्रकार आवश्यकताओं की द्विमुखी प्रवृत्ति थी—प्रथम तो वैदिक वाक्यों की शुद्ध व्याख्या करना और दूसरे यज्ञों के अवसरो पर दार्शनिक चर्चाओं के मध्य अपने मत को सफलता के साथ स्थापित करना। ब्राह्मणों का एक प्रमुख कर्त्तव्य था यज्ञावधि में उत्पन्न होने वाले विवादों का निर्णय करना, यह तभी संभव हो सकता था जब वे प्रखर तर्क बुद्धि से सम्पन्न हो; इस प्रकार के निर्णय प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं, जिनका संकलन जैमिनि के पूर्व मीमांसा सूत्रों में हुआ है। इन दार्शनिक गवेषणाओं का संग्रह विभिन्न

---

१. न्यायभाष्य पृ० २६

उपनिषदों में हुआ, जिससे उत्तरमीमांसा की उद्भावना हुई। जैमिनि ने श्रुति-भाष्य की ऐसी विधियों की स्थापना की जो गौतम के न्याय सिद्धान्तों के प्रत्यक्ष उद्भावक प्रतीत होते हैं, अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि सर्वप्रथम मीमांसकों ने ही वैदिक व्याख्याओं की आवश्यकता के प्रसंग में तर्क सिद्धान्तो का विकास किया और उन्हे न्याय संज्ञा प्रदान की अतः जब मनु और आपस्तम्ब तर्क अथवा न्याय शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमें इन शब्दों को वैदिक व्याख्या के ही सन्दर्भ में ही ग्रहण करना चाहिए। बाद में इन सिद्धान्तों की उपयोगिता के कारण उनका प्रयोग वैदिकेतर उद्देश्यों के लिए भी किया जाने लगा। इस प्रकार पूर्वमीमासा के व्याख्या सिद्धान्तों के इस अन्वेक्षण ने एक ऐसे शास्त्र को उत्पन्न किया, जिसे सर्वप्रथम आन्वीक्षिकी सज्ञा प्रदान की गयी। सभवतः इस अन्वीक्षिकी शास्त्र ने ही आधुनिक न्याय उपाधि ग्रहण कर ली, जब गौतम ने उसका दार्शनिक संस्कार किया। यदि यह कल्पना सत्य हो तो हम न्यायदर्शन में गौतम के योगदान की एक स्पष्ट धारणा का निर्माण कर सकते हैं, और उनका योगदान निश्चित रूप से स्तुत्य है। गौतम ने आन्वीक्षिकी शास्त्र के प्रायोगिक सिद्धान्तो से ही एक ऐसी दार्शनिक पद्धति का विकास किया, जो शीघ्र ही उत्तरमीमासा का प्रतिद्वन्द्वी बन गया। इस सम्बन्ध मे गौतम की तुलना अरस्तू और काण्ट से को जा सकती है, यद्यपि प्रभाव की दृष्टि से वे गौतम के सम्मुख टिक नही पाते।

भाष्य युग का प्रारम्भ पक्षिल स्वामी के रूप में प्रसिद्ध वात्स्यायन से प्रारम्भ होता है। हेमचन्द्र के अनुसार ये वात्स्यायन अर्थशास्त्र के प्रणेता चणक के पुत्र कौटिल्य (चाणक्य) से अभिन्न हैं, तथा ये द्राविड़ देश के रहने वाले थे, जिसकी राजधानी काञ्जीवरम् थी।[1] परन्तु सतीशचन्द्र विद्याभूषण वात्स्यायन और चाणक्य को अभिन्न मानने को प्रस्तुत नहीं है।

प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग (५०० वि०) ने 'प्रमाण समुच्चय' नामक ग्रन्थ में वात्स्यायन भाष्य के अनेक अंशों की आलोचना की है, अतः वात्स्यायन का समय दिङ्नाग के समय अर्थात् विक्रमपूर्व पांचवी शताब्दी से पूर्व होना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु ने, जिनका समय सवत् ४८० वि० है, वात्स्यायन से भिन्न रूप से अनुमान की प्रणाली और अवयवो का निरूपण किया है। सुबन्धु यदि वात्स्यायन से पूर्व-

---

१. अभिधान चिन्तामणि

वर्त्ती होते तो वात्स्यायन अपने न्यायभाष्य मे अन्य पूर्ववत्तियों के समान सुबन्धु की भी आलोचना अवश्य करते। चू कि न्यायभाष्य मे सुबन्धु के मत का कही उल्लेख भी नही है, अतः वात्स्यायन को सुबन्धु से पूर्ववर्त्ती होना चाहिए। साथ ही (प्रक्षिप्त) न्याय सूत्रो पर भी वात्स्यायन का भाष्य विद्यमान है, जिनमे माध्यमिक सूत्रों तथा लकावतार सूत्रो पर आधारित बौद्ध सिद्धान्तो का खण्डन किया गया है, इन बौद्ध सूत्रो की रचना प्रथम शताब्दी के बाद हुई है, अत. इनके लगभग दो सौ वर्ष बाद अर्थात् चतुर्थ शताब्दी मे वात्स्यायन का समय होना चाहिए। गौतम सूत्रों के प्रथम भाष्यकार वात्स्यायन है, यह कहना भी कठिन है। क्योंकि वात्स्यायन द्वारा न्यायसूत्र १.१.५ की वैकल्पिक व्यवस्था से यह प्रगट होता है कि उस समय तक परम्परागत अर्थ-क्षीण होने लगे थे, और उनके पूर्ववर्त्ती अनेक लेखको ने सूत्रो की नवीन व्यवस्था प्रस्तुत की थी। गौतम और वात्स्यायन के बीच एक दीर्घकाल का अन्तर मिलता है। इस बीच सभव है, कुछ उल्लेखनीय लेखक हुए हो, परन्तु उनका कोई अवशेष नही मिलता। इसका कारण स्कीथियनो का आक्रमण हो सकता है, जिन्होने ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर चतुर्थ शताब्दी तक के समस्त साहित्यिक सामग्री को पूर्णतः नष्ट कर दिया, अथवा किसी अज्ञात कारण ने देश की दार्शनिक गतिविधियो को पूर्णतः अवरुद्ध कर दिया हो।

वार्तिककार उद्योतकर :—

समय और महत्व दोनों दृष्टि से वात्स्यायन के बाद दूसरा स्थान वार्त्तिककार उद्योतकर का है। इन्होंने न्यायसिद्धान्तो पर दिङ्नाग (छठी शताब्दी) और नागार्जुन द्वारा किये हुए आक्षेपो का उत्तर देकर उनकी रक्षा की है। महाकवि सुबन्धु (सातवी शताब्दी) ने न्याय के प्रतिसस्थापक के रूप में उद्योतकर को स्मरण किया है।[1] अतः इन्हे दिङ्नाग और सुबन्धु के मध्य अर्थात् षष्ठ शताब्दी के अन्त अथवा सप्तम शताब्दी का आदिकाल होना चाहिए। इसके अतिरिक्त जैन श्लोकवार्त्तिक के अनुसार उद्योतकर के तर्कों का उत्तर देने का कार्य धर्मकीर्त्ति ने किया है, तथा धर्म-कीर्त्ति का जीवनकाल सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है, अतः उद्योतकर को निश्चित रूप से धर्मकीर्ति से पूर्व अर्थात् षष्ठ शताब्दी का उत्तरार्ध होना चाहिए।

---

१. वासवदत्ता

उद्योतकर के पश्चात् न्यायदर्शन के विकासक्रम में १०वीं शताब्दी तक एक दूसरा दीर्घ अन्तराय मिलता है, जबकि न्यायकन्दली के लेखक के प्रभाव स्वरूप एक पुनर्जागरण का काल आता है। न्यायकन्दली प्रशस्तपादभाष्य की सर्वप्रथम ज्ञात टीका है, इसके अतिरिक्त श्रीधर ने तीन अन्य ग्रन्थों—अद्वैत सिद्धि, तत्वबोध तथा तत्वसंवादिनी की रचना की। उद्योतकर और श्रीधर के बीच किसी प्रमुख न्याय अथवा वैशेषिक लेखक के न होने से ऐसी संभावना उत्पन्न होती है कि इस दीर्घ अन्तराल में न्यायशास्त्र की परम्परा भंग हो गयी थी। इस अन्तराल को समझने मे यह सोचकर और भी कठिनाई होती है कि यह युग मीमासकों वेदान्तियों बौद्धों तथा जैनियो से परिपूर्ण था। गौतम तथा कणाद के अनुयायियों ने इन गतिविधियों से अपने को असपृक्त रखा यह विचित्र बात है। उन्होने वात्स्यायन और उद्योतकर के ग्रन्थों को जीवित रखा, परन्तु धर्मकीर्ति के प्रबल आक्षेपों का उत्तर देने का साहस किसी न्याय अथवा वैशेपिक लेखक ने नही किया। यह कार्य कुमारिल शकराचार्य और मडनमिश्र जैसे मीमांसकों अथवा वेदान्तियों को करना पड़ा। मण्डनमिश्र के आक्रमणों के विरुद्ध धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति की रक्षा की, और इसके अनन्तर पुनः एक नैयायिक आचार्य श्रीधर को हम धर्मोत्तर को उत्तर देते हुए पाते हैं। इस प्रकार इस अवान्तर काल में यद्यपि न्याय और वैशेषिक दर्शन के प्रवक्ताओं का अभाव खटकता है, तथापि उनके सिद्धात उस काल में भी नितान्त उपेक्षणीय नही थे। मीमांसक वेदान्ती बौद्ध तथा जैन आचार्यो की दार्शनिक गति विधियो में न्याय और वैशेषिक सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता।

उद्योतकर से लेकर १०वी शताब्दी पर्यन्त अन्तराल के अनन्तर न्याय और वैशेषिक के लेखकों का इतना आधिक्य मिलता है कि अवान्तर कालीन निष्क्रियता की क्षति पूर्ति निस्संदिग्ध रूप से हो जाती है। इस उत्तरकाल की महत्वपूर्ण उपलब्धि है, प्रशस्तपाद और वात्स्यायन की वृत्तियों पर क्रम बद्ध कारिका ग्रन्थों की रचना। इस युग में सूक्ष्म और पाण्डित्य की तुलना में वैचारिक निर्भीकता और मौलिकता का संकलन मिलता है। विषय सीमित है, परन्तु उनकी व्याख्या पूर्ण सूक्ष्मता से की गयी है। स्पष्टतः इसे पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति कहा जा सकता है। इस युग को हम संक्रमण काल कह सकते हैं, जिसके अन्तर्गत भारत की मध्ययुगीन सूक्ष्म दार्शनिकता ने आधुनिक

शब्द पाण्डित्य का रूप ग्रहण कर लिया है। यह एक विचित्र संयोग है कि यह युग मध्ययुगीन यूरोप के पाण्डित्य प्रवृत्ति के विकास के लगभग समकालीन है।

इस पुनर्जागरण काल के प्रथम लेखक हैं श्रीधर, जिन्होंने न्यायकन्दली की रचना ९९१ ई० में की। इन को एक ओर कुमारिल तथा मण्डनमिश्र और दूसरी ओर आचार्य धर्मोत्तर के तर्कों का उत्तर देने के लिए बहुत श्रम करना पड़ा। न्यायकन्दली एक जैन टीकाकार राजशेखर श्रीधरके अतिरिक्त प्रशस्तपाद भाष्य पर तीन अन्य टीकाओं, शिवाचार्य की व्योमवती, उदयन की किरणावली तथा श्रीवत्स की (जिनका दूसरा नाम वल्लभ था) लीलावती का उल्लेख करते हैं। इन सब की रचना श्रीधर के पश्चात् परन्तु १३ वीं शताब्दी के अन्त से पहले हुई थी। ये सभी प्रख्यात विद्वान् और आचार्य के रूप मे प्रतिष्ठित थे, और सभी प्राचीन विषयो पर अपनी मौलिकता पूर्ण व्याख्याओं के लिए प्रसिद्ध हैं। शिवादित्य कृत केवल सप्तपदार्थी प्राप्त है, उनकी प्रशस्तपाद टीका उपलब्ध नही है, परन्तु उत्तर कालीन रचनाओं मे उनकी मान्यताओं का प्रायः उल्लेख मिलता है। उदयन की किरणावली सभवतः अपूर्ण रह गयी थी, क्योंकि प्राय. सभी उपलब्ध पाण्डुलिपियो मे केवल द्रव्य और गुण अध्याय ही मिलते है।

श्रीधर के पश्चात् ११ वी शताब्दी मे वाचस्पतिमिश्र हुए, जिन्होंने समस्त प्रमुख दर्शनों पर टीकाओं की रचना की और अपनी प्रतिभा के कारण परवर्त्ती काल में सर्वाधिक श्रद्धास्पद बन गये। इन्होंने वेदान्त पर भामती साख्यकारिका पर तत्वकौमुदी, और उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक पर तात्पर्य नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका की रचना की। इनकी तात्पर्यटीका पर बाद में उदयन ने तात्पर्यपरिशुद्धि नाम से टीका लिखी। किरणावली तथा तात्पर्य-परिशुद्धि के लेखक उदयनाचार्य वाचस्पति मिश्र के कुछ पश्चात् हुए। उनका जीवन काल १२ शताब्दी का अन्त निर्धारित किया जा सकता है।

उदयन इस युग के सब से महान नैयायिक है। इनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। ये एक ओर प्रकाण्ड न्याय वेत्ता और दूसरी ओर धार्मिक पुनरुद्धारक थे। इन्होंने कुसुमाञ्जलि और बौद्धधिक्कार ग्रन्थो के द्वारा नास्तिकों द्वारा उठाई हुई आपत्तियों का उत्तर देते हुए अपनी प्रबल युक्तियों द्वारा ब्रह्म की सत्ता स्थापित की थी। यदि भारत में बौद्धों के पूर्ण विनाश का मोनियर

विलियम द्वारा निर्धारित १३ वी शताब्दी का आरम्भिक काल सत्य मान लिया जाए तो बौद्धों पर अन्तिम प्रहार करने में उदयन का प्रमुख हाथ मानना होगा। न्याय और वैशेषिक को एक पूर्ण इकाई के रूप में एकीकृत करने में भी परम्परा से उदयन की प्रसिद्धि है। यद्यपि उदयन के ग्रन्थों से इस तथ्य का समर्थन नही होता, किन्तु उसमें इस आशय के सकेत अवश्य मिलते हैं, जिसने परवर्त्ती लेखकों को इस दिशा में प्रेरित किया। जहां तक बल्लभाचार्य के जीवनकाल का प्रश्न है, इसके सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता है, परन्तु वे उदयन के नही तो सप्तपदार्थी के लेखक शिवादित्य के पूर्ववर्त्ती अवश्य प्रतीत होते है। इस अनुमान की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि देवगिरि के यदुवंशी राजा सिङ्घरण की, जिन्होंने १२१० से १२४७ तक राज्य किया, स्तुति मे उनके समकालीन कवि द्वारा रचित दर्शनसार नामक काव्य मे न्यायलीलावती का उल्लेख मिलता है। दर्शनसार में उदयन आदि कुछ अन्य लेखकों का भी उल्लेख किया गया है। यहां यह बताना अनावश्यक ही होगा कि न्यायलीलावती के लेखक बल्लभ १५ वी शताब्दी के महान् वैष्णव आचार्य बल्लभ से नितान्त भिन्न हैं।

न्यायदर्शन की विकास परम्परा के द्वितीय काल के अन्तर्गत वरदराज तथा मल्लिनाथ आदि अपेक्षाकृत कुछ कम महत्वपूर्ण लेखकों के नाम आते हैं, जिनका अनुगामी साहित्य पर कोई प्रभाव दृष्टि गोचर नहीं होता। इस काल का अन्त चौदहवी शताब्दी के आरम्भ में होता है। इस काल का प्रारम्भ और अन्त महान गति विधियों का समय रहा है। इस काल में भले ही महत्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना नही हुई, किन्तु इसी काल में सूक्ष्म मतवैभिन्न्य के चिन्तनानुचिन्तन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप न्याय और वैशेषिक दर्शनों के समन्वय की भावना का भी उदय हुआ। इसकाल के अन्तर्गत प्रायः सभी प्रमुख सिद्धान्तो का पूर्ण विकास हुआ, जिसके आधार पर तृतीयकाल के लेखको ने कोई वास्तविक प्रगति किए बिना ही सूक्ष्म पाण्डित्य का प्रदर्शन किया। इसकाल में उदयन तथा शिवादित्य के अतिरिक्त ऐसे लेखकों का अभाव ही मिलता है, जिन्हें आचार्य की सज्ञा दी जा सके, और जिन्होंने अपनी मौलिकता से किसी युग प्रवर्तक ग्रन्थ का निर्माण किया किया हो। इस काल में दर्शन की मौलिकता नवीनता और आकर्षणशक्ति का निरन्तर ह्रास होता गया और उसका स्थान तर्क वितको की अनन्त शृंखलाओं ने ले लिया।

चौदहवीं शताब्दी के अन्त के साथ न्यायशास्त्र के तीसरे काल का आरम्भ होता है, तत्वचिन्तामणि के लेखक इसके अधिष्ठाता कहे जाते है। उन्होने प्राचीन न्याय की धारा को हटा कर नव्यन्याय की स्थापना की; जो बाद में बगाल के नदिया अथवा नवद्वीप प्रदेश मे विकसित होने के कारण नवद्वीप शाखा अथवा नदिया शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस शाखा के लेखकों की प्रमुख विशेषताए है: उनकी अहम्मन्यता आलोचनात्मक क्षमता का असाधारण विकास और परम्परागत सिद्धान्तों की सकीर्णता को न छोड़ने का पूर्ण आग्रह। इसकाल के अन्तर्गत सूत्रों और उनके भाष्यों का तिरोभाव हो गया, और गगेश के ग्रन्थों पर ही इतना प्रचुर साहित्य लिखा गया कि ससार के किसी भी देश अथवा काल में इसका कोई उदाहरण नही मिल सकता। यहा पाण्डित्य प्रदर्शन की पराकाष्ठा मिलती है, और यथार्थ दार्शनिकता का पूर्ण अभाव। यद्यपि इस प्रवृत्ति के अपवादों का सर्वथा अभाव नही है। इस युग के प्रारम्भिक लेखको मे स्फूर्तिदायक विचार स्वातन्त्र्य की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के लेखको में गगेशोपाध्याय का नाम सर्वप्रमुख है, जिन्होने नव्य शाखा की स्थापना की। नव्यन्याय की इस पद्धति में सूत्र पद्धति की पूर्णत: उपेक्षा कर लक्ष्यानुसारिणी नवीन पद्धति को अपनाया गया। इसके साथ ही इस पद्धति में प्राचीन काल से स्वीकृत षोडश पदार्थों का महत्व अत्यन्त कम हो गया। गौतम ने जिन जाति और निग्रहस्थानो के वर्णन में सम्पूर्ण पांचवा अध्याय लिख डाला था, नव्यन्याय में उनका केवल नाम ही शेष रह गया। इस के स्थान पर नव्यन्याय में पञ्चावयव वाक्य के अवयवों पर बहुत विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया। नव्यन्याय की तीसरी विशेपता है प्रकरण ग्रन्थ, जिनमें शास्त्र के एक अश का, तथा आवश्यकतानुसार अन्य शास्त्र के भी उपयोगी अंश का प्रतिपादन किया जाता है।

नव्यन्याय के प्रवर्त्तक गंगेशोपाध्याय के जीवन काल के सम्बन्ध कुछ निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, संभवत: वे चौदहवी शताब्दी के अन्त में रहे होंगे। उन्होंने अपने ग्रन्थो में वाचस्पतिमिश्र को उद्धृत किया है, और उनके पुत्र वर्धमान ने उदयन की किरणावली तथा बल्लभ की न्यायलीलावती पर व्याख्या ग्रन्थों की रचना की है, अत: गंगेश निश्चित रूप से बारहवी शताब्दी के बाद रहे होंगे। गंगेश के पश्चात् दो उल्लेखनीय लेखक जयदेव तथा वासुदेव हुए। बर्नेल के अनुसार पक्षधरमिश्र के रूप में प्रसिद्ध जयदेव ने

गंगेश की तत्वचिन्तामणि पर मण्यालोक नामक टीका लिखी, ये जयदेव ही प्रसन्न राघव के भी रचयिता हैं, किन्तु गीतगोविन्दकार जयदेव इनसे भिन्न है। जयदेव के सहशिष्य तथा तत्वचिन्तामणि के टीकाकार वासुदेव सार्वभौम के चार शिष्यो में से प्रथम चैतन्य के रूप में प्रसिद्ध बगाल के धर्म सुधारक गौराङ्ग का जन्म १४४५ ईसवी के लगभग हुआ था, अतः सार्वभौम और जयदेव निश्चित रूप से १५ वी शताब्दी के उत्तरार्ध में रहे होगे, और गगेश कम से कम एक या दो पीढी पहले। जयदेव के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि उन्होंने अपने पितृव्य से तत्वचिन्तामणि का अध्ययन किया था; इससे प्रकट होता है कि गगेश की इस कृति को प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप मे मान्यता १४ वी शताब्दी के प्रथम उत्तरार्ध में प्राप्त हो चुकी थी, अतः गगेश को १४ वी शताब्दी के उत्तरार्ध तक रखना अनुचित न होगा।

वासुदेव सार्वभौम निश्चित रूप से एक उल्लेखनीय व्यक्ति रहे होंगे, क्योकि उनके सभी शिष्यों ने विविध क्षेत्रो में अपनी विशिष्टता का परिचय दिया हे। उनमें से चैतन्य ने एक वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की, जो शीघ्र ही सारे बगाल मे छा गया और वहां के धार्मिक जीवन मे एक क्रान्ति मचादी। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि आज के आस्थावादी सिद्धान्त के सर्वश्रेष्ठ भाष्यकार ने अपना प्रारम्भिक प्रशिक्षण न्यायदर्शन से प्राप्त किया। चैतन्य का भक्त मस्तिष्क निश्चित रूप से गगेश के सूक्ष्म पाडित्य से टकराया होगा, परन्तु उन्हे चैतन्य के दृष्टिकोण को प्रभावित करने में सफलता नही मिली होगी। तर्कशिरोमणि अथवा केवल शिरोमणि के रूप मे प्रसिद्ध वासुदेव के द्वितीय शिष्य रघुनाथ ने गगेश के तत्वचिन्तामणि ग्रन्थ पर दीधिति नामक सर्वश्रेष्ठ टीकाग्रन्थ की रचना की जो नव्यनैयायिको के मध्य सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। उनके तीसरे शिष्य रघुनन्दन अपने समय के सर्वश्रेष्ठ विधिवेत्ता हुए, उन्होंने जीमूतवाहन कृत 'दायविभाग' नामक ग्रन्थ पर टीका की रचना की, जिसे आज भी बंगाल में सर्वश्रेष्ठ विधिग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है। उनके चतुर्थ शिष्य कृष्णानन्द ने तन्त्रमन्त्र तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों पर कतिपय ग्रन्थो की रचना की। चैतन्य के समकालीन ये सभी लेखक अवश्य ही सोलहवी शताब्दी के आस पास रहे होगे। रघुनाथ शिरोमणि ने दीधिति के अतिरिक्त उदयन के ग्रन्थो पर कुछ अन्य टीकाएं भी लिखी, उनमें से एक पदार्थखण्डन है, जिसमें वैशेषिक दर्शन के पदार्थ विभाजन पर आक्षेप किया गया है। उनके पश्चात् अन्य अनेक टीकाकार

हुए जिनका एक मात्र उद्देश्य दीधिति को अधिकाधिक जटिल और दुर्बोध बनाना प्रतीत होता है। रघुनाथ के निकट परवर्त्ती मथुरानाथ हरिराम तर्कालङ्कार और जगदीश थे। इनके पश्चात् इनके शिष्य रघुदेव और गदाधर हुए। गदाधर को हम भारतीय नैयायिकों का सम्राट् कह सकते हैं, जिन्होने अपने प्रखर पाण्डित्य से नव्य न्याय को उसकी चरम सीमा पर पहुँचा दिया। गदाधर इतने महान् और निष्ठावान् नैयायिक थे कि वे जब मृत्यु शय्या पड़े थे, उनसे विश्व के आदि कारण ब्रह्म का ध्यान करने के लिए कहा गया तो वे ब्रह्म के स्थान पर 'पीलवः' शब्द का उच्चारण करने लगे। इन्होने गगेश के तत्वचिन्तामणि, शिरोमणि के दीधिति और जयदेव के आलोक आदि अनेक ग्रन्थों पर लगभग ६४ पाण्डित्यपूर्ण टीका ग्रन्थों की रचना की। परन्तु उनमे से अधिकाश ग्रन्थ अप्राप्य है। गदाधर का जीवनकाल रघुनाथ की दो पीढ़ी बाद १६ वीं शताब्दी का अन्त अथवा सत्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ निर्धारित किया जा सकता है। मुगल शासक अकबर के शासन काल मे गादाधर ऐसे विद्वानों को अनुकूल वातावरण मिला; परन्तु अकबर की मृत्यु ने साहित्यक पुनर्जागरण के सभी रूपों को पूर्णतः नष्ट कर दिया, तथा दो सौ वर्षों की संघर्ष तथा अराजकतापूर्ण स्थिति ने दार्शनिक गति विधियो के लिए कोई अनुकूल वातावरण नही प्रदान किया। यही कारण है कि गदाधर के पश्चात् न्यायदर्शन के विकास की प्रगति अवरुद्ध हो गयी।

गदाधर की अनुगामी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व शंकरमिश्र और विश्वनाथ करते हैं, शंकरमिश्र ने कणादसूत्रों पर उपस्कार टीका तथा कणादरहस्य एव विश्वनाथ ने गौतमसूत्रो पर वृत्ति और सिद्धान्त मुक्तावली ग्रन्थो की रचना की। शकरमिश्र गदाधर के सहपाठी और रघुदेव के शिष्य थे। विश्वनाथ के जीवन काल के सम्बन्ध मे कुछ सन्देह है, परन्तु संभवतः वे इसी काल के अन्तर्गत रहे होंगे।

यह उल्लेखनीय है कि कणाद और गौतम के सूत्रो ने एक ही समय फिर से टीकाकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। शंकरमिश्र और विश्वनाथ में, जिन्होंने क्रमशः कणाद और गौतम के सूत्रों की टीका की, बहुत सामानता मिलती है, और ये दोनो संभवतः समकालीन थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गदाधर की अतिवादिता की प्रतिक्रिया ने इन लेखको को सूत्रों पर नये ढंग से टीका करने के लिए प्रेरित किया। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि न्याय

दर्शन के सिद्धान्तों का यथा संभव सरल भाषा में लोगों को प्रारम्भिक ज्ञान कराने के लिए गुच्छों की रचना की गयी। इस प्रकार के गुच्छों के उदाहरण भाषापरिच्छेद तर्कसंग्रह और तर्कामृत आदि हैं। इससे न्यायशास्त्र के उन विद्यार्थियों को निश्चित रूप से कुछ मुक्ति मिली होगी, जो पञ्चलक्षणी तथा दसलक्षणी की जटिलता मे दिग्भ्रान्त हो गये थे। समय के प्रभाव से ये गुटके भी टीकाओं के बोझ मे दब गये, परन्तु सौभाग्य से १-२ टीकाओं को छोड़कर इनमे से कोई भी अपने मौलिक ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय न हो सके। इसके दो अपवाद है, मौलिक ग्रन्थकारो द्वारा ही की गयी टीकाए: एक विश्वनाथ की मुक्तावली और दूसरी अन्नंभट्ट की तर्कदीपिका, जो व्याख्यात्मक भाष्य से अधिक मूल ग्रन्थ के बड़े संस्करण है। ये गुटके विद्यार्थियों के लिए बहुत सरल और उपयोगी सिद्ध हुए, परन्तु ये न्याय और वैशेषिक दर्शन के विकास की निम्नतम स्थिति के भी प्रतीक हैं। इस काल से मौलिकता और दार्शनिक प्रतिभा की एक प्रकार से मृत्यु हो जाती हे। टीकाकारों का उद्देश्य अपनी कोई मान्यता स्थापित करने की अपेक्षा केवल अपने पूर्ववर्त्ती ग्रन्थकारों के विचारों को समझाना रह जाता है। इन्हें हम टिप्पणीकार कह सकते हैं, जिसमें मूल वैचारिक शक्ति का सर्वथा अभाव मिलता है। इस प्रकार इन टिप्पणीकारों के साथ भारत के महान् शक्तिशाली न्यायदर्शन के इतिहास का अन्तिम अध्याय सर्वदा के लिए समाप्त हो जाता है।

न्याय सूत्रों की भांति ही वैशिषिक सूत्रों का रचनाकाल भी अनिश्चित ही है। यद्यपि न्यायसूत्रों का वह समकालीन अवश्य है। न्याय सूत्रों में जहां मूलत: न्याय अथवा तर्क का प्रतिपादन किया गया है, वहीं वैशेषिक सूत्रों में ऐसे भौतिकवाद का निरूपण है, जिसमें परमाणुओं को ही सम्पूर्णजगत् का आधार माना गया है। यद्यपि दोनों कई दृष्टि से एक दूसरों के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं। वैशेषिक सूत्रों के रचयिता कणाद माने जाते हैं। प्रो० ए०बी० कीथ का विश्वास है कि कणाद एक काल्पनिक नाम है। वैशेषिक सूत्रों के प्रारम्भ का काल ई० पू० द्वितीय शताब्दी माना जाता है। इस मान्यता के दो आधार है– प्रथम यह कि अश्वघोष वैशेषिक सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं, जिनका समय कनिष्क का राज्यकाल अर्थात् प्रथम शताब्दी है, अत: वैशेपिक सूत्रों को इससे पूर्ववर्त्ती होना चाहिए। दूसरा यह कि इसके अनेक सिद्धान्त जैन सिद्धान्तों से साम्य रखते है, साथ ही यह जीवात्मा की

कर्मशीलता को स्वीकार करता है, जिसका कि शांकर वेदान्त निषेध करता है। यह कार्य और कारण में तथा द्रव्य और गुणों मे भेद स्वीकार करता है तथा परमाणुवाद को भी स्वीकार करता है। इस कारण भी इसे वेदान्त की रचना से पूर्व जैनदर्शन के विकास के समय अर्थात् ई० पू० द्वितीय शताब्दी होना चाहिए।

कश्यप कणभक्ष भी कणाद के ही नाम माने जाते हैं। एक प्राचीन किवदन्ती के अनुसार ये महादेव शिव के शिष्य थे, एव इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर स्वयं भगवान् शकर ने उलूक के रूप में प्रगट होकर वैशेषिक सिद्धान्तों का उपदेश दिया था। उलूक नामधारी एक ऋषि का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है, किन्तु वहां वैशेषिक दर्शन की कोई चर्चा नही है। इस दर्शन का औलूक्य दर्शन नाम अपेक्षाकृत प्राचीन है, जिसका उल्लेख उद्योतकर और कुमारिल भी करते हैं। वैशेषिक शब्द का सभवतः प्रथम प्रयोग प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसंग्रह मे मिलता है, जिसमे महादेव सम्बन्धी उपर्युक्त कहानी का भी उल्लेख हुआ है।[1] वायुपुराण के अनुसार अक्षपाद कणाद और उलूक सहोदर भ्राता रहे है, किन्तु इस कथन की कही पुष्टि न होने से इसकी प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

वैशेषिक दर्शन के सर्वप्रथम भाष्यकार प्रशस्तपाद है, इनके ग्रन्थ पदार्थ-धर्मसंग्रह में वैशेषिक सिद्धान्तों का गंभीर विवेचन हुआ है। चूंकि इस ग्रन्थ में सूत्रो के क्रम की उपेक्षा कर विषय क्रम से वैशेषिक सिद्धान्तो का विवेचन हुआ है, अतः इसे भाष्य की अपेक्षा स्वतन्त्र ग्रन्थ कहना अधिक उचित होगा, यद्यपि परम्परा के अनुसार इसे भाष्य ही कहा जाता है। वैशेषिक परम्परा में प्रशस्तपाद का स्थान कणाद और पूर्ववर्त्ती टीकाकारो के मध्य कहा जा सकता है। इनके जीवनकाल के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चित कह सकना संभव नहीं है। प्रशस्तपाद के ग्रन्थों की सबसे प्राचीन ज्ञात टीका श्रीधर की है, जो स्वय अपना जीवनकाल सन् ९९१ ई० बताते हैं। श्रीधर निश्चित रूप से शंकराचार्य से पूर्ववत्ती रहे होंगे, जो प्रायः उनके ग्रन्थों को उद्धृत करते है। कणाद के सम्बन्ध शंकराचार्य की शारीरिकभाष्य में उल्लिखित धारणाए प्रशस्तपाद के ग्रन्थों में मिल जाती है। शारीरिक भाष्य की अपनी टीका

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १७५।

प्रकटार्थ में श्रीचरण शंकर द्वारा आलोचना किये हुए एक सिद्धान्त के सम्बन्ध में लिखते हैं कि वह प्राचीन वैशेषिकों का सिद्धान्त है, यद्यपि रावणभाष्य से इसका समर्थन नही होता है। इस सिद्धान्त का उल्लेख प्रशस्तपाद ने भी किया है, जो निश्चित रूप से रावण से प्राचीन होंगे। रावण भाष्य जो या तो कणाद के सूत्रों की टीका है अथवा प्रशस्तपाद के ग्रन्थ की, आज उपलब्ध नही है और न उसका रचना काल ही ज्ञात है। ऐसा कहा जाता है कि उदयन की किरणावली इस पर आधारित है। यदि इस रावण को ऋग्वेद का प्रसिद्ध टीकाकार रावण मान लिया जाए तो अवश्य ही एक बहुत प्राचीन लेखक है, इस स्थिति में प्रशस्तपाद और भी प्राचीन होंगे। प्रशस्तपाद वात्स्यायन के भी पूर्ववर्त्ती होंगे, जिनके षट्पदार्थवाद का उल्लेख वात्स्यायन के ग्रन्थो में मिलता है।[1] इतना होने पर भी प्रशस्तपाद के जीवनकाल के सम्बन्ध में कुछ भी कहना संभव नही है।

जैसी कि हम पूर्व पृष्ठो मे चर्चा कर चुके हैं, प्रशस्तपाद भाष्य के प्रथम टीकाकार श्रीधर है, जिन्होने ९९१ के लगभग **न्यायकन्दली** नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ मे ईश्वरवाद के अतिरिक्त द्रव्यादि छः पदार्थों का विवेचन किया गया है। पदार्थ विवेचन के प्रसंग में अभाव का योग भी श्रीधर ने ही किया है।

आचार्य उदयन ने प्रशस्तपाद के भाष्य पर किरणावली नामक टीका के अतिरिक्त **लक्षणावली** नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी वैशेषिक सिद्धान्तों के विवेचन के लिए लिखा था। वैशेषिक सूत्रो पर रीत्यनुसारी टीका **उपस्कार भाष्य** है, जिसकी रचना शंकर मिश्र ने १६वीं शताब्दी में की। शंकरमिश्र का ही एक स्वतन्त्र ग्रन्थ **कणादरहस्य** है, जिसमे वैशेषिक सिद्धान्तों का ही विवेचन किया गया है। वैशेषिक की परम्परा में सूत्रो पर भाष्य की अपेक्षा स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना को देखकर प्रतीत होता है कि टीकाकारों को सूत्रों से बाहर स्वतन्त्र भी कुछ ऐसे सिद्धान्त परम्परा से प्राप्त हुए होंगे, जिनका विवेचन सूत्रो के भाष्यों की अपेक्षा स्वतन्त्र ग्रन्थ में अधिक सुगम प्रतीत हुआ होगा।

जैसी कि भूमिका के प्रारम्भिक पृष्ठों में हमने चर्चा की है, भारतीय दर्शन का उदय और विकास धार्मिक भावनाओ की पृष्ठभूमि में हुआ था, और

---

१. न्यायभाष्य पृ० १७, ६७

उसमें भी ईश्वर की सिद्धि करना दर्शनों का मुख्य साध्य था, किन्तु इन प्रसंगों में अर्थात् ईश्वर सिद्धि के प्रसंग में न्याय और वैशेषिक दर्शनों में परस्पर कोई मतभेद नही था, अतः न्याय दर्शन के विकास की परम्परा में ही वैशेषिक दर्शन का भी विकास मानना अनुचित न होगा। गौतमसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन द्वारा एकाधिक स्थलों में प्रमेय अथवा पदार्थ के रूप में वैशेषिक से सर्वथा अभिन्न द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय का परिगणन दोनो के मौलिक अभेद का ही प्रमाण है। यही कारण है कि नव्यन्याय के प्रसार के अनन्तर लिखे गये न्याय के गुटका ग्रन्थों में गौतम सूत्रो के सोलह पदार्थो की उपेक्षा कर प्रमेय (पदार्थ) विवेचन में वैशेषिक स्वीकृत द्रव्य गुण आदि पदार्थो को ही आधार के रूप में स्वीकार किया गया है, केवल प्रमाण प्रकरण में ही वैशेषिक के दो प्रमाणो के स्थान पर न्याय स्वीकृत चार प्रमाणों का निरूपण किया गया है। यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में भी इसी परम्परा का अनुसरण किया गया है, एव सिद्धान्तो के प्रतिपादन के प्रसग गौतम के समान ही कणाद और प्रशस्तपाद को आचार्य के रूप में स्वीकार किया गया है।

विषय-प्रवेश

दर्शन क्या है ?

चाहे विवेकी मानव हो अथवा विवेक के सम्पर्क से सर्वथा परे रहने वाला मानवेतर प्राणी, सभी जीवन (सत्ता), दुःखहानि और सुख की प्राप्ति केलिए आदि काल से प्रयत्नशील है, "भू' 'भुवः' 'स्वः" ये तीन वैदिक महाव्याहृतियां इसकी साक्षी हैं, किन्तु इस प्राणि वर्ग मे पशु और पक्षियो के जीवन का सचालन सहज वृत्ति से होता है, जबकि मानव का बुद्धि से। 'मानव' बुद्धि से प्रेरित हो विश्वके यथार्थ-ज्ञान के लिए प्रयत्नशील होता है, और इस यथार्थ के द्वारा वह वर्तमान का नही भविष्य का चिन्तन करता है उसका निर्माण करता है। यही कारण है कि जहा पशु पक्षियो का एकमात्र साध्य काम (आहार निद्रा और मैथुन) हुआ करता है, वहां मनुष्य का 'काम' न तो साध्य है और न प्रमुख साधन ही। वह धर्म और अर्थरूप मुख्य साधनो द्वारा काम को प्राप्त करता है किन्तु उसे भी चरम साध्य मोक्ष के लिए एक साधन के रूप मे परिणत कर देता है। इसमें वह मुख्यतम साधन के रूप में बुद्धि को ही स्वीकार करता है तभी तो वैदिक ऋषियों ने 'धियो यो नः प्रचोदयात्' द्वारा 'धी' (बुद्धि) की ही कामना की थी, और उसी के विकास के रूप में 'तत्व ज्ञान की प्राप्ति के प्रयत्न' प्रारम्भ हुए थे। तत्वज्ञान प्राप्ति के इन्हीं प्रयत्नो को 'दर्शन' कहा जाता है। यह तत्वज्ञान एक ज्ञान विशेष है, तथा ज्ञान के प्रसङ्ग मे ज्ञाता (जानने वाला) ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ) ज्ञान साधन (प्रमाण आदि) का ज्ञान आवश्यक होता है, इसीलिए दर्शन का क्षेत्र ज्ञाता के रूप में आत्मा अथवा जानने वाले मनुष्य के यथार्थ-रूप का, ज्ञेय के रूप मे प्रकृति (गुणो के रूप मे तथा पदार्थ रूप मे), विश्व के कारण भूत ब्रह्म, अथवा कर्म आदि का तथा ज्ञानसाधन भूत प्रमाण आदि का ज्ञान रहा है। इनका वास्तविक ज्ञान ही तत्व ज्ञान है, दर्शन है। इसी दर्शन को भगवान मनु ने कर्म बन्धन से छूटने का मार्ग बताया है।[1]

---

१. मनुस्मृति ६. ७४।

भगवान् बुद्ध ने भी इसी दर्शन को सम्यग्दर्शन (सम्मादिट्ठि) कहते हुए दुखहानोपाय के रूप में स्वीकार किया है।[1] इसी कारण आदि काल से भारतीय वाङ्मय में दर्शन का प्रमुख स्थान रहा है ।

भारतीय दर्शन की उदात्तता

भारतीय दर्शन की दृष्टि व्यापक है, इसमें न केवल आध्यात्म का, वैदिक मान्यताओं से सम्बद्ध चिन्तन का समावेश है, अपितु इनके साथ ही इसमे उन चिन्तकों के चिन्तन को भी सहृदयता पूर्वक हृदयमङ्ग करने का प्रयत्न किया गया है, जो वेदो के सबल विरोधी रहे हैं। वैदिक दर्शनों में भी अन्य दर्शनों के चिन्तन का पूर्वपक्ष के रूप में प्रतिपादन इस रूप मे किया गया है कि उसे देखकर यह कहना कथमपि संभव नही है कि विविध विचारधाराओं के प्रवर्त्तकों अथवा उनके अनुयायियो के बीच विचारों मे मतभेद के अतिरिक्त कोई व्यावहारिक विरोध था। यथार्थ तो यह है कि अवैदिक दर्शनों में अन्यतम 'चार्वाक' दर्शन की जानकारी भी हमें उसके परम्परा-गत मौलिक ग्रन्थों के अभाव में अन्य दर्शनो के द्वारा ही होती है।

अपनी इस उदात्तता के कारण ही भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा अपने में पूर्ण समृद्ध है। इनमे से किसी भी एक शाखा में अन्य शाखाओ के सिद्धान्तो का सम्यक् विवेचन उपलब्ध होता है फलस्वरूप किसी भी एक शाखा का विद्वान् अन्य शाखाओं के सिद्धान्तो से भली प्रकार परिचित होता है। यही कारण है कि जिन विद्वानों को केवल भारतीय दर्शन का भली-भांति ज्ञान प्राप्त है वे बड़ी सुगमता से पाश्चात्य दर्शन की जटिल समस्याओं का भी समाधान कर लेते हैं।

आज आवश्यकता इस बात की है, उसी प्राचीन परम्परा को वर्त्तमान में भी जागृत रखने की दृष्टि से पाश्चात्य जगत मे विकसित दर्शनों की तुलना के साथ भारतीय दर्शन की विविध शाखाओ का अध्ययन किया जाए।

भारतीय दर्शन की शाखाएं

भारतीय दर्शन की शाखाओं के सम्बन्ध में अनेक परम्पराएं प्रचलित हैं। एक परम्परा 'पूर्वमीमांसा' 'उत्तरमीमांसा' (वेदान्त) 'सेश्वरसांख्य' (योग),

---

१. दीघ निकाय तथा मज्झिम निकाय।

निरीश्वरसांख्य, (कपिल प्रवर्तित साख्य) सप्त पदार्थवादी 'वैशेषिक' एवं षोडश पदार्थवादी 'न्याय' इन छ दर्शनों को ही स्वीकार करती हैं।[1] अन्य परम्परा मीमांसा, न्याय, साख्य, बौद्ध, जैन और चार्वाक इन छ दर्शनों को स्वीकार करती है। तीसरी परम्परा प्रथम कहे हुए मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक इन छ दर्शनों के साथ ही सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक इन चार बौद्ध शाखाओ तथा जैन एवं चार्वाकदर्शन इन बारह दर्शनों स्वीकार को करती है। चौथी परम्परा चार्वाक, बौद्ध, जैन, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ, नकुलीशपाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा, रसेश्वर, वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त एवं व्याकरण दर्शन (पाणिनि दर्शन) भेद से १६ शाखाएं स्वीकार करती है।

वर्गीकरण

भारतीय दर्शन की उपर्युक्त विविध शाखाओ के वर्गीकरण के भी अनेक प्रकार हैं। एक परम्परा–'अभेदवादी' और भेदवादी भेद से समस्त दर्शन शाखाओं को दो मुख्य शाखाओं मे विभाजित करती है। इसके अनुसार शांकर वेदान्त, मीमासा और व्याकरणदर्शन अभेदवादी है। शांकर वेदान्त का अद्वैतब्रह्मवाद तो प्रसिद्ध है ही, व्याकरण दर्शन भी भिन्न रूप से प्रतीत होने वाले शब्द और अर्थ को एकान्ततः सपृक्त मानते हुए शब्द को ही 'ब्रह्म' मानता है। उसका कथन है कि वाच्य अर्थ और वाचक शब्द दोनो जीव और आत्मा (परमात्मा) के समान ही एकान्त रूप से अभिन्न है, उनमें भेद मूलक सम्बन्ध तो कल्पना प्रसूत है।[2] मीमांसा दर्शन भी इसी प्रकार एक मात्र कर्म रूप 'ब्रह्म' का प्रतिपादन करने से अद्वैतवादी ही है। इन तीन के अतिरिक्त शेष सभी शाखाए द्वैतवादी है। इन्ही अभेदवादी दशनो को **श्रौत दर्शन** तथा भेद-वादी दर्शनों को तार्किक दर्शन कहा जाता है। यहां श्रौत का तात्पर्य श्रुति (वेद)को ही मूल आधार मानकर प्रतिपादित दर्शन से है, तार्किक दर्शनो में भी कुछ श्रुति (वेद) को प्रमाण मानते हैं किंतु तर्कानुकूल होने पर ही, तर्क से सिद्ध न होने पर श्रुति उनके अनुसार प्रमाण नही है, तथा अन्य बौद्ध आदि श्रुति की प्रमाणिकता को भी स्वीकार नहीं करते।

---

१. सर्वदर्शन संग्रह, उपोद्घात पृष्ठ १।

२. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ११६।

दूसरी परम्परा उपर्युक्त दर्शनो को आस्तिक और नास्तिक दो शाखाओ में विभाजित करती है। आस्तिक दर्शन से उनका तात्पर्य है परलोक का स्वीकार करने वाले दर्शन, और नास्तिक दर्शन परलोक को स्वीकार न करने वाले, इस विभाजन के अनुसार चार्वाक नास्तिक दर्शन है शेष सभी आस्तिक।

तीसरी परम्परा भी उपर्युक्त दर्शनो को आस्तिक और नास्तिक दो भागो में विभाजित करती है किन्तु इस परम्परा के अनुसार आस्तिक से तात्पर्य है वेदो पर विश्वास करने वाले, तथा नास्तिक का अर्थ है वेदों पर विश्वास न करने वाले, चूंकि चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन की सभी शाखाएं वेदों को मान्यता प्रदान नही करती अत. उन्हे नास्तिक, शेष सभी को आस्तिक दर्शन कहा जाता है।

भारतीय दर्शनों का सामान्य परिचय

चार्वाक दर्शन--

नास्तिक शिरोमणि चार्वाक द्वारा प्रवर्त्तित दर्शन को **चार्वाक दर्शन** कहते है। कुछ लोग इस दर्शन का प्रवर्त्तक आचार्य वृहस्पति को मानते हैं, अत इस दर्शन को **बार्हस्पत्य दर्शन** भी कहते है। इनके अनुसार स्पर्शेन्द्रिय से मृदु कठोर शीत और उष्ण पर्श का, रसना से मधुर अम्ल लवण आदि रसो का, घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का, चक्षुरिन्द्रिय से रूप तथा विश्व के दृश्यमान पदार्थो का, श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान होता है। इस मत में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान आदि कोई भी प्रमाण मान्य नही है। इसी कारण इस मत में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञात वायु अग्नि जल तथा पृथ्वी इन चार पदार्थों के अतिरिक्त आकाश आत्मा मन आदि की सत्ता भी स्वीकार नही की जाती। अनुमान आदि प्रमाणों की मान्यता न होने के कारण ही चार्वाक दर्शन में पुनर्जन्म (परलोक) वेद विहित कर्मो के करने से उत्पन्न पुण्य अथवा निषिद्ध कर्मो के करने से उत्पन्न पाप की सत्ता भी नही मानी जा सकती। ईश्वर अथवा ईश्वर रचित वेद की भी इस मत मे कोई सत्ता नही है। चार्वाक के अनुसार लोक प्रसिद्ध राजा ही परमेश्वर है, देह ही आत्मा है और मृत्यु ही मोक्ष है। प्रेयसी के आलिङ्गन आदि से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है रोगादि से उत्पन्न दुःख ही त्याज्य है, इसलिए 'भक्ष्य अभक्ष्य और भोग्य अभोग्य आदि का विचार छोड़कर इच्छानुसार सुखों का उपभोग करना चाहिए' इत्यादि ही चार्वाक दर्शन के मान्य सिद्धान्त हैं। विश्व सृष्टि के सबंध में इनकी मान्यता

है कि जैसे पान सुपारी चूना तथा खदिर आदि मे लाल रग नही है किन्तु मिश्रण से उसके दर्शन होते है, गुड़ और जल मे न अम्लता है और न मादकता किन्तु उनके मिश्रण से अम्लता और मादकता दोनो का जन्म हो जाता है, इसी भांति पृथ्वी आदि चार पदार्थो मे यद्यपि चेतना नही है किन्तु उनके मिश्रण से देह मे चेतना उत्पन्न हो जाती है, एवं उनके विश्लिष्ट होने से विलीन हो जाती है; और इसीलिए मृत्यु के बाद कोई भोक्तव्य कर्तव्य कर्म शेष नही रह जाता। इसीलिए सक्षेप में उनका सिद्धान्त है '**यावज्जीवेत्सुखं जीवेत**" ।

बौद्ध दर्शन :—

गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्त्तित दर्शन को **बौद्ध दर्शन** कहते है। गौतम ने मनुष्य के रोग जरा और मृत्यु आदि दुःखों को देखकर व्यथा का अनुभव किया एवं उनके कारणों को समझने तथा उन्हे दूर करने के उपायों को जानने के लिए कठोर तप किया; फलस्वरूप उन्हे चार सत्यो का साक्षात्कार हुआ—(१) दुःख है। (२) दुःख का कारण है। (३) दुःख का अन्त है। (४) दुःख दूर करने के उपाय हैं।

इन चारो सत्यो को बौद्ध दर्शन में 'आर्य सत्य' कहा जाता है। दुःख दूर करने के उपाय के रूप में उन्होने अष्टांगिक मार्ग को स्वीकार किया है। ये अष्टांगिक मार्ग निम्नलिखित है :—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् सकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति, एवं (८) सम्यक् समाधि। इन आठ साधनों द्वारा अविद्या और तृष्णा की निवृत्ति होती है। जिसके फलस्वरूप बुद्धिनैर्मल्य, दृढता एवं शान्ति की प्राप्ति होती है।

देश देशान्तर मे बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ बौद्ध मान्यताओं में भी **चिन्तन** बढ़ा, एव कालान्तर में उसमें चार शाखाए हो गयी—(१) माध्यमिक या शून्यवादी, (२) योगाचार या विज्ञानवादी, (३) सौत्रान्तिक, (४) वैभाषिक ।

माध्यमिक:—गौतमबुद्ध ने अपने शिष्यो को उपदेश देते हुए इस समस्त विश्व को असत् अर्थात् शून्य बताया था। उनका तात्पर्य यह था कि — यह सब क्षणिक है, यह सब दुःखमय है, यह सब स्वलक्षण है, तथा सभी शून्य है। इस भावना के उदय के द्वारा विश्व के प्रति वैराग्य का उदय

र निर्वाण लाभ होता है । बुद्ध के उपर्युक्त उपदेशों को उनके जिन शिष्यों ने बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लिया उन्हें मध्यम बुद्धि होने के कारण **माध्यमिक** कहा गया ।

योगाचार :–बुद्ध के कुछ शिष्यों ने 'यह सब शून्य है (सर्वंशून्यम्)' पर विचार किया, और इस निश्चय पर पहुंचे कि 'यदि सभी को शून्य मानेंगे तो ज्ञान को भी शून्य (असत्) मानना होगा । अत: केवल बाह्य पदार्थों को ही शून्य मानना चाहिए । उनके अनुसार शिष्य के दो कर्त्तव्य हैं—(१) **योग** अर्थात् अज्ञात पदार्थ का ज्ञान, (२) **आचार** अर्थात् गुरुद्वारा उपदिष्ट अर्थ का आचरण । इनके अनुमार यह सब प्रतीयमान विश्व शून्य है किंतु विज्ञान नित्य है । विज्ञान को यथार्थ मानने के कारण इन्हे **विज्ञानवादी** तथा योग और आचार इन दो कर्त्तव्यों को स्वीकार करने के कारण इन्हें **योगाचार** कहा गया । इनकी मान्यता है कि अनादि वासना के कारण यह विश्व बुद्धि में अनेक आकार से प्रतिभासित होता है । पूर्वोक्त भावना चतुष्टयके द्वारा अनादि वासना का उच्छेद करने से विशुद्ध ज्ञानोदयरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

सौत्रान्तिक :—इनका कथन है कि बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही पदार्थ असत् नही है, असत् होने पर पदार्थों की विविध रूप से प्रतीति सम्भव नही है, अत: प्रतीति के आधार पर बाह्य पदार्थो की सत्ता का भी अनुमान अनिवार्य है । बाह्य पदार्थों का अनुमान करने के कारण इन्हे बाह्यनुमेयवादी भी कहते हैं ।

वैभाषिक:–सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थो की सत्ता को अनुमेय मानता है जबकि वैभाषिक उन्हे प्रत्यक्ष मानता है, इसका कहना है कि चूंकि अनुमान प्रत्यक्षाश्रित ज्ञान है अत: बाह्य पदार्थो के प्रत्यक्ष के अभाव मे उनका अनुमान भी सम्भव नहीं है, फलत: बाह्य पदार्थो को अनुमेय नही अपितु प्रत्यक्ष मानना चाहिए, साथ ही यथार्थ भी । इस प्रकार गुरु (बुद्ध) के 'सर्वं शून्यम्' इस उपदेश से विरुद्ध मान्यता के कारण इन्हें वैभाषिक, बाह्यार्थ का भी प्रत्यक्ष मानने से 'बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी तथा 'सर्वास्तिवादी' कहा जाता है ।

ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप मे बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते है ।

जैन दर्शन :—

'जिन' तीर्थकरो द्वारा प्रवर्त्तित दर्शन को **जैन दर्शन** कहते हैं । इनके

अनुसार वे तीर्थङ्कर ही अर्हत् अर्थात् ईश्वर हैं, अतः इस दर्शन को **आर्हत दर्शन** भी कहा जाता है। जैन दर्शन में तीर्थङ्करों के अतिरिक्त अन्य ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की जाती। ये प्रत्यक्षअनुमान के अतिरिक्त आप्त वाक्य शब्द को भी प्रमाण मानते हैं। इन के मत में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा तथा मोक्ष ये नव तत्व है। विश्व के पदार्थ सत् हैं यह निश्चय सम्भव नही हैं साथ ही प्रतीयमान पदार्थों का अभाव भी निश्चित रूप से स्वीकार नही किया जासकता इस प्रकार समस्त प्रतीयमान विश्व भावाभावात्मक है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र के द्वारा देह रूपी आवरण का हान होता है फलतः जीव का ऊर्ध्वगमन होता है, यही मोक्ष है।

रामानुज दर्शन :—

रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्त्तित दर्शन को **रामानुज दर्शन** कहते हैं। इनके मत में मुख्यतः तीन तत्व हैं—(१) चित् (२) अचित् और (३) ईश्वर। इनमें भोक्ता जीव 'चित्' है, भोग योग्य जड प्रकृति 'अचित्' है, तथा दोंनों में अन्तर्यामी होकर उनका नियामक आत्मा 'ईश्वर' है। जो जिसमें व्यापक रहता है, उनमें से व्यापक तत्व को 'आत्मा' और व्याप्य को 'शरीर' कहते हैं। चित् और अचित् ईश्वर का शरीर है। जीव ईश्वर का व्याप्य होने से उसका शरीर है साथ ही जड़ में व्यापक होने से आत्मा भी है। ये तीनों पदार्थ परस्पर सर्वथा भिन्न होते हुए भी शरीर-शरीरी भाव से अवस्थित होने के कारण विशिष्ट अद्वैत भाव से सम्पन्न हैं। इस विशिष्ट अद्वैत सिद्धान्त के कारण इन्हें **विशिष्टाद्वैतवादी** भी कहा जाता है। ये शंकराचार्य स्वीकृत वितर्कवाद का खण्डन कर परिणामवाद को स्वीकार करते हुए 'सत्ख्याति' पर विश्वास करते हैं। इस मत में जीव और ब्रह्म में मोक्ष अवस्था में भी भेद रहता है किन्तु उस स्थिति में यथार्थतः परमात्मस्वरूप का बोध होने के कारण जीव परमात्मा के सेवक भाव को प्राप्त कर लेता है। इस मत में जीवन्मुक्ति सभव नहीं है।

पूर्णप्रज्ञ दर्शनः—

यह दर्शन माध्व आचार्य द्वारा प्रवर्त्तित है। चूंकि इस सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार आत्मतत्व प्रतिपादक शास्त्र मे आचार्य माध्व की प्रज्ञा पूर्ण थी अतः माध्व को 'पूर्णप्रज्ञ' एवं उनके दर्शन को **पूर्णप्रज्ञ दर्शन** कहा जाता है। इसके ही अन्य नाम **मध्यम दर्शन** तथा **आनन्द** दर्शन है। इस

दर्शन को **द्वैतवादी** भी कहते हैं। द्वैत का अर्थ है भेद। यह भेद पांच प्रकार का है :—(१) जीव-ईश्वर भेद, (२) जड़-ईश्वर भेद, (३) जीव-जड़ भेद, (४) जीवों में परस्पर भेद, तथा (५) जड पदार्थो मे परस्पर भेद। यह भेदपञ्चक सत्य और अनादि है। यह भेदपचक यदि असत् होता तो भ्रान्ति मूलक होता, तथा भ्रान्ति की निवृत्ति भी अवश्यभावी होती। चूंकि इस भेद की निवृत्ति नही होती अतः यह भेद असत् नही हैं। जीव और ब्रह्म में भेद के साथ ही सेव्यसेवकभाव सम्बन्ध भी है। सेवा तीन प्रकार की है—(१) अंकन (२) नामकरण, (३) भजन। शंख, चक्र आदि विष्णु चिह्नों को शरीर में धारण **'अंकन'** तथा पुत्र आदि का केशव आदि नाम रखना **'नाम करण'**कहाता है। **'भजन'** के दस भेद हैं। (१) सत्य (२) हित (३) प्रिय (४) स्वाध्याय (५) दान (६) परित्राण (७) रक्षण (८) दया (९) स्पृहा तथा (१०) श्रद्धा। इनमें प्रथम चार वाचिक शेष में से तीन कायिक एवं तीन मानसिक भजन कहाते हैं।

पूर्णप्रज्ञ दर्शन के अनुसार ब्रह्म विभु है एवं जीव अणु परिमाण वाला, यह जीव मोक्ष अवस्था में भी ब्रह्म का दास ही रहता है। इनके अनुसार वेद अपौरुषेय नित्य और स्वतः प्रमाण हैं।

नकुलीशपाशुपत दर्शनः—

पाशुपत दर्शन के अनुसार ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त विश्व पशु कहाता है, और उसका स्वामी 'शिव' पशुपति कहा जाता है। जीव का पाशोच्छेद ही मोक्ष है। पाश का उच्छेद 'कार्य' 'कारण' 'योग' 'विधि,' तथा 'दुखान्त' इन पाच तत्वों के द्वारा होता है। 'कार्य' का अर्थ है 'समस्त चेतन और अचेतन विश्व; 'कारण' ईश्वर को कहते हैं जो स्वतन्त्र कर्त्तृत्व शक्ति सम्पन्न है। जप ध्यान आदि को **योग** कहते हैं। भस्म स्नान आदि व्रतों को 'विधि' कहा जाता है। दुःख-निरास पूर्वक ईश्वरभाव को दुःखान्त कहते है, यही मोक्ष है।

शैवदर्शनः—

शैवदर्शन तथा नकुलीश पाशुपतदर्शन के सिद्धान्त प्रायः समान हैं। इस दर्शन के अनुसार भी जीव का पाश से छूट जाना ही मोक्षहै। इसमें पाश से मोक्ष के लिए छः तत्वों का उपदेश किया गया है। वे तत्व हैं (१) पति, (२) विद्या, (३) अविद्या, (४) पशु, (५) पाश, और (६) कारण। 'पति' शिव को कहते हैं, 'विद्या' तत्व ज्ञान है, 'अविद्या' मिथ्या ज्ञान का नाम

है। मल, कर्म, माया, तथा रोधशक्ति ये चार पाश कहाते है। जीव 'पशु' है तथा जप ध्यानचर्या आदि से पाश की निवृत्ति होती है। इन तत्वों का भली भांति ज्ञान होने पर पाश से विमोक्ष होकर शिवत्व की प्राप्ति होती है, यही मोक्ष है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन:—

मोक्ष प्राप्ति मे प्रत्यभिज्ञा को ही मुख्य साधन मानने के कारण इस दर्शन को **प्रत्यभिज्ञा दर्शन** कहते है। इस दर्शन के अनुसार परमशिव ईश्वर पूर्ण स्वतन्त्र है विश्व की सृष्टि के लिए उसे किसी कर्म आदि साधन की अपेक्षा नही होती। उसकी इच्छा मात्र से ही सृष्टि रचना होती है। जीव परस्पर भिन्न होते हुए भी परमेश्वर से अभिन्न है, क्योंकि जीव और ईश्वर दोनो मे ही चैतन्यस्वभाव समान रूप से विद्यमान रहता है; किन्तु इस अभेदज्ञान के अभाव में ही जीव दुःख का अनुभव करता है। जीव को परमेश्वर से तादात्म्य प्राप्त करने के लिए **प्रत्यभिज्ञा** का आश्रयण करना चाहिए। 'मै ईश्वर ही हूँ उससे भिन्न नही' यह साक्षात्कार ही **प्रत्यभिज्ञा** कहाती है, केवल इस प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही अभ्युदय और मोक्ष होता है; एतदर्थ प्राणायाम, व्रत, उपवास, भस्मस्नान, जप परिचर्या आदि किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। यद्यपि जीव भी ईश्वर के समान पूर्ण-चैतन्य है किन्तु मायावशात् वह चैतन्य अशतः तिरोहित रहता है। प्रत्यभिज्ञा से उस माया का निराकरण होकर जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

रसेश्वर दर्शन:—

रसार्णव में शिवगौरी संवाद के प्रसंग मे कहे गये—

"अभ्रकस्तव बीजं तु मम बीज तु पारद:"

शिव के इस वचन के अनुसार शिव के बीजरूप पारद को ही इस दर्शन में रसेश्वर कहा गया है। रसेश्वर को ही मोक्ष का हेतु मानने के कारण इस दर्शन को **रसेश्वर दर्शन** कहते हैं। यह रसेश्वर 'पारद' साक्षात् नही किन्तु परम्परया मोक्ष का हेतु है। इस दर्शन की मान्यता है कि मूल अज्ञान निवृत्ति पूर्वक निज स्वरूप की यथार्थ प्राप्ति ही मोक्ष है। मूल अज्ञान की निवृत्ति आत्मतत्वविषयक ज्ञान के द्वारा होती है। ज्ञान लाभ के लिए अतिशय अभ्यास अपेक्षित है, तथा यह अभ्यास शारीरिक दृढ़ता के बिना संभव नहीं

है ।[1] शारीरिक स्थिरता पारद आदि रस के सेवन से सम्भव है । इस प्रकार पारद मोक्ष के प्रति कारण है । उनका कहना है कि पारद का पारदत्व यही है कि वह संसार से पार पहुंचाने वाला है ।[2] इस प्रकार मोक्ष साधन में प्रथम हेतु पारद या रसेश्वर है । पारद सेवन के द्वारा शरीर स्थिर होता है, शारीरिक स्थिरता से क्रमशः आत्मा को तत्व का अभ्यास करने पर जीवन दशा मे ही मुक्ति (जीवन्मुक्ति) प्राप्त होती है ।

वैशेषिक दर्शन:—

कणाद प्रवर्तित दर्शन को **औलूक्य दर्शन** कहते है, **विशेष**, पदार्थ को स्वीकार करने के कारण इस का प्रचलित नाम **वैशेषिक दर्शन** है । इस दर्शन में तत्वज्ञान को ही मोक्ष का हेतु माना गया है । कणाद के अनुसार भावतत्व छः हैं, इन्हे पदार्थ भी कहते हैं । ये तत्व (पदार्थ) अवान्तर भेद से अनेक हो जाते हैं । (१) द्रव्य, (२) गुण (३) कर्म (४) सामान्य, (५) विशेष (६) समवाय ये छ पदार्थ हैं । **द्रव्य**—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन नव है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और सस्कार ये चौबीस **गुण** हैं । गतिरूप **कर्म** उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन भेद से पांच प्रकार का है । पर और अपर भेद से **सामान्य** दो प्रकार का है । नित्य द्रव्य मे रहने वाले धर्म जिन्हे **विशेष** कहा जाता है, सख्या मे अनन्त है ।

परवर्ती विचारको ने उपर्युक्त छ पदार्थो को स्वीकार करते हुए **अभाव पदार्थ** को भी स्वीकार किया है । इस प्रकार उत्तरकाल में पदार्थों की सख्या सात हो गयी है ।

न्याय दर्शन या अक्षपाद दर्शन : —

अक्षपाद गौतम द्वारा प्रवर्तित दर्शन को **अक्षपाद दर्शन** कहते है । अनुमान प्रकरण में 'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन' इन पाच अवयवो से युक्त न्यायवाक्य को प्रधानता देने के कारण इस दर्शन को **न्याय दर्शन** भी कहते हैं । न्याय दर्शन में (१) प्रमाण (२) प्रमेय (३) सशय (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (३) सिद्धान्त (७) अवयव (८) तर्क (९) निर्णय (१०) वाद

---

१. क—सुश्रुत संहिता　　ख—गोविन्दपाद कारिका ।

२. गोविन्दपाद कारिका ।

(११) जल्प (१२) वितण्डा (१३) हेत्वाभास (१४) छल (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान ये सोलह तत्व माने गये हैं एवं इनके ज्ञान से ही निःश्रेयस् (मोक्ष) की प्राप्ति बतायी गयी है।

दर्शनों के विकास काल में यद्यपि न्याय और वैशेषिक का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ था, किन्तु मध्यकाल में दोनो को संयुक्त कर दिया गया। इस अवसर पर वैशेषिक के **पदार्थ** और न्याय का **प्रामाण्यवाद** दोनों को एकत्र कर उसे **तर्कशास्त्र या न्याय शास्त्र** के नाम से अभिहित किया गया। वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान, केवल इन दो प्रमाण को ही स्वीकार किया गया था, तथा न्याय मे उपमान और शब्द सहित चार प्रमाण थे। उत्तर काल में प्रमाणो की सख्या न्याय के अनुसार चार ही रही, किन्तु अनुमान के पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन प्राचीन तीन भेदों को न अपनाकर स्वार्थानुमान और परार्थानुमान भेद से दो भेद स्वीकार किये गये।

सांख्य दर्शनः—

सांख्य दर्शन सेश्वर और निरीश्वर भेद से दो प्रकार का है। सेश्वर सांख्य के प्रवर्त्तक पतञ्जलि माने जाते है इनके दर्शन को **पातञ्जल दर्शन** अथवा **योगदर्शन** कहते है। निरीश्वर सांख्य के प्रवर्तक कपिल मुनि हैं, इनका दर्शन **सांख्य दर्शन** कहा जाता है। कपिल प्रवर्तित साख्य दर्शन सबसे प्राचीन है, यद्यपि साख्य दर्शन नाम से वर्तमान उपलब्ध ग्रन्थ प्राचीन नहीं हैं ऐसा विद्वानों का विश्वास है।

सांख्य दर्शन (साख्य और योग दर्शन) प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण मानता है। सेश्वर सांख्य ईश्वर और जीव का ही विवरण देता है तथा जीव को कैवल्य अर्थात् मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो सकता है इसका विस्तृत विवेचन करता हुआ, साधना के लिए सुन्दरतम मार्ग प्रस्तुत करता है। निरीश्वर सांख्य पुरुष और प्रकृति दो पदार्थो को नित्य मानता है। उसके अनुसार इनके अतिरिक्त २३ अन्य अनित्य विकृति रूप पदार्थ हैं। साख्य के अनुसार यह समस्त विश्व सत् है। सत् प्रकृति से विकृतिरूप सत् विश्व ही प्रगट होता है। **प्रकृति** सत्व, रजस और तमस् इन तीन गुणों वाली है। प्रकृति से 'महत्तत्व' बुद्धि, महत् से अहङ्कार, अहङ्कार से रूप रस गन्ध स्पर्श एव शब्द तन्मात्राएँ तथा ग्यारह इन्द्रिया; तन्मात्राओ से अग्नि, जल, पृथिवी, वायु एवं आकाश ये पांच भूत उत्पन्न होते हैं। ये तेईस विकृतियां तथा प्रकृति और पुरुष मिलाकर २५ तत्व इसमें स्वीकार किये जाते है। कुछ विद्वान् वर्त्तमान

सांख्य सूत्रों मे 'महादाख्यमाद्य' कार्यन्तन्मनः'[१] इस सूत्र के अनुसार मन का अन्तर्भाव महत्तत्व मे कर लेते हैं इस प्रकार इन्द्रिया एकादश न रह कर दस रह जाती है। ऐसीस्थिति में पच्चीस तत्वों की सख्या पूर्ति के लिए पुरुष में पुरुष और परमपुरुष (ईश्वर) दो भेद मानकर साख्य को भी सेश्वर सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु यह मत समीचीन नही है क्योंकि वर्त्तमान सांख्य सूत्र से प्राचीनतर साख्य कारिका मे अहंकार के सोलह विकारो ग्यारह इन्द्रियां एव पाच तन्मात्राओ की स्पष्ट चर्चा की गयी है, इस प्रकार उसमे मन को इन्द्रियो मे स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार किया गया है[२]।

मीमांसा दर्शनः—

मीमांसा दर्शन को 'पूर्वमीमांसा' भी कहते हैं। इसके प्रवर्त्तक जैमिनि कहे जाते हैं। इस दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य कर्मकाण्ड है। कर्म काण्ड का आधार वेद है। मीमासा के अनुसार वेद अपौरुषेय और नित्य है, तथा यह वैदिक ज्ञान स्वतः प्रमाण है। वेद द्वारा विहित कर्म 'धम' तथा निषिद्ध कर्म 'अधर्म' कहे जाते हैं। नित्य कर्मों के निष्काम आचरण से संचित कर्मों का नाश होता है फलस्वरूप शरीर नाश होने पर मुक्ति लाभ होता है। प्राचीन मीमासा के अनुसार स्वर्ग या विशुद्ध सुख की प्राप्ति को ही मोक्ष कहा जाता है। मीमासा दर्शन के अनुसार आत्मा नित्य है। चैतन्य आत्मा का नित्य धर्म नहीं है वह तो शरीर और आत्मा के सयोग से विशेषतः विषय और ज्ञानेन्द्रियों के सयोग से उत्पन्न होता है। मुक्त आत्मा विदेह तथा चेतना विहीन होता हे।

मीमासा दर्शन भौतिक जगत् की वाह्य सत्ता को स्वीकार करता है, किन्तु उसके अनुसार यह जगत् अनादि और अनन्त है।

मीमासा दर्शन की मुख्यतः दो शाखाएं हैं—भाट्टशाखा कुमारिल भट्ट द्वारा प्रवर्त्तित तथा प्राभाकर शाखा आचार्य प्रभाकर द्वारा प्रवर्त्तित। **भाट्ट मीमांसक**–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्तिऔर अनुपलब्धि छः प्रमाण मानते हैं; जबकि **प्रभाकर** के अनुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति ये पांच प्रमाण ही मानते हैं। वाच्यार्थ के सम्बन्ध में भी मीमांसकों में परस्पर मौलिक मत भेद है। कुमारिल भट्ट के अनुयायी प्रत्येक पदों का स्वतन्त्र अर्थ मानते हैं इनके अनुसार वाक्य का अर्थ अभिधा वृत्ति से प्राप्त न होकर तात्पर्य वृत्ति से प्राप्त होता है, इसीलिए इन्हें अभिहितान्वयवादी

---

१. सांख्य दर्शन १.७१। २. सांख्य कारिका. २४,२७।

कहा जाता है। प्रभाकर के अनुयायी वाक्यगत प्रत्येक पदो का स्वतन्त्र अर्थ नही मानते। वाक्य का समष्टि रूप अर्थ ही इनके अनुसार मुख्यार्थ है, इसीलिए इन्हे अन्विताभिधानवादी कहा जाता है। दोनो के ही मत मे शब्द नित्य हैं।

उत्तरमीमाँसा या वेदान्त दर्शन :—

वेदान्त दर्शन की उत्पत्ति वेदो (उपनिषदो) से हुई है। इसके प्रवर्त्तक व्यास कहे जाते हैं, किन्तु वर्त्तमान मे वेदान्त दर्शन शंकराचार्य की अद्वैत व्याख्या पर ही प्रतिष्ठित है इसलिए बहुधा इसे **शांकरदर्शन** भी कह दिया जाता है। सर्वदर्शन सग्रहकार माधवाचार्य ने इसे 'शाकर दर्शन' के नाम से ही अभिहित किया है।

शंकर के अनुसार पारमार्थिक सत्ता केवल ब्रह्म की ही है। ब्रह्म को माया के कारण ही यह विश्व न होकर भी प्रतिभासित होता है। शकर के अनुसार माया ईश्वर की ही एक शक्ति है। निर्गुण ब्रह्म माया के वैशिष्टय से सगुण हो जाता है। आत्मा ब्रह्म की ही एक शरीरबद्ध सत्ता है। माया ही अविद्या का मूल है। माया की निवृत्ति होने पर ब्रह्म के लिए सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणो का भी कोई अर्थ नही रह जाता। इस स्थिति मे ब्रह्म में स्वगत भेद भी नहीं रह जाता। इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि ब्रह्म निर्विकल्पक तथा निर्गुण हो जाता है। अतः इसे **निर्गुण ब्रह्म** कहते है। इस प्रकार शंकर के अनुसार अविद्या की जनक माया की निवृत्ति होने पर आत्मा और ब्रह्म मे कोई भेद नही रह जाता, यही अभेदावस्था ही मुक्तावस्था कहाती है।

प्रस्तुत पुस्तक मे उपर्युक्त दार्शनिक परम्पराओ एव पाश्चात्य दर्शन के संबद्ध सिद्धान्तो के साथ परवर्त्ती काल मे प्रचलित न्याय शास्त्र (न्याय और वैशेषिक दर्शन) के सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन ही आगामी अध्यायो मे किया जायेगा।

१

पदार्थ विमर्श

पदार्थ :—

जैसा कि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है कि मूल तत्त्वो के सम्बन्ध मे प्रत्येक दर्शन की स्वतन्त्र मान्यता है, कोई अद्वैत ब्रह्म को मूल मानता है तो कोई प्रकृति को और कोई प्रकृति ब्रह्म या परमेश्वर को साथ-साथ मानता हुआ जीव को भी स्वतन्त्र रूप से स्वीकार करता है। (प्रस्तुत अध्याय मे हम उनकी चर्चा पुनरुक्ति के भय से न करेंगे) किन्तु वह विवेचन अधिकतः विश्व के कारण के विवेचनके प्रसग में किया गया है। वैशेषिक दर्शन अथवा उत्तर कालीन न्याय शास्त्र मे पदार्थो की चर्चा वर्त्तमान विश्व के पदार्थो के विवेचन की दृष्टि से की गयी है न्यायदर्शन मे तत्त्वों का परिगणन भी यद्यपि वर्त्तमान विश्व के विश्लेषण की दृष्टि से ही किया गया है कारण की दृष्टि से नहीं, किंतु वह विवेचन विश्व की बुद्धिगत सत्ता की दृष्टि से है, इसीलिए सशय प्रयोजन आदि तत्वों, जिनकी विश्व मे वास्तविक स्थिति नहीं अपितु बौद्धिक स्थिति ही है, का विस्तृत विवेचन किया गया है।

✓ वैशेषिक दर्शन में परिगणित पदार्थ केवल बुद्धिगत न होकर यथार्थ है। वे पदार्थ सात है (१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य (५) विशेष (६) समवाय और (७) अभाव। वैशेषिक सूत्रों में अभाव का परिगणन नहीं किया गया था,[१] किंतु शिवादित्य ने सन् १२०० ई. से पूर्व ही सप्तपदार्थी मे अभाव का भी परिगणन कर पदार्थो की सख्या छ से बढ़ाकर सात कर दी थी एव उत्तर कालीन विद्वानो ने (केशवमिश्र, लौगाक्षिभास्कर अन्नभट्ट तथा विश्वनाथ आदि सभी ने) उनका ही अनुगमन किया है। इससे पूर्व चार्वाक ने भी वर्त्तमान विश्व के ही तत्त्वो का चिन्तन किया था, किन्तु चार्वाक केवल

---

१. वैशेषिक सूत्र १,१४

प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करता है, अतः उसकी स्थूल दृष्टि में **पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु केवल** चार पदार्थ ही आसके, जिन्हे वैशेषिक स्वतंत्र पदार्थ न मानकर द्रव्यों में अन्यतम मानता है इसका आधार वैशेषिक सम्प्रदायों मे स्वीकृत पदार्थ की परिभाषा है ।

पदार्थ की परिभाषा यद्यपि प्राचीन वैशिषक सूत्रो मे उपलब्ध नही होती, किंतु लक्ष्य के अनुसार ही परवर्त्ती आचार्यो ने निम्नलिखित परिभाषा प्रदान की है । अन्नं भट्ट कृत तर्कदीपिका के अनुसार 'जो वाणी का विषय हो सके, उसे पदार्थ कहते हैं' ।[1] पदार्थ पद, में 'अर्थ' पद का अर्थ "ऋच्छन्ति इन्द्रियाणि यं सोऽर्थः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'ज्ञान का विषय' है । सिद्धान्त चन्द्रिका में भी पदार्थ को अर्थ 'ज्ञान का विषय' ही माना है,[2] वस्तुतः यथार्थ रूप में कोई भी पदार्थ जो ज्ञान का विषय है वाणी का विषय अवश्यमेव होता है, अतः दोनों में कोई अन्तर मानना उचित भी नही है ।

पाश्चात्य वर्शन में अरस्तू (Aristotle) ने पदार्थो के लिए (Categories) पद का प्रयोग किया है उसके अनुसार पदार्थ (categories) वे ही कहे जा सकते हैं जो कि विधेय (Predicates) हों, न कि प्रत्येक **अभिधेय** जैसाकि वैशेषिक का मत है । अरस्तू के अनुसार पदार्थ दस है :—(1) Substance द्रव्य, (2) Quality गुण (3) Quantity सख्या (4) Relaton सम्बन्ध (5) Place स्थान (6) Time काल (7) Posture संस्थान विशेष (8) Appurtenancec or Property जाति (9) Activity कर्म तथा (10) Possivity अभाव ।" अरस्तू के इन पदार्थों में से द्रव्य (Substance) के अतिरिक्त सभी दूसरे की विशेषता प्रगट करते है। केवल द्रव्य को ही स्वतः स्थायी अथवा सत् (Ens or being) कहा जा सकता है । इस द्रव्य पदार्थ को मानने के अनन्तर अरस्तू के पदार्थ भी अभिधेय होने से वैशेषिक की पदार्थ परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते है । अन्तर केवल सख्या का रह जाता है । फिर भी हम कह सकते है कि वैशेषिक का पदार्थ विभाजन आत्मानुभूति मूलक (Metaphysical) है, जब कि अरस्तू का तर्क आश्रित (Logical), बाह्य पदार्थो से सबद्ध है, जो कि विचार के विषय बनते हं ।

भारतीय दार्शनिको ने यद्यपि पदार्थो का अनेक रूप से वर्गीकरण किया है (जिसकी चर्चा अग्रिम पृष्ठों में की जायेगी), किन्तु समस्त पदार्थो को हम

१. तर्क दीपिका पृ० ८ २. सिद्धान्त चन्द्रिका ।

प्रथमतः दो भागों में विभाजित कर सकते हैं भावपदार्थ और अभाव पदार्थ। भाव पदार्थ पुनः दो शाखाओ में विभक्त हो सकते हैं सम्बद्ध्य और सम्बन्ध। सम्बद्ध्य पदार्थ पुनः दो प्रकार के हो सकने हैं विशेषता और विशिष्ट। विशेषता भी दो प्रकार की है स्थिर और अस्थिर। स्थिर विशेषतायें पुनः दो प्रकार की हैं उत्पाद्य (अनित्य) एवं अनुपाद्य (नित्य)। अनुत्पाद्य विशेषताएँ भी आवर्त्तक धर्म और व्यावर्त्तक धर्म भेद से दो प्रकार की है। इस वर्गीकरण को निम्नलिखित रेखा चित्र से समझा जा सकता है।
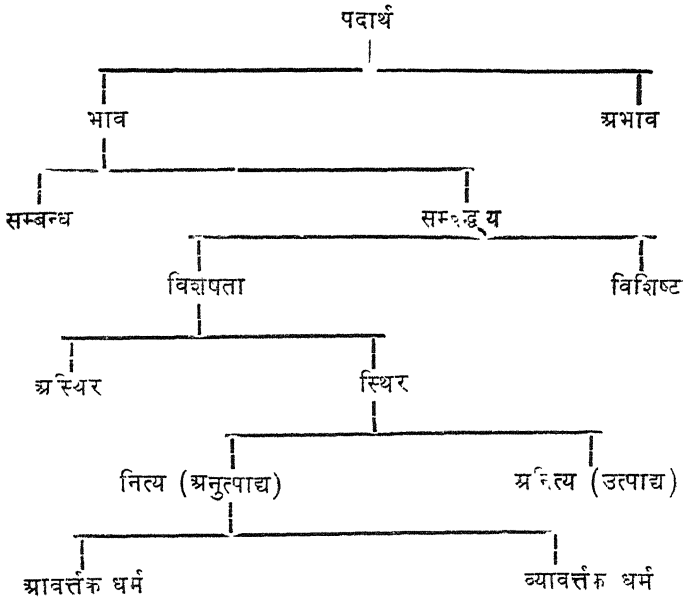
इस विभाजन में वैशेषिक स्वीकृत पदार्थ निम्नलिखित रूप से समानान्तर स्थिर होते हैं। :—

पदार्थ-विभाग:–	**वैशेषिक पदार्थ**
१. सम्बन्ध	समवाय
२. अस्थिर संबद्ध्यविशेषता	कर्म
३. स्थिर संबद्ध्य उत्पाद्य विशेषता	गुण

४. स्थिर संबद्ध्य अनुत्पाद्य- व्यावर्त्तक विशेषता	विशेष
५. स्थिर संबद्ध्य अनुत्पाद्य अाँवर्त्तक विशेषता	जाति या सामान्य
६. संबद्ध्य विशिष्ट भावपदार्थ	द्रव्य
७. अभाव पदार्थ	अभाव

पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट तथा जे. एस. मिल भी अरस्तू द्वारा स्वीकृत दस पदार्थो को ही स्वीकार करते हैं। इन पदार्थों का वैशेषिक स्वीकृत पदार्थों में अन्तर्भाव निम्नलिखित रूप से हो सकता है:—

१. द्रव्य	Substence, Place, Time
२. गुण	Quality, Quantity Relation, Posture अस्थिरगुण
३. कर्म	Activity, Posture अस्थिर धर्म
४. सामान्य	Property
५. विशेष	
६. समवाय	Relation
७. अभाव	Possivity

इस प्रकार अरस्तू के समस्त पदार्थ वैशेषिक के पदार्थों में समाहित हो जाते है, जबकि वैशेषिक पदार्थो मे अन्यतम विशेष के समानान्तर अरस्तू स्वीकृत पदार्थो मे कोई नही है। फिर भी वैशेषिक पदार्थो की संख्या अरस्तू के पदार्थो की संख्या से कम ही है।

पदार्थ सात ही क्यों ?

वैशेपिक ने सात पदार्थो को क्यो स्वीकार किया है ? इस प्रश्न का उत्तर उसके द्वारा स्वीकृत प्रत्येक पदार्थ की परिभाषाओ का अलग अलग क्षेत्र होना ही है, जिसे पंदार्थ विभाजन सम्बन्धी रेखा चित्र में संक्षेपत: देखा जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि शक्ति और सादृश्य रूप अन्य पदार्थों के रहते हुए सात पदार्थ ही क्यों स्वीकार किये जाएँ ? जैसा कि हम देखते हैं अग्नि और काष्ठ के संयोग से दाह क्रिया होती है, किन्तु अग्नि और काष्ठ के संयोग

होने पर भी यदि चन्द्रकान्त मणि का सान्निध्य हो तो दाह क्रिया नहीं होती, तथा चन्द्रकान्त मणि का सान्निध्य रहते हुए भी सूर्यकान्त मणि का सयोग होने पर दाह क्रिया होती है, अथवा दोनो मणियों का अभाव ही जाने पर भी दाह क्रिया होती है, अतः यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि चन्द्रकान्त मणि का सान्निध्य होने पर अग्नि की दाहक शक्ति नष्ट हो जाती है, तथा चन्द्रकान्त मणि के अभाव में अथवा सूर्यकान्त मणि का सान्निध्य होने पर वह दाहक शक्ति पुनः उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार उत्पत्ति और विनाश के कारण 'शक्ति' भी ज्ञान एवं वाणी का विषय होने से **पदार्थ** है ऐसा मानना चाहिये।

इस आशंका के समाधान के प्रसग मे न्याय-वैशेषिक दर्शन के आचार्यों का कथन है कि केवल अग्नि और ईधन का सयोग ही दाह के प्रति कारण नहीं है, अपितु चन्द्रकान्त मणि के अभाव से युक्त अग्नि-इन्धन का सयोग ही दाह क्रिया के प्रति कारण है। इस प्रकार चन्द्रकान्त मणि के विद्यमान होने पर 'चन्द्रकान्त मणि के अभाव से युक्त अग्नि-इन्धन का सयोग न होने से दाह नही होता, फलतः शक्ति को स्वतत्र **पदार्थ** मानने की आवश्यकता नही रह जाती।

अब प्रश्न सादृश्य का है : जैसे जातिरूप पदार्थ द्रव्य गुण आदि पदार्थों मे विद्यमान होने के कारण पदार्थान्तर स्वीकृत किया जाता है, यद्यपि उसका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नही होता, इसी प्रकार विभिन्न जातियों मे विद्यमान सादृश्य को भी स्वीकार करना चाहिये। 'जैसे गोत्व जाति नित्य है उसी भांति अश्वत्व जाति भी नित्य है' इत्यादि प्रतीति में नित्यत्व रूप धर्म के द्वारा गोत्व और अश्वत्व जाति को सादृश्य धर्म से युक्त मानना चाहिए, चूंकि यह सादृश्य रूप धर्म सात पदार्थों मे अन्तर्भूत नही है, अतः अष्टम पदार्थ के रूप मे सादृश्य को स्वीकार करना चाहिये।

इस आशका का समाधान भी न्यायशास्त्र के आचार्यो ने तर्कपूर्ण दिया है उनका कथन है कि सादृश्य स्वय मे कुछ न होकर एक पदार्थ का अन्य पदार्थ से भिन्न होते हुए भी उस मे विद्यमान अनेक धर्मों से युक्त होना है। ये धर्म कभी जाति रूप हो सकते है और कभी गुण या कर्म रूप, अतः सादृश्य को पृथक् पदार्थ न मानकर सामान्य, गुण और कर्म मे ही अन्तर्भूत मानना चाहिए।

न्यायशास्त्र के कुछ नवीन आचार्य सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार

करते हुए भी सात पदार्थों से अतिरिक्त उनके परिगणन की आवश्यकता नहीं समझते, उनका कथन है साक्षात् अथवा परम्परा तत्त्व-ज्ञान के उपयोगी पदार्थों का ही परिगणन यहा आवश्यक है, एव सादृश्य तत्त्व-ज्ञान में किसी प्रकार भी सहायक नही है अतः उसके परिगणन की आवश्यकता नही है ।[1]

न्याय शास्त्र मे (वैशेषिक दर्शन में) द्रव्य नौ माने गये है :--(१) पृथ्वी (२) जल (३) अग्नि (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिशा (८) आत्मा और (९) मन ।

वैशेषिक दर्शन से उत्तर कालीन न्याय शास्त्र स्वीकृत द्रव्यों को वेदान्त ने माया के अध्यास के रूप में, साख्य ने प्रथम पांच को पाँच महाभूतों के रूप में आत्मा को पुरुष के रूप में तथा अन्तिम द्रव्य मन को इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया था । काल और दिशा का सांख्य मे कोई उल्लेख नहीं हुआ है । बौद्ध दर्शन में चूंकि प्रतीयमान विश्व को शून्य अथवा विज्ञान रूप में स्वीकार किया गया है, अतः उसमें इनके विवेचन की आवश्ककता नही समझी गयी । चार्वाक ने पृथ्वी जल अग्नि एव वायु को द्रव्य के रूप में न मानकर पदार्थ के रूप में ही स्वीकार किया था । अथवा यो कहा जाए कि अन्य भारतीय दर्शनो में दृष्टिभेद के कारण द्रव्यों के परिगणन की आवश्यकता नहीं समझी गयी ।

द्रव्यों का परिगणन करते हुए भारतीय नैयायिकों ने द्रव्य के तीन लक्षण दिये है । प्रथम लक्षण है 'द्रव्यत्व जाति से युक्त होना' ।[2] यह लक्षण केवल शाब्दिक है, साथ ही इस लक्षण के लिये द्रव्य जाति की सिद्धि भी आवश्यक है । सिद्धान्त चन्द्रिकाकार के अनुसार द्रव्यत्व जाति की सिद्धि निम्नलिखित अनुमान द्वारा होती है : 'प्रत्येक समवायि कारण किसी धर्म विशेष से युक्त रहता है, अतः रूप आदि गुणो का समवायिकारण द्रव्य भी धर्म विशेष से युक्त है यह धर्म ही द्रव्यत्व जाति है,[3] इस अनुमान से पूर्व भी दो बातों का सिद्ध होना आवश्यक है प्रथम द्रव्य का समवायिकारण होना, दूसरे प्रत्येक समवायिकारण का धर्मयुक्त होना । अतः उपर्युक्त सापेक्ष लक्षण को छोड कर तर्कदीपिका में 'गुणवान् होना' द्रव्य का लक्षण माना गया है ।[4]

---

१. सिद्धान्त मुक्तावली दिनकरी पृ०-६२ ६३
२. तर्कदीपिका पृ० १२
३. सिद्धान्त चन्द्रिका
४. तर्कदीपिका पृ० १२

इस लक्षण पर विचार करने से पूर्व 'लक्षण' की परिभाषा पर विचार कर लेना चाहिए। 'अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असम्भव दोषों से रहित परिभाषा को **लक्षण** कहते है।[१] अव्याप्ति का अर्थ है 'सम्पूर्ण लक्ष्य के किसी एक भाग में लक्षण का न पहुँचना,।[२] अतिव्याप्ति का तात्पर्य है 'सम्पूर्ण लक्ष्य मे विद्यमान होकर लक्ष्य से अतिरिक्त स्थल मे भी लक्षण का सगत होना,[३] तथा असम्भव का अर्थ है 'सम्पूर्ण लक्ष्य मात्र मे अर्थात् लक्ष्य के किसी अश में भी लक्षण का सगत न होना,।[४] दूसरे शब्दो मे हम असाधारण धर्म को लक्षण कह सकते है।[५]

लक्षण की उपर्युक्त परिभाषा की पृष्ठभूमि मे जब हम 'गुण युक्त होना द्रव्य का **लक्षण** है' इस लक्षण पर विचार करते हैं तो इसमे अव्याप्ति रूप **लक्षण** दोष दिखाई देता है। क्योंकि वैशेषिक एवं न्याय दर्शन के अनुसार **द्रव्य** उत्पन्न होकर प्रथम क्षण मे गुणहीन और क्रियाहीन रहता है।[६] उस समय गुण का अभाव होने से द्रव्य मे द्रव्य का **लक्षण** सगत नहीं होता। इस लक्षण की संगति के लिए नैयायिको ने 'गुण के साथ रहने वाली सत्ताभिन्न जाति अर्थात् द्रव्यत्व व्याप्य जाति युक्त होना' ऐसी व्याख्या की है, किन्तु इस लक्षण में भी द्रव्यत्व जाति का शब्दत. समावेश न करके प्रकारान्तर से उसका ही कथन किया गया है अत. यह लक्षण भी पुनः शाब्दिक बन गया है।

द्रव्यत्व का तीसरा लक्षण 'किसी कार्य का समावायिकारण होना है।' यह लक्षण स्पष्टीकरण या परिचय के लिए सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

द्रव्य लक्षण करते हुए एक असुविधा स्वभावत. उपस्थित होती है कि लक्षण केवल शाब्दिक नही होना चाहिए, साथ ही उचित लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्त और असम्भव रूप लक्षण दोषो से भी पृथक् होना चाहिए, अर्थात् लक्षण को प्रत्येक द्रव्यो मे व्याप्त होते हुए भी द्रव्य से सर्वथा भिन्न होना चाहिए, जब कि स्थिति यह है कि गुण यदि द्रव्य के साथ रहने वाले है तो वे द्रव्य के अवयव हुए और द्रव्य अवयवी हुआ, तथा अवयव और अवयवी को परस्पर सर्वथा भिन्न कभी नही माना जा सकता। यदि यह कहा जाय कि गुण द्रव्य से नित्य सबद्ध नही है तो उनके

१. तर्कदीपिका पृ. १४ २. तर्ककिरणावली पृ. १३ ३. वही पृ० १४
४. वही पृ० १४ ५. तर्कदीपिका पृ० १४-१६ ६. तर्ककिरणावली पृ. १३
७. तर्कदीपिका पृ० १७

आधार पर द्रव्य का लक्षण किया जाना संभव नही है। यह असुविधा प्रत्येक काल और प्रत्येक देश के दार्शनिकों के समक्ष उपस्थित हुई है, सम्भवतः इसी लिए इग्लैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक बर्कले (Berkely) ने तथा बुद्ध ने द्रव्य जैसे किसी तत्त्व का स्वीकार नहीं किया, किन्तु यह कोई उचित समाधान नहीं है, यदि द्रव्य की स्वीकृति आवश्यक हो। सभवत इस कठनाई से बचने के लिए ही वेदान्तियो ने द्रव्य स्थानीय तत्व को स्वीकार तो किया किन्तु उसे 'माया' नाम देकर अनिर्वचनीय बताया।

द्रव्य नव ही क्यों?

द्रव्य की परिभाषा करते हुए 'गुणवान् और क्रियावान् होना' द्रव्य का लक्षण माना गया है। चूंकि द्रव्य का यह लक्षण अन्धकार में भी व्याप्त है अत. अन्धकार को दसवा द्रव्य मानना चाहिए। कारण यह है कि 'नीला अन्धकार बढ़ता चला आ रहा है' यह प्रतीति सर्वसाधारण को सदा ही होती है; इस प्रतीति में अन्धकार मे नीलरूप की स्वीकृति के कारण गुण विद्यमान है तथा 'बढता चला आ रहा है' इस गति की स्वीकृति के कारण क्रिया की सत्ता भी स्वीकृत हो गयी, इस प्रकार अन्धकार मे गुण और क्रिया के विद्यमान होने से अन्धकार को दशम द्रव्य मानना उचित ही नहीं आवश्यक भी है। इस अन्धकार का पृथिवी जल तथा अग्नि मे अन्तर्भाव नही कर सकते क्योंकि ये तीनो दो इन्द्रियों द्वारा गृहीत होते है जबकि अन्धकार केवल एकेन्द्रियग्राह्य है, इसका अन्तर्भाव वायु आदि में भी सभव नही है क्योंकि वायु आदि सभी नीरूप हैं एव अन्धकार नील वर्ण होने के कारण रूपवान् है, फलतः तमको दशम द्रव्य मानना ही चाहिए।

इस आशका का समाधान करते हुए नैयायिकों ने 'अन्धकार' को भाव द्रव्य न मानकर तेज का अभाव स्वीकार किया है। उनका कथन है कि 'तम' में नीलरूप नही है क्योंकि रूप के प्रत्यक्ष के लिए प्रकाश की अपेक्षा होती है जबकि प्रकाश की स्थिति मे तम समाप्त हो जाता है। तम में नीलरूप तथा चलन क्रिया की प्रतीति प्रकाशक दीप आदि की गति से उत्पन्न प्रकाशाभाव की भ्रान्त प्रतीति है। इस प्रकार तम तेज का अभाव रूप है।[1] यहा प्रश्न उठ सकता है कि यदि तेज और तमस् परस्पर अभाव रूप हैं तो तमस् को तेज का अभाव न मानकर तेज को ही तमस् का अभाव क्यों न स्वीकार किया जाए? किन्तु इस आशंका का समाधान स्पष्ट है कि

१. तर्कदीपिका पृ० ११-१२

'तेज को द्रव्य न मानने पर उष्ण स्पर्श का आश्रय द्रव्य पृथक् मानना पडेगा।' न्यायकन्दलीकार श्रीधर ने अन्धकार को केवल नीलरूप मात्र माना है अतः नीलरूप मात्र होने से वह गुण है; किन्तु आचार्य प्रभाकरके अनुयायियो ने इस तमस् को तेज का अभाव नही किन्तु तेज के ज्ञान का अभाव माना है। कुछ दार्शनिकों ने तमस् को तेज का अभाव मानते हुए भी तमस् को तेज के स्थान पर द्रव्य मानने का प्रयत्न किया है किन्तु इस पक्ष का समाधान पूर्व ही दिया जा चुका है। इस प्रकार सिद्धान्त रूप से तमस् को तेज द्रव्य का अभाव मानना ही सर्वाधिक उपयुक्त है।

गुण

वैशेषिक सूत्रों में (१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) संख्या (६) परिमाण (७) पृथक्त्व (८) सयोग (९) विभाग (१०) परत्व (११) अपरत्व (१२) बुद्धि (१३) सुख (१४) दुख (१५) इच्छा (१६) द्वेष (१७) प्रयत्न ये सत्रह गुण माने गये थे, किन्तु प्रशस्तपाद ने (१) गुरुत्व (२) द्रवत्व (३) स्नेह (४) सस्कार (५) धर्म (६) अधर्म तथा (७) शब्द इन सात गुणो को और जोड दिया एवं सख्या चौबीस कर दी; साथ ही इस बढी हुई सख्या को 'च' शब्द द्वारा सूत्रकार अभिमत भी सिद्ध किया।[१] तर्क दीपिका के अनुसार 'गुणत्व जाति से युक्त, अथवा द्रव्य और कर्म से भिन्न जाति युक्त पदार्थ को गुण कहा जाता है'।[२] जाति युक्त पदार्थ केवल तीन है द्रव्य गुण और कर्म। इस प्रकार द्रव्य और कर्म से भिन्न जाति वाला पदार्थ केवल गुण ही है। इसे ही दूसरे शब्दों में 'द्रव्य से भिन्न स्थिर पदार्थ में रहने वाली जाति से युक्त गुण है' कह सकते है। वैशेषिक के अनुसार कर्म केवल पांच क्षणो तक ही स्थिर रहता है अत. वह अस्थिर पदार्थ है। स्थिर पदार्थ केवल दो रहे द्रव्य और गुण। इस प्रकार द्रव्य भिन्न नित्य द्रव्य में रहने वाली गुणत्व जाति है उससे युक्त गुण ही है, अत. यह लक्षण अनुचित नही है। इस लक्षण में 'द्रव्य अवृत्ति' विशेषण द्वारा द्रव्यत्व और सत्ता दोनो को पृथक किया गया है। विश्वनाथ ने 'द्रव्य आश्रित होते हुए गुण और क्रिया-हीन होना' गुण का लक्षण किया है।[३] किन्तु इस लक्षण को तीनो दोषों से रहित नही कहा जा सकता। कारण कि द्रव्यत्व जाति स्वय गुण

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ३ २. तर्क दीपिका पृ० १६
३. कारिकावली ८६

और क्रिया से हीन है साथ ही द्रव्याश्रित भी है अतः अतिव्याप्ति दोष उपस्थित होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ ने यह कथन लक्षण करने की दृष्टि से न करके गुणों के कथन का उपक्रम करते हुए किया है इसीलिए उन्हें कहना भी पड़ा कि 'द्रव्याश्रितत्व लक्षण नहीहै'।[1] कणाद ने 'द्रव्य में आश्रित रहने वाला, गुण रहित तथा सयोग और विभाग के प्रति निरपेक्ष कारण गुण है' ऐसी गुण की परिभाषा दी है।[2]

इस प्रकार गुण द्रव्य से पृथक् पदार्थ है। द्रव्य स्थिर पदार्थ है जो कि किन्ही धर्मो (विशेषताओं Qualities) का आश्रय है; यह निश्चय ही गुणों से भिन्न है, क्योंकि गुण में गुण नही रह सकते; यह किसी पर आश्रित नही है, जबकि गुण और कर्म दोनों ही धर्म हैं अतएव अन्य पर आश्रित भी हैं। इनमे से कर्म पञ्च क्षणावस्थायी धर्म है। कर्म भी जब स्थिर रूप से रहे तो उसे गुण कहा जा सकेगा। जैसे हाथ पैर आदि का चलना अनित्य धर्म होने से कर्म है, किन्तु वही गति पृथिवी आदि ग्रहो मे गुण के रूप में स्थित है, क्योकि वह नित्य कर्म है। इसी प्रकार उष्णस्पर्श, जो एक गुण है, द्रव्य की गति (कर्म) से उत्पन्न होता हैं; जबकि गुरुत्व गुण के कारण पतन (अवक्षेपण) रूप कर्म की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार गुण कर्म का जनक है और कर्म गुण का; फलतः 'गुण और कर्म दोनों ही वैशिष्ट्य (Quality) हैं, अतः एक हैं' यह कथन अनुचित न होगा। दोनो मे अन्तर केवल यह है कि एक **स्थिर** वैशिष्ट्य है और दूसरा **अस्थिर**।

इस प्रकार गुणों और कर्मों के बीच कोई सुदृढ़ विभाजन रेखा न होने के कारण कहना पड़ता है कि 'भारतीय नैयायिक गुणों के सम्बन्ध में अधिक गम्भीर चिन्तन कर सके हैं, इसमें सन्देह है।' साथ ही यह भी निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि 'कर्म के सम्बन्ध में अधिक गहराई तक नहीं पहुंच सके हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि गुण पदार्थ को स्वीकार करने में आधार बहुत ही सुदृढ़ है किन्तु जहां तक चौबीस विभागों का प्रश्न है प्रत्येक की उपयोगिता सिद्ध नही की जा सकती।

जैसा कि गुण विवेचन के प्रारम्भ मे कहा जा चुका है कि महर्षि कणाद ने केवल १७ सत्रह गुणों का ही परिगणन किया था। व्याख्याकारों ने

---

१. (क) मुक्तावली पृ. ४३६ (ख) दिनकरी पृ. ४३६

२. वैशेषिक दर्शन १.१.१६

इसमें सात और जोड़ दिये । उपस्कार के लेखक शकर मिश्र ने लिखा है कि सूत्रकार ने अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण परवर्ती आचार्यों द्वारा परिगणित गुणों का शब्दतः उल्लेख न कर 'च' शब्द के द्वारा उनका सकेत किया है[१] जो भी हो इस वृद्धि की गुन्जाइस वहां अवश्य है । उत्तरवर्त्ती नैयायिकों ने परत्व, अपरत्व और पृथवत्व को कम करते हुए इक्कीस गुण सिद्ध किये हैं। उन्होने लिखा है कि परत्व तथा अपरत्व भी ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व एवं सन्निकृष्टत्व की भांति अनावश्यक हैं, पृथक्त्व केवल अन्योन्याभाव ही है । कुछ विद्वानो ने लघुत्व, मृदुत्व, कठिनत्व तथा आलस्य को भी गुण मान कर गुणों की संख्या २८ करने का प्रयत्न किया है, किन्तु लघुत्व केवल गुरुत्व का अभाव है । मृदुत्व तथा कठिनत्व विलक्षण सयोग से भिन्न नही है । इसी प्रकार आलस्य भी प्रयत्न का अभाव मात्र है ।

कुछ विद्वानो ने अधर्म को धर्म का अभाव सिद्ध करने का उपक्रम किया है, किन्तु वस्तुतः अधर्म धर्म का अभाव नही हैं । इसे विरुद्धधर्म अथवा अनुचित या निषिद्ध धर्म कहा जा सकता है । जैसे उत्तम कर्म का अभाव बुरे कर्म नही है, वह तो अकर्म भी हो सकता है जो कि अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्मो का अभाव है। इसी प्रकार सयोग-विभाग, परतत्व-अपरत्व, तथा सुख-दुख एक दूसरे के अभाव रूप न होकर भिन्न स्वरूप वाले ही हैं । धर्म और अधर्म दोनो के स्थान पर 'अदृष्ट' शब्द अवश्य रखा जा सकता है ।

गुणो में गुरुत्व शब्द द्वारा दो भावों की अभिव्यक्ति की गयी है भार (Weight) तथा भाराधिक्य (Heaviness); किन्तु लघुत्व इन दोनों मे से केवल भाराधिक्य का प्रतियोगी है । वस्तुतः लघुत्व (Lightness) तथा भाराधिक्य (Heaviness) दोनों ही भार के भेद है । इसी प्रकार द्रवत्व, कठिनत्व तथा मृदुत्व तीनो ही सयोग के विविध प्रकार हैं । आलस्य को प्रयत्न के अभाव अथवा स्थितिस्थापक (सस्कार) में समाहित माना जा सकता है ।

गुणों का वर्गीकरण नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष तथा एकेन्द्रियग्राह्य एवं अतीन्द्रियग्राह्य के रूप में किया जाता है ।

यद्यपि पूर्व पृष्ठों में स्थिर या नित्य धर्मो को गुण तथा अस्थिर या अनित्य धर्मों को कर्म कहा गया है, तथा गुण धर्म रूप ही हैं अतः अनित्य-

---

१. वैशेषिक उपस्कार १. १. ६.

गुण शब्द मे कर्म के साथ भ्रम हो सकता है, अतः इस प्रसग मे स्मरण रखना चाहिए कि यहां नित्य गुण शब्द का प्रयोग 'नित्य द्रव्य में आश्रित गुण' तथा अनित्य गुण शब्द का प्रयोग 'अनित्य द्रव्य मे आश्रित गुण' अर्थ मे किया गया है। पृथ्वी जल अग्नि वायु ये चार द्रव्य कार्यावस्था मे अनित्य है अतः इनमें विद्यमान गुण भी अनित्य होंगे, तथा परमाणुरूप कारणास्था मे ये द्रव्य नित्य है, अतः इनमें आश्रित गुण भी नित्य होंगे।

विश्वनाथ के अनुसार वायु मे 'स्पर्श सख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग (संस्कार) ये नौ गुण है।[१] तेज (अग्नि) में स्पर्श आदि उपर्युक्त आठ गुण तथा रूप, द्रवत्व और वेग नामक सस्कार ये ग्यारह गुण है।[२] जल मे तेज मे विद्यमान उपर्युक्त गुणो के साथ गुरुत्व रस और स्नेह ये चौदह गुण रहते हैं।[३] पृथ्वी में स्नेह के अतिरिक्त तेजगत समस्त गुण एवं गन्ध विद्यमान है।[४] वायु आदि मे विद्यमान ये गुण यथावसर नित्य अथवा अनित्य हैं। आकाश आदि शेष द्रव्य चूकि नित्य है अतः उनमे विद्यमान गुण भी नित्य है। आत्मा में बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, भावना (सस्कार), धर्म और अधर्म ये चौदह **गुण** हैं।[५] काल और दिशा मे सख्या, परिणाम, पृथक्त्व, सयोग और विभाग ये पाच-पाच गुण है।[६] आकाश मे इन पाच गुणो के अतिरिक्त शब्द गुण और अधिक है।[७] ईश्वर में सख्या, परिमाण, सयोग, विभाग, पृथक्त्व, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न ये आठ गुण हैं।[८] मन मे परत्व, अपरत्व, सख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व तथा वेग (सस्कार) ये आठ गुण है।[९]

सामान्यगुण

गुणों का दूसरे प्रकार का वर्गीकरण सामान्य और विशेष रूप में किया जाता है। विश्वनाथ के अनुसार सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, असासिद्धिक (नैमित्तिक), द्रवत्व, गुरुत्व तथा वेग (संस्कार) ये **सामान्यगुण** कहे जाते है।[१०]

विशेषगुण

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह,

---

१. भाषापरिच्छेद २९   २. वही ३०   ३. वही ३१
४. वही ३२   ५. वही ३३   ६. वही ३३
७. वही ३३   ८. वही ३४   ९. वही ३४
१०. वही ९१-९२

सांसिद्धिक द्रवत्व, धर्म, अधर्म, भावना (सस्कार) तथा शब्द ये विशेषगुण कहे जाते हैं ।[1]

गुणो का तृतीय प्रकार का वर्गीकरण एकेन्द्रिय ग्राह्य, द्वीन्द्रिय ग्राह्य तथा अतीन्द्रिय तीन वर्गो मे किया गया है । विश्वनाथ के अनुसार सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह इन गुणो का ग्रहण दो इन्द्रियों द्वारा; रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्दों का ग्रहण एक-एक इन्द्रियों द्वारा होता है तथा गुरुत्व, धर्म, अधर्म एव भावना (सस्कार) अतीन्द्रिय हैं ।[2]

कर्म

कणाद के अनुसार कर्म के पाच प्रकार है :—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ।[3] कणाद के इस विभाजन को ही परवर्त्ती आचार्यो ने स्वीकार किया है । चूंकि भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तथा तिर्यग्गमन आदि भी कर्म के प्रकार हैं, जिन्हे गमन के अन्तर्गत समाहित किया जाता है, अतः कर्म के इस विभाजन को अधिक उचित नही कहा जा सकता । नीलकण्ठ के अनुसार इस प्रसग मे महर्षि की इच्छा का ही समादर करते हुए पांच विभाग ही करने चाहिए ।[4] हम कर्म का वास्तविक विभाजन तीन भागो मे कर सकते है :— (१) ऊर्ध्व या अधोगमन, (२) पार्श्वगमन (३) तिर्यग्गमन । इस उचित विभाजन को छोड़कर ऋषि ने पाच विभाग क्यो किये है इसका उत्तर अब तक अप्राप्त है ।

कणाद के अनुसार कर्म उसे कहा जाता है जो 'एक द्रव्य मे रहता हो, किन्तु गुण न हो तथा सयोग एव विभाग के प्रति साक्षात् कारण भी हो ।[5] लक्षण के पूर्वार्ध विशेषण द्वारा कर्म को द्रव्य तथा सयोग आदि से पृथक् किया गया है तथा शेष उत्तरार्ध विशेषण रूप अंश कर्म का परिचायक तत्व है । तर्क दीपिका में इसे ही 'सयोग के प्रति असमवायिकारण, शब्द द्वारा लक्षित कराया गया है ।[6] वैशेषिक सूत्र के टीकाकार शंकर मिश्र ने कर्म के कुछ अन्य लक्षण भी प्रस्तुत किये है इन लक्षणो में भाषान्तर से

---

१. वही ९०-९१
२. वही ९२-९४
३. वैशेषिक सूत्र १. १. ७
४. तर्कदीपिका प्रकाश
५. वैशेषिक सूत्र १. १. १७
६. तर्कदीपिका पृ० १९

'नित्य पदार्थ में न रहने वाली तथा सत्ता की साक्षाद् व्याप्य जाति से युक्त को ही **कर्म** कहा गया है।'[1] यहां शब्दान्तर से कर्मत्व जाति से विशिष्ट पदार्थ को **कर्म** माना गया है, क्योंकि परसामान्य 'सत्ता' साक्षाद् द्रव्य गुण और कर्म मे रहती है। कर्म से भिन्न द्रव्य तथा उनमे विद्यमान गुण नित्य भी है अतः उन द्रव्यो एव गुणों मे विद्यमान द्रव्यत्व और गुणत्व से भिन्न कर्मत्व जाति ही शेष रह जाती है। इस प्रकार उक्त लक्षण मे प्रकारान्तर से कर्मत्व जाति विशिष्ट को ही **कर्म** कहा गया है। कर्मत्व जाति विशिष्ट को कर्म कहते हुए किया गया यह लक्षण परिचायक की अपेक्षा शाब्दिक ही अधिक है ।

सामान्य

सूत्रकार कणाद ने सामान्य का कोई स्पष्ट लक्षण नही दिया था। आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार 'अनुवृत्ति प्रत्यय अर्थात् अनेक मे एकत्व बुद्धि के हेतुको **सामान्य** कहते है'।[2] तर्कसग्रहकार अन्नभट्ट ने 'नित्य तथा एक होते हुए अनेक मे विद्यमान धर्म को **सामान्य** कहा है ।[3] इस लक्षण मे तीन खण्ड है नित्य होना, एक होना तथा अनेक मे विद्यमान होना। द्वित्व आदि सख्या एक होती है साथ ही अनेक मे विद्यमान भी रहती है किन्तु वह नित्य नही है। परमाणु नित्य तथा अनेक मे विद्यमान है किन्तु वे एक नही अत्यन्ताभाव नित्य और एक होकर भी अनेकानुगत नहीं होता, अतः इन सबको सामान्य नहीं कह सकते। इस लक्षण में अनेक मे विद्यमान रहने का अर्थ है समवाय सम्बन्ध से अनेक मे वर्तमान रहना ।

वैलेण्टाइन (Ballantyne) आदि पाश्चात्य दार्शनिको ने **सामान्य** के स्थान पर **जीनस** (Genus) शब्द का व्यवहार किया है, किन्तु जीनस का तात्पर्य सामान्य की भाति केवल अवच्छेदक धर्म से ही न होकर विशेष की भाति व्यावर्तक या व्यवच्छेदक धर्म से भी है। वस्तुतः दोनों धर्मो (अवच्छेदक तथा व्यावर्तक धर्मो) में कोई विशेष अन्तर भी नही है। क्योकि अपर सामान्य अवच्छेदक या अनुगत धर्म के रूप मे जहा अनेक पदार्थों मे एकत्व बुद्धि का हेतु होता है वही भिन्न अनेक पदार्थो मे भेद बुद्धि का कारण भी। उदाहरणार्थः गोत्व जाति जहा अनेक वर्ण एव अनेक आयु की गौ में अनुगत बुद्धि

---

१. वैशेषिक उपस्कार भाष्य १. १, १७

२. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४.

३. तर्क सग्रह पृ० १६४

को उत्पन्न करती है, वहीं गो भिन्न अश्व-बडवा, महिषी आदि से भेद बुद्धि को भी उत्पन्न करती है। हां परसामान्य अवश्य ही व्यवच्छेद बुद्धि का हेतु नही है उससे केवल अनुगत बुद्धि ही उत्पन्न होती है, जैसे कि विशेष द्वारा केवल व्यवच्छेद बुद्धि ही उत्पन्न होती है। इसलिए सामान्य और विशेष को दो पदार्थ न मानकर यदि एक पदार्थ माना जाता तथा सामान्य के तीन भेद (१) परसामान्य, (२) परापरसामान्य (३) अपरसामान्य किये जाते तो वैलेण्टाइन (Ballantyne) का जीनस (Genus) शब्द अधिक सामान्तर पड़ता। सूत्रकार कणाद को भी सम्भवतः यही अभिप्रेत था, इसीलिए उन्होंने सामान्य और विशेष को बुद्धि सापेक्ष्य बताया था।[1] वस्तुतः किसी धर्म के सामान्य होने के लिए उत्तर काल में जिन प्रतिबन्धों का प्रयोग किया गया है उसके कारण सामान्य और विशेष के पृथक्-पृथक् उपादान और लक्षण की आवश्यकता हुई। इसी कारण पीछे आकर सामान्य शब्द का अर्थ सीमित हो गया। सामान्य का पर और अपर रूप मे विभाजन भी इसी सीमित अर्थ के कारण ही किया गया है।

आगे चलकर सामान्य को पुन: दो खण्डो में विभाजित किया गया है: (१) अखण्ड सामान्य (२) सखण्ड सामान्य। अखण्ड सामान्य पदार्थ से साक्षात् संबद्ध होता है, इसे जाति भी कहते है। सखण्ड सामान्य का पदार्थ से परम्परया सम्बन्ध होता है, इसका दूसरा नाम उपाधि है।[2] जैसे द्रव्यत्व और कर्मत्व द्रव्य और कर्म से साक्षात् सम्बद्ध हैं, अत: इन्हें जाति कहा जाता है। सखण्ड या परम्परया सम्बद्ध धर्म वस्तु के वास्तविक धर्म नहीं होते किंतु अपेक्षावश माने जाते है, जैसे: दण्डित्व प्रमेयत्व। यहां दण्ड संयोग की अपेक्षा से ही दण्डित्व कहा गया है, दण्ड सयोग हटते ही दण्डित्व धर्म भी हट जाएगा, इसीलिए इसे परम्परया सबद्ध कहा जाता है। पदार्थगत प्रत्येक धर्मविशेष को जाति नही माना जाता। उदाहरणार्थ: अन्धापन (अन्धत्व) आदि जाति नहीं है। इसी प्रकार यदि एकत्र हुए कुछ मनुष्यों के एक समूह को हम राष्ट्रियता, भाषा, शारीरिकगठन, वर्ण (रंग), बुद्धि, शिक्षा, चारित्रिक विकास आदि के आधार पर विभाजित करने का प्रयत्न करें तो प्रत्येक दृष्टि से बने वर्गो में समान व्यक्ति नहीं रह सकते। एक

---

१. वैशेषिक दर्शन, १. २. ७.।

२. दीपिका किरणावली पृ० २२

व्यक्ति राष्ट्रियता के कारण कुछ व्यक्तियों के साथ एक वर्ग में आता है,[1] किन्तु वही व्यक्ति भाषा के आधार पर अन्य व्यक्तियो के साथ अन्य वर्ग में रहता है। इन्ही व्यक्तियो के शिक्षा और चरित्र के आधार पर अलग-अलग वर्ग बनेंगे। इन वर्गो के विभाजन में हम जिन सामान्य धर्मो को आधार बनाएंगे वें जाति नही कहे जा सकते ।

आचार्य उदयन के अनुसार किसी धर्म के जाति मानने मे निम्नलिखित बातो का अभाव होना आवश्यक है .[1]—

१-व्यक्ति अभेद—जो धर्म केवल एक ही व्यक्ति मे है उसे जाति नहीं कह सकते : जैसे आकाश में विद्यमान आकाशत्व ।[2]

२-तुल्यत्वः—तुल्यधर्म जाति नहीं कहे जा सकते । जैसे घटत्व और कलशत्व शब्दवाच्य समान धर्म को अभिधान भेद अलग अलग जाति नही माना जाएगा, क्योकि दोनो धर्म सर्वथा तुल्य है।[3]

३-संकर—कुछ पदार्थों को यदि भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से दो दो वर्गो मे विभाजित करे जिनमे कुछ तो दोनो प्रकार के वर्ग मे साथ साथ रहे किन्तु कुछ प्रथम प्रकार के विभाजन मे कुछ पदार्थो या द्रव्यों के साथ रहते हुए दूसरे प्रकार के विभाजन मे अन्य पदार्थो या (द्रब्यो) के साथ रहें तो ऐसे विभाजन मे विद्यमान आधार भूत धर्म को सकर धर्म कहते हैं। जैसे पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश और मन इन द्रव्यो को भूत और अभूत के रूप मे विभाजन करने पर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश 'भूत' वर्ग मे तथा मनस् 'अभूत' वर्ग में आएगा पुनः इन्हे ही मूर्त्त अमूर्त्त के रूप मे विभाजित करे तो पृथ्वी जल अग्नि वायु और मन 'मूर्त्त' कहाए गे एवं आकाश 'अमूर्त्त'। चूंकि मन और आकाश एक बार एक वर्ग में रहते हैं, किन्तु पुनर्विभाजन मे अन्य सब द्रव्य तो साथ रहते हैं किन्तु ये दोनो क्रमशः भूत और अमूर्त्त नही बन पाते,[4] अतः भूतत्व और मूर्त्तत्व को संकर धर्म होने के कारण जाति नहीं माना जाएगा।

४-अनवस्थाः जाति में कल्पित धर्म को भी जाति नही मानते, क्योकि जाति मे जाति स्वीकार करने पर प्रत्येक जातियों मे जात्यन्तर स्वीकार करने पर जातियो की कल्पना का अन्त ही न हो सकेगा, जैसे द्रव्यत्व जाति मे द्रव्यत्वत्व आदि जातियो की कल्पना नही की जाती ।[5]

---

१. (क) द्रव्य किरणावली (ख) कणाद रहस्यम् पृ० १५९
२. दिनकरी पृ० ७७ ३. वही पृ० ७७ ४. वही पृ० ७७
५. वही पृ० ७८

५-रूपहानि:—किन्ही विशेष युक्तियों के द्वारा जहा जाति को अनावश्यक मानकर उसका निषेध किया गया है वहां विद्यमान धर्म को जाति नही माना जाता, जैसे विशेषत्व धर्म, चूंकि विशेषत्व व्यावर्त्तक अर्थात् व्यवच्छेदक धर्म है अनुगत प्रतीति का हेतु धर्म नही; अतः अनन्त विशेषों मे विद्यमान् होने पर भी विशेषत्व धर्म को जाति नहीं माना जाता ।[1]

६-असम्बंध—जिस धर्म का व्यक्ति से सम्बन्ध करने के लिये कोई सम्बन्ध ही न हो वह कल्पित धर्म जाति नही माना जा सकता, जैसे समवायत्व । समवाय वह सम्बन्ध है जिस सम्बन्ध से कोई जाति या धर्म द्रव्य अथवा गुण आदि में रहता है । यदि समवायत्व को धर्म या जाति माने तो उसे समवाय मे रहना चाहिए । अब प्रश्न यह होता है कि समवायत्व समवाय में किस सम्बन्ध से रहेगा, उसके लिए अतिरिक्त समवाय सम्बन्ध मानना आवश्यक होगा, अतः सम्बन्ध के अभाव मे समवाय मे कल्पित समवायत्व धर्म जाति नही माना जा सकता ।[2]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन पदार्थो में विद्यमान धर्म द्रव्यत्व तथा गुणत्व कर्मत्व तो जाति हैं शेष सामान्य विशेष और अभाव मे विद्यमान धर्मों को जाति नही कहा जा सकता ।

विशेष

विशेष पदार्थ को अपर सामान्य से पृथक् करने के कारण **अन्त्यविशेष** भी कहा जाता है । यह एक धर्म विशेष है जो जाति से भिन्न है, तथा प्रत्येक नित्य द्रव्य (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के परमाणुओं तथा आकाश आदि पांच द्रव्यो मे विद्यमान रहता है **विशेष** का कार्य जाति के अनुगत प्रतीति कार्य से सर्वथा विपरीत व्यावृत्ति (भेद) ज्ञान को उत्पन्न करना है । इस प्रकार यह प्रत्येक परमाणु या आकाश आदि में परस्पर भेद ज्ञान का कारण है । इसके साथ ही **विशेष** को 'स्वतोव्यावर्तक' अर्थात् स्वय विशेष को भी सबसे भिन्न करने वाला कहा गया है ।[3] इस प्रकार विशेष पदार्थ के दो कार्य हुए : नित्य द्रव्य मे व्यावृत्ति बुद्धि उत्पन्न करना, तथा विशेष में परस्पर व्यावृत्ति बुद्धि का कारण होना । विशेष मे यदि यह द्वितीय विशेषता न मानी जाय तो विशेष को परस्पर भिन्न बताने के लिए विशेषान्तर की या पदार्थान्तर की कल्पना आवश्यक होगी ।

---

१. वही पृ० ७८ ७९　　　　२. वही पृ० ७९ ८०

३. Notes on Tarkasangraha by Bodas P. 94

सिद्धान्त चन्द्रिका में विशेष पदार्थ को मानने की आवश्यकत बताते हुए कहा गया है कि घट आदि पदार्थो को पट आदि पदार्थों से भिन्न मानने के लिए जिस प्रकार घटादि मे कपाल आदि की समवाय सम्बन्ध से विद्यमानता है उसी प्रकार परमाणु आदि में परस्पर भेदक कोई अन्य तत्व नही है अतः विवश होकर विशेष पदार्थ का आश्रय लेना ही होगा ।[1]

विशेष की कल्पना वैशेषिको का निज आविष्कार है। यद्यपि कणाद ने मूल सूत्र मे विशेष को पूर्णतया स्पष्ट नहीं किया था, किन्तु सामान्य को विशेष से भिन्न बताते हुए 'अन्त्य विशेषो से भिन्न' कहा था, अर्थात् कोई धर्म यदि अनुगत प्रतीति का कारण रहता है तो उसे सामान्य कहा जाता है, और जो धर्म अन्त्य परमाणु का धर्म होने से अनुगत प्रतीति का हेतु न बन कर व्यावर्त्तक या भेदक हो तो उसे **विशेष** कहा जाता है। वैशषिक से सहमत परवर्त्ती नैयायिकों ने भी इसे इसी रूप मे स्वीकार किया है। विशेष को स्वीकार करने के लिए उनकी युक्ति का उल्लेख ऊपर की पक्तियों मे किया जा चुका है। अब यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि परमाणुओं में परस्पर भेद (व्यावर्त्तन) के लिए ही विशेष पदार्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता है तो **विशेष** को स्वतन्त्र पदार्थ न मान कर परमाणुओ मे ही यह व्यावर्त्तक (भेदक) धर्म क्यों न स्वीकार कर लिया जाए ? इस शका का समाधान प्रशस्तपाद ने इस रूप में दिया है कि परमाणुओ मे चूंकि अन्य अनेक धर्म है अत· उसमें यह धर्म नही माना जा सकता, जबकि श्वमास में अशुचित्व और दीप में प्रकाशकत्व के समान विशेष मे व्यावर्तकत्व (स्वतो व्यावर्त्तकत्व) धर्म ही अन्यतम होने से उसके मानने मे कोई आपत्ति नही हो सकती ।[2]

समवाय

समवाय एक संबंध है जो कार्य और कारण, द्रव्य और गुण, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्यद्रव्य के बीच रहा करता है। सूत्रकार ने यद्यपि समवाय के सम्बन्ध मे केवल इतना ही कहा था कि 'कार्य मे कारण जिससे रहता है वह समवाय है[3] किन्तु भाष्यकार प्रशस्त पाद ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'अयुतसिद्ध आधार आधेय

१. सिद्धान्त चन्द्रिका। २. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १६९-७० ।

३. वैशेषिक ७. २. २६

भाव से अवस्थित द्रव्य गुण कर्म सामान्य और विशेष पदार्थो का कार्य कारण भाव होने पर अथवा कार्य कारण भाव के अभाव में भी 'इसमें यह है' इस ज्ञान का कारण भूत सम्बन्ध **समवाय** है ।[१] अन्नं भट्ट ने समवाय की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'नित्य सबंध को **समवाय** कहते हैं' ।[२] यह सम्बन्ध उन दो वस्तुओं के बीच होता है जो कभी पृथक् नही हो सकते जैसे अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् जाति व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य । समवाय नित्य सम्बन्ध है, जबकि सयोग सम्बन्ध, जो कि गुण है, अनित्य सम्बन्ध है । अयुतसिद्ध वे पदार्थ कहे जाते है जो पृथक् नही रह सकते अपितु एक दूसरे पर आश्रित है । जैसे: घट एव कपाल, या घट एव घटगुण । अयुत शब्द का व्युत्पत्ति लब्ध अर्थ भी यही है कि 'जो न तो सयुक्त सिद्ध किये जा सके और न विभाजित' । इस प्रकार के केवल पाच युग्म हैं जिन्हे ऊपर की पक्तियो में गिनाया जा चुका है ।

समवाय पदार्थ और उसका नित्यत्व अन्य 'भाव' पदार्थों की भाति हा नैयायिको ने तर्क के आधार पर सिद्ध किया है । उनका तर्क है कि जैसे 'इस कुण्डी में दही है' 'इस घर मे मनुष्य हैं' यह ज्ञान दही और कुण्डी, घर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध रहने पर ही सभव हो पाता है इसी प्रकार इस द्रव्य में गुण कर्म और जाति हैं, इस गुण मे गुणत्व है, इस कर्म मे कर्मत्व है, परमाणुओ मे विशेष है यह ज्ञान भी सम्बन्ध के बिना सभव नही है। यह सम्बन्ध सयोग नही हो सकता, क्योंकि सयोग युतसिद्ध पदार्थो मे ही सम्भव है, सयोग के लिए निमित्त के रूप में कर्मान्तर का होना आवश्यक है, सयोग के साथ विभागान्तर का होना भी अनावश्यक है अत: इन स्थलो में सयोग सम्बन्ध नही माना जा सकता, फलत: यह सम्बन्धान्तर ही होगा जिसे यहा **समवाय** कहा गया है । समवाय का नित्यत्व सम्बन्धात्मक है, क्योंकि यह सम्बन्ध न तो उत्पन्न होता है न विनष्ट ही होता है, जब तक कि वस्तु का ही उत्पत्ति या विनाश न हो । द्रव्यादि की उत्पत्ति और विनाश के साथ ही सम्बन्ध की स्थिति है । अन्नभट्ट आदि अधिकांश वैशेषिक इसे इन्द्रियग्राह्य दो पदार्थों के ही सम्बन्ध के रूप मे स्वीकार नहीं करते, क्योंकि अतीन्द्रिय आकाश और शब्द के मध्य भी यही सम्बन्ध रहता है।

समवाय पदार्थ न्याय वैशेशिक दर्शन का आधार स्तम्भ है, समवाय के

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १७१ २. तर्क संग्रह १६५

आधार पर ही सम्पूर्ण **कारणवाद** तथा **परमाणुवाद** के सिद्धान्त स्थिर हैं। इसी आधार पर इन्हें कल्पनावादी से यथार्थवादी की श्रेणी में अलग किया जा सकता है। न्याय के विद्यार्थियों के लिए जहां **समवाय** कुञ्जी है, वहीं सांख्य और वेदान्त ने इसे ही आधार मानकर न्याय का खण्डन किया है। शंकराचार्य ने **समवाय** सिद्धान्त की निर्बलता के प्रसङ्ग में कहा है कि 'चूंकि संयोग गुण है अतः उसका द्रव्य से सम्बन्ध किसी सम्बन्ध विशेष से होगा और वह सम्बन्ध ही **समवाय** है, तथा यह समवाय दो पदार्थों का सम्बन्ध मात्र है, तो अब प्रश्न यह है कि **समवाय** भी दोनों पदार्थों में किस सम्बन्ध से रहता है, क्या अतिरिक्त समवाय से ? यदि हां तो उस समवाय के लिए भी अन्य समवाय मानना होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित होगा। इस अनवस्था से बचने के लिए यदि न्याय वैशेषिक **समवाय** को गुण न मानकर अतिरिक्त पदार्थ मानता है एवं तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्यादि में उसकी विद्यमानता स्वीकार करता है तो संयोग को ही इसी रूप में अर्थात् द्रव्यादि में तादात्म्य सम्बन्ध से अवस्थित क्यों न मान लिया जाए' ?[१] इसीलिए वे समवाय सम्बन्ध को नहीं मानते। संयोग सम्बन्ध सर्वत्र अनित्य होता हो, कर्मान्तर जनित होता हो तथा विभागान्तावस्थायी होता हो ऐसी बात नहीं है, काल तथा आकाश का परमाणु से संयोग नित्य ही है, इसके लिए हेतु के रूप में कर्मान्तर की आवश्यकता नहीं होती, और न यह विभागान्त अवस्थायी ही है। यदि संयोग द्रव्यान्तर संयोग के समय अनित्य रहता है, यह कहा जाये, तो यही स्थिति समवाय की भी है, वह भी तो वस्तु की उत्पत्ति और विनाश के साथ-साथ उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है। समवाय को यदि कार्य कारण के सम्बन्ध के रूप में ही मानना है तो कारण को ही कार्य में तादात्म्य सम्बन्ध से क्यों न स्वीकार कर लिया जाए ? समवाय के मूल अयुतसिद्धत्व पर भी शंकराचार्य ने दृढ़ आक्षेप किया है उनका कहना है कि गुण और गुणी, अवयव और अवयवी दो वस्तुवें ही नहीं हैं फिर उनके सम्बन्ध के लिए समवाय की मान्यता का कोई प्रश्न ही नहीं रहता।[२] इस प्रकार न्याय वैशेषिक विचार धारा का मूल आधार 'समवाय' स्वयं ही आधारहीन सिद्ध हो जाता है।

अभाव

जैसाकि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है प्राचीन वैशेषिकों ने केवल भाव

---

१. वेदान्त सूत्र शांकरभाष्य २. २. १३

२. वही २. २. १३।

पदार्थों का ही विवेचन किया था, अतएव वैशेषिक सूत्रो तथा प्रशस्तपाद-भाष्य मे अभाव का उल्लेख नही मिलता। सप्त पदार्थों के लेखक शिवादित्य ने सर्वप्रथम अभाव पदार्थ का विवेचन किया है। इस अभाव पदार्थ को स्वीकार करने के कारण ही वैशेषिक शक्ति नामक अन्य पदार्थ तथा तमस् नामक दसम द्रव्य की मान्यता से बच पाते है। इस प्रकार एक अभाव पदार्थ को स्वीकार करने से वे अनेक स्थानो पर गौरव से बच जाते हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक वैलेण्टाइन (Ballantyne) आदि ने भी '**निगेशन**' (Negation) के रूप मे इसे स्वीकार किया है। कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने इसे **नानइक्जिस्टेन्स** (Non-existence) नाम से स्वीकार किया है, किन्तु यह नाम अभाव मात्र के लिए प्रयुक्त न कर अन्योन्याभाव के लिए प्रयुक्त करना अधिक अच्छा होगा।

सामान्य रूप से अभाव चार प्रकार का माना गया है—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वसाभाव, (३) अत्यन्ताभाव (४) अन्योन्याभाव।

प्रागभाव :—अनादि काल से वस्तु की उत्पत्ति के पूर्व क्षण तक विद्यमान वस्तु के अभाव को प्रागभाव कहते है। **प्रध्वंसाभाव**:—वस्तु के विनाश काल से लेकर अनन्त काल तक विद्यमान वस्तु के अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते। **अत्यन्ताभाव** : वस्तु जहा है उस स्थल या उस काल को छोड़कर शेष समस्त भूतल पर विद्यमान त्रिकाल संबद्ध अभाव को अत्यन्ताभाव कहा जाता है। **अन्योन्याभाव** :—एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सापेक्ष अभाव अन्योन्याभाव कहाता है।

विश्वनाथ ने अभाव के सर्व प्रथम दो भेद किये हैं–(१) ससर्गाभाव (२) अन्योन्याभाव, तथा ससर्गाभाव को पुनः तीन खण्डों मे विभाजित किया है।[१] उनके अनुसार **अन्योन्याभाव** प्रतियोगि आश्रित अभाव को कहते है। इस अभाव मे एक वस्तु की विद्यमानता मे अन्य वस्तु का अभाव तथा एक वस्तु के अभाव में अन्य वस्तु की सत्ता अनिवार्यतः रहती है। **संसर्गाभाव** किसी वस्तु या द्रव्य का पूर्ण अभाव कहा जाता है, जैसे-इस भूमि पर घडा नही है (इह भूतले घटो नास्ति) इस वाक्य द्वारा वस्तु (घडा) का अभाव पूर्णतः प्रतिपादित होता है। इसी प्रकार **प्रागभाव** और **प्रध्वंसाभाव** मे भी काल विशेष मे द्रव्य का पूर्ण अभाव अभिहित होता है, जबकि **अन्योन्याभाव** केवल दो वस्तुओ का भेद सिद्ध करता है। अथवा यो कह सकते है कि **संसर्गाभाव** में

१. कारिकावली १२-१३

एक अधिकरण मे किसी द्रव्य आदि का अभाव बताया जाता है, जबकि **अन्योन्याभाव** में दो वस्तुओं को एक दूसरे का अभाव। इस प्रकार **अन्योन्याभाव** का अन्तर्भाव किया जाना सम्भव नही है ।

अन्योन्याभाव में दोनों अधिकरणों या प्रतियोगियों को एक कारक में रखते हुए वाक्य रचना की जाती है, जबकि **संसर्गाभाव** में प्रत्येक प्रतियोगी को भिन्न कारक में रखना अनिवार्य होता है । जैसे:—'घट: पटो न' यहां अन्योन्याभाव है एव 'अत्रगृहे घटो न' इस वाक्य में संसर्गाभाव है । कुछ लोगों का कहना है कि 'वह घडा वस्त्र नहीं है, (घट: पटो न) इसी बात को घड़े मे पटत्व नही है (घटे पटत्व नास्ति) और 'पट में घटत्व नही है' (पटे घटत्वं नास्ति) वाक्यान्तर से भी कहा जा सकता है, चूंकि प्रथम वाक्य मे अभाव की प्रतीति **अन्योन्याभाव** के रूप में तथा द्वितीय वाक्य में **संसर्गाभाव के** रूप मे होती है, अत: दोनों मे वास्तविक भेद न होकर शाब्दिक भेद है ।"[1] वस्तुत: यह कथन उपयुक्त नही है, कारण कि प्रथम वाक्य मे घट और पट में भेद की प्रतीति होती है जबकि द्वितीय वाक्य मे घट में पटत्व और पट में घटत्व जाति का अभाव सूचित होता है, अत. दोनों वाक्यों को समानार्थक नहीं कहा जा सकता । हा **प्रागभाव** को वस्तु की अनुत्पत्ति तथा **प्रध्वंसाभाव** को वस्तु का बिनाश अवश्य कहा जा सकता है ।

अभाव की लघुतम परिभाषा '**भावभिन्नत्व**' की जा सकती है । सिद्धान्त चन्द्रोदय मे 'प्रतियोगिज्ञानाधीनविषयत्व' [अर्थात् 'जिस वस्तु का अभाव है उस वस्तु के ज्ञान के आधीन किन्तु ज्ञानान्तर का विषय होना' अभाव का लक्षण दिया गया है । विश्वनाथ ने 'द्रव्यादि छ पदार्थों में से किन्ही की सत्ता के साथ अन्य की असत्ता' यह लक्षण दिया है । अभाव का यह लक्षण स्वयं भी अभाव पर आश्रित है, अत: उचित नही है ।[2] सर्व दर्शन सग्रह में 'समवाय से भिन्न होते हुए भी जो समवाय सम्बन्ध की अपेक्षा नही रखता वह अभाव है, ऐसा लक्षण दिया गया है; नैयायिक अभाव को अनुयोगी* में विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध से युक्त मानते हैं । '**घटाभाव युक्त भूतल**' है' इस वाक्य मे **भूतल** विशेष्य तथा **घटाभाव** विशेषण हैं ।

---

१. Notes on tarkasangrha : By Bodas p. 100

* 'यत्राभाव: स अनुयोगि', अर्थात् जहां किसी वस्तु का अभाव है उसे अनुयोगी कहते हैं ।

२. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली पृ० ६१

वेदान्ती अभाव की मान्यता से सहमत नही हैं उनका कहना है कि अभाव की मान्यता एक शाब्दिक कल्पना मात्र है। यदि वस्तुतः अभाव भिन्न पदार्थ हो तो पटाभाव और घटाभाव मे कुछ वास्तविक अन्तर होना चाहिए। किन्तु अन्तर वास्तविक न होकर केवल काल्पनिक या आरोपित है ,। विशेषण का भी कोई रूप होता है, विशेषण द्वारा विशेष्य मे कोई वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है किन्तु घटाभाव से युक्त भूतल है (घटाभाववद्भूतलम) मे घटाभाव अभावात्मक विशेषण ही है, फलतः भूतल मे कोई वैशिष्ट्य उत्पन्न नही होता। सभवत इसीलिए कणाद ने पदार्थों के परिगणन मे **अभाव** का कोई उल्लेख नही किया था। यद्यपि परवर्त्ती विद्वान् 'कारणाभावात्कार्याभावः'[१] तथा 'असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम्,'[२] सूत्रो मे अभाव शब्द का प्रयोग देख कर **अभाव** पदार्थ को कणाद सम्मत कहते है। उदयनाचार्य के अनुसार '**अभाव पदार्थ**' के उल्लेख न होने का कारण अभाव पदार्थ का न होना नही है अपितु पदार्थो का निर्देश केवल प्रधानतया कर दिया गया है, स्वरूपवान् होते हुए भी अभाव का निर्देश उनके द्वारा केवल इसलिए नही किया गया कि जिन पदार्थों का अभाव बताना है उनके निरूपण पर ही उनके अभाव का निरूपण आश्रित है।[३]

इति पदार्थ विमर्शः

—:०:—:०:—

१. वैशेषिक सूत्र १५६। २. वैशेषिक सूत्र ३२६

३. किरणावली-पदार्थ प्रकरण।

२

द्रव्य विमर्श[1]

पृथिवो :—

कणाद ने 'रूप रस गन्ध स्पर्श युक्त को पृथिवी कहा था'[1] किन्तु रूपवान् जल और अग्नि भी हैं, रस जल में भी है अतः लक्षण वाक्य में इनका समावेश उपयुक्त नही है, ऐसा मानकर परवर्त्ती विद्वानों ने '**गन्ध युक्त पृथिवी** है' इतना ही कहा है।[2] आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार 'पृथिवीत्व से युक्त को **पृथिवी** कहा जाता है,[3] किन्तु यह लक्षण लक्ष्य का परिचय कराने वाला होने की अपेक्षा शाब्दिक अधिक हो गया है। इसलिए '**गन्ध युक्त होना**' ही पृथिवी का उपयुक्त लक्षण कहना चाहिए 'गन्ध युक्त' का अर्थ है **गन्ध का समवायिकारण** होना। गन्ध युक्त में गन्ध का योग समवाय सम्बन्ध से विवक्षित है, अन्यथा दिशा और काल मे भी दैशिक और कालिक सम्बन्ध से गन्ध योग है, अतः अतिव्याप्ति दोष हो सकता है।

अन्नभट्ट ने तर्कदीपिका में इस लक्षण में तीन दोषो की उद्भावना की है।[4] उनका कहना है कि गन्ध केवल दो प्रकार का माना गया है : सुरभि और असुरभि, किन्तु जब सुरभि युक्त और असुरभि युक्त दो समवायिकारणों के संयोग से कोई कार्य उत्पन्न होता है तो वहा सुरभि और असुरभि गन्धों को मिलकर या तो दोनों का ही विनाश मानना होगा अथवा दोनो के संयोग से युक्त 'चित्रगन्ध' की कल्पना करनी होगी; जबकि ऐसे स्थलों पर गन्धाभाव अथवा चित्रगन्ध दोनो ही वैशेषिकों को अमान्य हैं। किन्तु इसका समाधान बहुत ही स्पष्ट है कि दो समवायिकारणों से उत्पन्न द्रव्य के एक अंश में सुरभि तथा दूसरे अंश में असुरभि गन्ध की स्थिति मानी जा सकती है।

---

१. वैशेषिक सूत्र २,१,१,

२. तर्क संग्रह पृ० २६

३. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १०

४. तर्कदीपिका पृ० २७-२८

इस लक्षण पर दूसरी शका यह कि प्रथम क्षण में प्रत्येक द्रव्य निर्गुण और निष्क्रिय रहा करता है, अतः उस स्थिति मे यह लक्षण संगत न हो सकेगा; किन्तु इस शंका का समाधान द्रव्य लक्षण मे किये गये ढंग से ही हो जाएगा, अर्थात् 'गन्ध के साथ रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य (पृथिवीत्व) जाति से युक्त को पृथिवी कहते है, इस प्रकार की व्याख्या से इस दोष की निवृत्ति हो जाएगी ।

इस लक्षण मे तीसरा दोष 'जल मे गन्ध की प्रतीति तथा पाषाण मे गन्ध की अप्रतीति से होता है', किन्तु वस्तुत जल मे गन्ध की प्रतीति विद्यमान नही है वह तो जल मे मिश्रित पार्थिव अश में विद्यमान है। इसी प्रकार पाषाण मे वस्तुतः गन्ध का अभाव नही है अपितु वहा विद्यमान होकर भी गन्ध अप्रकट या तिरोहित है इसीलिए पाषाण से निर्मित भस्म मे गन्ध की अनुभूति होती ही है ।

पृथिवी-गुणः—

कणाद ने यद्यपि पृथिवी के लक्षण के प्रसङ्ग मे केवल रूप रस गन्ध और स्पर्श गुणो की चर्चा की थी किन्तु अन्य प्रसङ्ग मे उन्होने अन्य गुणो का भी यथा स्थान उल्लेख किया था, इसीलिए आचार्य प्रशस्त पाद ने सकलन करके **रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व तथा संस्कार** इन चौहद गुणों की सत्ता स्वीकार की थी ।[१] विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यो ने भी इसे ही स्वीकार किया है ।[२]

पृथिवी दो प्रकार की मानी जाती है, नित्य पृथिवी तथा अनित्य पृथिवी । **अनित्य पृथिवी** पुनः तीनः भागो मे विभाजित की जाती है : **शरीर, इन्द्रिय, और विषय** ।[३] अन्नभट्ट ने पृथिवी का यह पुनः विभाजन अनित्य पृथिवी का न मानकर पृथिवी मात्र का माना है । इस दृष्टि से परमाणु ज्ञान का विषय होने के कारण विषय माने जा सकते है ।

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११ २. कारिकावली ३१.

३. (क) वैशेषिक सूत्र १७० (ख) प्रशस्तपादभाष्य पृ० १२ ।

शरीरः—

सामान्यतः **'आत्मा के लिए भोग प्राप्ति का आश्रय शरीर है' शरीर** का यह लक्षण किया जाता है,[1] किन्तु स्पष्टता के लिए जो 'चेष्टा (क्रिया) का आश्रय हो साथ ही अन्तिम अवयवी भी हो, यह लक्षण अधिक उपयुक्त है ।[2] अन्तिम **अवयवी** शब्द का अर्थ है कि जो स्वय तो अनेक अवयवो मे उत्पन्न हो किन्तु सयुक्त होकर दूसरे अवयवी का समवायि कारण न बनता हो ।[3] न्याय दर्शन मे **शरीर** को चेष्टा इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय कहा गया है ।[4] शरीर दो प्रकार का है **योनिज** और **अयोनिज** । शुक्र और शोणित के संयोग से उत्पन्न शरीर को **योनिज** कहते हैं। योनिज शरीर भी **जरायुज** और **अण्डज** भेद से दो प्रकार का है । शुक्र और शोणित के सम्पर्क के बिना ही उत्पन्न शरीर को **अयोनिज** कहते हैं। जैसे – देवर्षियो का शरीर धर्म विशेष के कारण अणुओ से ही उत्पन्न होता है । इसी प्रकार क्षुद्र जन्तुओ के यातनामय शरीर भी अधर्म विशेष के कारण अणुओ से ही उत्पन्न होते है ।[5]

इन्द्रियः—

पृथिवी का द्वितीय विभाग **इन्द्रिय** रूप है । **'जो शब्द से अतिरिक्त उद्भूत विशेषगुण[6] का आश्रय न हो, साथ ही ज्ञान के कारण भूत मनस् के संयोग का आश्रय हो, उसे इन्द्रिय कहते हैं ।[7]** चूंकि ज्ञान के कारण भूत मन के सयोग का आश्रय आत्मा भी है, इन्द्रिय लक्षण उसमे अतिव्याप्त न हो, इसलिए लक्षण वाक्य में 'शब्द से अतिरिक्त विशेषगुण का आश्रय न हो'[7] इस अंश का समावेश किया है । आत्मा चूंकि बुद्धि सुख दुःख आदि अनेक विशेष गुणों का आश्रय है अतः यह लक्षण उसमे अतिव्याप्त न होगा । लक्षण वाक्य में शब्द से अतिरिक्त विशेष गुणो का ही निषेध किया गया है शब्द का नहीं, अत: शब्द का आश्रय आकाश श्रोत्र कुहर गत होने पर **इन्द्रिय** कहाता ही है ।

---

१. (क) न्यायमञ्जरी पृ० ४५ (ख) तर्कदीपिका पृ० २९

२. वैशेषिक दर्शन उपस्कार भाष्य । पृ० १२४

३. न्याय दर्शन विश्वनाथ वृत्ति १. १. ११. ४. न्याय दर्शन १.१.११

५. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३

६. विशेषगुणों के परिचय के लिए प्रथम अध्याय गुण-विवेचन द्रष्टव्य है।

७. उपस्कार भाष्य पृ० १२४

चूंकि इन्द्रियां पार्थिव जलीय तैजस आदि होती है, अतः उनमें पृथिवी आदि के गुणो का होना आवश्यक ही है, अन्यथा उन्हे पार्थिव आदि नही कह सकते एवं विशेष गुणों की सत्ता रहने पर उनमें इन्द्रिय लक्षण अव्याप्त होगा; उस अव्याप्ति निवारण के लिए लक्षण में विशेष गुणों के विशेषण के रूप में उद्भूत शब्द दिया गया है; फलतः घ्राण आदि इन्द्रियों मे लक्षण की अव्याप्ति न होगी।

उपर्युक्त लक्षण के अतिरिक्त इन्द्रिय के कुछ अन्य लक्षण भी प्राप्त भी प्राप्त होते हैं: जैसे–'शरीर से सयुक्त तथा अतीन्द्रिय हो, ज्ञान की उत्पत्ति मे कारण हो'; एवं 'स्मृति उत्पन्न न करने वाली तथा ज्ञान को उत्पन्न करने में मन के संयोग का आश्रय हो' उसे **इन्द्रिय** कहते है,[१] इत्यादि। इन्द्रियां दो प्रकार की है : **आन्तरिक और बाह्य**। बाह्य इन्द्रिया पांच है. – श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना (जिह्वा) तथा नासिका। नैयायिको के अनुसार इनमे श्रोत्र, त्वचा और रसना केवल गुण ग्राहक है।[२]

विषयः—

विषय का अर्थ **ज्ञान का विषय होकर भोग के लिए उपयोगी होना है**।'[३] चूंकि अतीन्द्रिय परमाणु भोग के विषय नही हो सकते इसलिए उन्हे **विषय नहीं** माना जाता। विश्वनाथ ने इसीलिए द्व्यणुकादि से ब्रह्माण्ड पर्यन्त को ही विषय माना है, परमाणु को नही।[४] शरीर और इन्द्रिय भी ज्ञान के विषय हो सकते हैं फिर भी इनका पृथक् ग्रहण केवल स्पष्टता के लिए किया गया है।[५] वृक्ष आदि **शरीर** हैं या **विषय** यह प्रश्न नैयायिकों के समक्ष बहुत समय तक रहा है। वैशेषिकसूत्र के भाष्यकार शकरमिश्र ने वृक्ष में चेष्टा और इन्द्रियों की स्पष्ट सत्ता प्रगट न होने के कारण उसे **शरीर** नही माना है।[६] तर्कसंग्रहकार अन्नभट्ट भी इसी मत को स्वीकार करते है। वैशेषिक के भाष्यकार प्रशस्तपाद वृक्ष आदि को शरीर न मानकर **विषय** ही

---

१. (क) तत्व चिन्तामणि। (ख) उपस्कार भाष्य पृ० १२४

२. कारिकावली–५३-५६।   ३. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ. १६२

४. भाषा परिच्छेद ३८

५. (क) न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ. १६४   (ख) सिद्धान्त चन्द्रिका।

६. वैशेषिक उपस्कार ४. २. ५.

मानते हैं[१]; किन्तु भाषा परिच्छेदकार विश्वनाथ ने इन्हें अयोनिज शरीर स्वीकार किया है।[२]

जल-तेजस्

शीत स्पर्श युक्त को **जल**, तथा उष्ण स्पर्श युक्त को **तेजस् (अग्नि)** कहा जाता है। इनका विभाजन पृथिवी के समान ही है। जलीय शरीर वरुण लोक में तथा तैजस् शरीर आदित्य लोक मे विद्यमान रहता है। जलीय इन्द्रिय रसना तथा तैजस् इन्द्रिय नेत्र है। शरीर के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि पार्थिव शरीर में पार्थिव परमाणुओं की प्रधानता होती है अत एव उसे 'पार्थिव-शरीर' कहा जाता है यद्यपि जल आदि के परमाणु भी निमित्त के रूप में विद्यमान अवश्य रहते हैं।[३] यही स्थिति जलीय शरीर आदि की है इनमें यथाशरीर जल आदि की प्रधानता रहती है तथा शेष द्रव्यों के परमाणु निमित्त के रूप में विद्यमान रहते हैं।[४] दूसरी बात यह है कि पार्थिव शरीर **योनिज** और **अयोनिज** दोनों प्रकार का होता है जबकि **जलीय** आदि केवल **अयोनिज** ही होते है योनिज नही।[५]

जलीय इन्द्रिय **रसना** जिह्वाग्र पर स्थित है, तथा तैजस इन्द्रिय **चक्षु** कृष्णताराग्रवर्ती है। नैयायिकों के अनुसार श्रोत्र, त्वचा, रसना और घ्राण अपने स्थान पर अवस्थित रहते हैं तथा इन्द्रिय स्थान पर ही उपस्थित विषय का साक्षात्कार करते हैं, किन्तु नेत्र (चक्षु) विषयस्थल पर पहुच कर विषय का ग्रहण करता है।[६] किन्तु नवीन विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि चक्षु में प्रकाश पहुंचने के लिए कृष्णतारा द्वार है। नेत्र इन्द्रिय उसके अति-रिक्त रेटिना (Retina) है। सूर्य आदि के प्रकाश के कारण विषय की प्रतिच्छाया उस पर पड़ती है एव 'रेटिना' में विद्यमान शक्ति उसका ग्रहण करती है।

---

१. प्रशस्त पाद भाष्य पृ० १३

२. भाषा परिच्छेद पृ० १५७, १५६।

३. भाषा परिच्छेद पृ० १५८ ४. भाषा परिच्छेद पृ० १८६

५. उपस्कार भाष्य ४. २. ५

६. (क) न्याय दर्शन वात्स्यायन भाष्य पृ० १४२

(ख) न्याय दर्शन विश्वनाथ वृत्ति पृ० ६२

(ग) न्याय मंजरी प्रमेय प्रकरण पृ० ५०

जलीय **विषय** नदी और समुद्र आदि है'[१]। तैजस विषय चार प्रकार का है . **भौम** : पृथिवी पर विद्यमान अग्नि । **दिव्य** : जल से बढ़ने वाली विद्युत तथा सूर्य सम्बन्धी अग्नि । **औदर्य** : शरीर में पाचन आदि क्रिया की हेतु उदरस्थ अग्नि । **खनिज** सुवर्ण आदि ।[२]

यद्यपि सुवर्ण में पीत (सुनहला) रग तथा गुरुत्व (भारी पन) आदि कुछ ऐसे गुण विद्यमान है, जो केवल पृथिवी में ही रहा करते है, फिर भी नैयायिक सुवर्ण को **पार्थिव** न मानकर **तैजस** ही मानते है । उनका तर्क है कि **द्रवत्व** दो प्रकार का है : **स्वाभाविक** (सासिद्धिक) और **नैमित्तिक** । **नैमित्तिक द्रवत्व** पृथिवी और तेजस् दो द्रव्यो मे रहता है, घृत मे **नैमित्तिक द्रवत्व** है, साथ ही उसमे गन्ध गुण भी है, अतः उसे पार्थिव माना जाता है । यह **नैमित्तिक द्रवत्व** अग्नि सयोग मे जल जाता है। सुवर्ण मे भी **नैमित्तिक द्रवत्व** है उसमे गन्ध गुण की सत्ता नही है साथ ही वह अत्यन्त अग्नि के सयोग से प्रज्वलित भी नही होता, अतः वह **पार्थिक** नहीं हो सकता, निदान पार्थिव से भिन्न नैमित्तिक द्रवत्व युक्त होने से सुवर्ण **तैजस** है ।[३] मीमासको ने धातु रूप एक पृथक् द्रव्य स्वीकार किया है, किन्तु नैयायिक उससे सहमत नही है ।

वायु

वायु रूप रहित स्पर्श गुण युक्त द्रव्य है, इस का विभाजन भी पृथिवी आदि के समान नित्य और अनित्य के रूप में किया जाता है। साथ ही वह पृथिवी आदि के समान परमाणु रूप मे नित्य' तथा शरीर इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का अनित्य है। प्रशस्तपाद आदि प्राचीन आचार्य **प्राण** को मिलाकर **अनित्य (कार्य) वायु** के चार भेद स्वीकार करते है ।[४] किन्तु **प्राण** वस्तुत. शरीर के अन्तर्गत चलने वाले वायु को ही कहते है, अतः इसकी गणना शरीर, इन्द्रिय या विषय के अन्तर्गत ही होनी चाहिए पृथक् नही, किन्तु ऐसा पता चलता है कि यह प्रश्न नव्य नैयायिको मे चिर काल तक विचारणीय बना रहा है, तर्कसग्रह के रचना काल तक भी अन्नभट्ट सभवतः किसी एक निर्णय पर न पहुच सके थे, इसीलिए उन्होने कार्य वायु के तीन भेद वता कर प्राण आदि का पृथक् परिगणन किया है तर्क दीपिका में

---

१. तर्क संग्रह पृ० ३३ २. वही पृ० ३४

३. भाषा परिच्छेद पृ० १७९ ४. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १७

'ननु प्राणस्य कुत्रान्तर्भावः' प्राण का अन्तर्भाव कहा होगा' इस प्रश्न को देखकर ऐसा पता चलता है मानों वे अपना कुछ अभिमत प्रगट करना चाहते हो, किन्तु उत्तर मे **'शरीरान्तः संचारी'** इत्यादि देखकर निराश होना पडता है। विश्वनाथ ने प्राण आदि का अन्तर्भाव विषय में किया है, वे कहते हैं 'प्राण से लेकर महावायु पर्य्यन्त सभी इसके विषय हैं,।[1] पृथिवी आदि के समान वायव्य शरीर वायुलोक मे माना जाता है । इन्द्रियो मे त्वचा वायवीय इन्द्रिय है। अन्य इन्द्रिया शरीर के किसी एक भाग मे अवस्थित रहती है, किन्तु त्वचा सर्व शरीर व्यापी इन्द्रिय है।

प्राणः—

विश्वनाथ के अनुसार प्राण आदि वायु के **विषय** हैं। 'शरीर के अन्तर्गत चलने वाले वायु को **प्राण** कहते हैं'[2] इस परिभाषा के अनुसार यद्यपि प्राण एक ही है किन्तु हृदय आदि अनेक स्थानों मे अवस्थित होने तथा विविध कार्य होने से उसके निम्नलिखित पाच भेद माने जाते हैं · प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान[3]। इनमे **प्राण** हृदय मे स्थित रहता है, मुख और नासिका उसके प्रवेश और निर्गमन के मार्ग हैं। प्राण फेफडे मे पहुच कर रक्त मे ऑक्सिजन पहुचाते हुए प्रत्येक प्राणी के जीवन का हेतु है। **अपान** गुदा मे स्थित रहता है, तथा मल आदि को शरीर से बाहर निकालने का कार्य सम्पन्न करता है। **समान** नाभिमण्डल मे स्थित वायु को कहते हैं, खाये हुए भोजन का पाचन इसका कार्य है। कण्ठ प्रदेश मे स्थित प्राण (वायु) को **उदान** कहते है। वर्णो का उच्चारण, तथा भोजन आदि पदार्थो को मुख से उदर तक प्रेषित करना, इसके कार्य है। सम्पूर्ण शरीर मे व्यापक रहने वाले वायु को **व्यान** कहते है शरीर की प्रत्येक नस नाड़ियो मे रक्त सचार करना इसका कार्य है।[4] इनके अतिरिक्त पाच अन्य प्राणों का उल्लेख परम्परागत ग्रन्थो मे मिलता है वे है . **नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त** और **धनञ्जय**; किन्तु न्याय शास्त्र के ग्रन्थो मे इनका कहीं विवेचन नही मिलता।

वायु मे **स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग, परत्व अपरत्व,** और **वेग** ये नौ गुण विद्यमान है।[5] वायु मे रूप की सत्ता नही है इसलिए

१. कारिकावली पृ० १८६ २. तर्क सग्रह पृ० ३८
३. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १६ ४ प्रशस्तपाद भाष्य विवरण पृ० १६
५. कारिकावली पृ. १३६

प्राचीन नैयायिको के मत मे वायु का प्रत्यक्ष नही होता, क्योंकि उनकी मान्यता है कि बिना **उद्भूत-रूप** के किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष सभव नहीं है। उनके अनुसार वायु के ज्ञान के लिए निम्नलिखित प्रकार से अनुमान करना चाहिए· 'वायु के चलने पर प्रतीत होने वाला, शीत एव उष्ण स्पर्श से भिन्न स्पर्श किसी द्रव्य मे आश्रित है गुण होने से; जैसे रूप गुण सदा द्रव्य आश्रित रहता है, अतः यह स्पर्श भी द्रव्याश्रित ही है । इसे पृथिवी मे आश्रित नही कह सकते, क्योकि इस स्पर्श के साथ रूप नही है । पार्थिव उद्भूतस्पर्श जहां भी रहेगा वहा पार्थिव रूप भी प्रगट रहता ही है । इसे जलीय या तैजस स्पर्श भी नही कह सकते, क्योकि यह स्पर्श शीत एव उष्ण नही है । इसे आकाश काल आदि द्रव्यो मे आश्रित नही मान सकते, क्योकि वे विभु द्रव्य हैं, उनमे आश्रित होने पर स्पर्श भी विभु होता, अतः परिशेषात् इस स्पर्श का आश्रय वायु को ही मानना होगा ।[१] उपर्युक्त प्रकार से वायु का अनुमान करने के अनन्तर उन प्राचीन नैयायिको ने अनुमान प्रक्रिया द्वारा ही वायु को प्रत्यक्ष सिद्ध करने का प्रयत्न किया । वह अनुमान प्रक्रिया निम्नलिखित है :—**वायु प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष होने वाले स्पर्श का आश्रय होने से, जो-जो द्रव्य प्रत्यक्षस्पर्श वाले हैं वे सभी प्रत्यक्ष है, जैसे पृथिवी आदि, उसी भांति प्रत्यक्षस्पर्श का आश्रय वायु भी है, अतः वायु प्रत्यक्ष है** ।[२] किन्तु यह न्याय वाक्य उपाधि विशिष्ट होने से **व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास** युक्त होगा । व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास उसे कहते है जिस के साथ एक धर्म विशेष ऐसा विद्यमान हो जो साध्य के साथ सदा विद्यमान रहे किन्तु हेतु के साथ सर्वत्र न रह सकता हो।[३] प्रस्तुत अनुमान में प्राचीन नैयायिको के अनुसार **उद्भूत रूपवत्व** (साध्य) प्रत्यक्ष के साथ तो सदा ही रहता है किन्तु हेतु भूत प्रत्यक्ष स्पर्शाश्रयत्व के साथ नही रह सकता, अतः यह हेतु **व्याप्त्वासिद्ध हेत्वाभास** है ।[४]

वस्तुतः प्राचीन नैयायिकों की प्रत्यक्ष परिभाषा बहुत संकीर्ण है, वे केवल उस द्रव्य को ही प्रत्यक्ष मानते है जिसका **चाक्षुष प्रत्यक्ष** होता है। इसलिए उनके अनुसार जो भी द्रव्य प्रत्यक्ष का विषय हो उसमें उद्भूतरूपवत्व अवश्य होना चाहिए । 'यह उद्भूतरूपवत्व जहां नहीं है उस द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष नही हो सकता अतः वह प्रत्यक्ष नहीं है' यह सिद्धान्त मानने पर इस हेतु में '**उद्भूतरूपवत्व** उपाधि ही विद्यमान है', यह मानना होगा।

---

१. उपस्कार भाष्य २. १. १६ ।

२. उपस्कार भाष्य (पूर्व पक्ष) । पृ. ५५ ।

३. तर्क संग्रह पृ० ११४ । ४. वही पृ० ११४ ।

नव्य नैयायिक विश्वनाथ, एव शकर धूर्जटि आदि बाह्यद्रव्य प्रत्यक्ष के प्रति तीन **असाधारण कारण** (कारण) मानते है : चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति **उद्भूत रूप**, स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति **उद्भूत स्पर्श**, तथा बहिरिन्द्रियों द्वारा किया जाने वाले प्रत्यक्ष मात्र के प्रति आत्मा मे विद्यमान विशेष गुण एव शब्द से भिन्न विशेष गुण ।[१] इस प्रकार नव्य नैयायिको के अनुसार उद्भूत स्पर्श युक्त वायु का प्रत्यक्ष होगा ही ।

ऊपर की पक्तियों मे लिखा गया है कि प्राचीन नैयायिक वायु की स्थिति अनुमान द्वारा सिद्ध कहते है, किन्तु वर्त्तमान वैज्ञानिक युग मे इस अनुमान की आवश्यकता नही रह गयी है । क्योकि विज्ञान के अनुसार तीन प्रकार के द्रव्यों की स्थिति निश्चित की जा चुकी है (१) ठोस (solid) (२) द्रव (Flued) (३) गैस (gaseus), इस विभाजन के अनुसार पृथिवी ठोस है, जल द्रव है, और वायु गैस रूप है । ये तो प्रत्यक्षतः स्वय सिद्ध हैं । अब प्रश्न केवल तेज का रह जाता है, इसे इन तीनों में कहां रखा जाये ? ठोस द्रव्याश्रित होने के कारण इसे पृथिवी में रखना चाहिए किन्तु नैयायिक इसे उष्ण स्पर्श तथा भास्वरशुक्ल रूप के कारण पृथक् मानते हैं, वैज्ञानिक इस उष्ण स्पर्श ओर भास्वर शुक्ल रूप को रासायनिक प्रक्रिया का ही परिणाम मानता है । तेज को पृथक् द्रव्य नही । विज्ञान और दर्शन के बीच एक द्रव्य के विषय में जो मतभेद है उसका कारण सम्भवतः यह है कि भारतीय दर्शन (न्याय) के विकास के समय 'उष्णता और भास्वर शुक्ल गुण की उत्पत्ति रासानियक प्रक्रिया से हो सकती है' इस बात का ज्ञान भारतीय दार्शनिको को न था, इसीलिए उन्होने तेज को पृथक् द्रव्य स्वीकार किया था ।

सृष्टि-उत्पत्ति क्रमः —

नैयायिकों के अनुमार अब तक वर्णित द्रव्यों : पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के परमाणुओं के द्वारा ही सृष्टि का निर्माण हुआ करता है । उसकी प्रक्रिया यह है कि 'ईश्वर को इच्छा से परमाणुओं में गति प्रारम्भ होती है एवं गतिशील दो परमाणुओ में सयोग होता है, इन सयुक्त परमाणुद्वय से द्व्यणुक का जन्म होता है । पुनः तीन द्व्यणुकों के सयोग से **त्रसरेणु** का जन्म होता है, इसी त्रसरेणु को **त्र्यणुक** या **त्रुटि** कहते हैं । इन चार त्रसरेणुओं के संयोग से **चतुरणुक** की उत्पत्ति होती है, इसी क्रम से **महती पृथिवी** आदि जन्म लेते हैं । आचार्य प्रशस्त पाद इसी प्रक्रिया से सर्व प्रथम वायु की उत्पत्ति,

---

१. (क) मुक्तावली पृ० २४३ । (ख) सिद्धान्त चन्द्रिका ।

पुन. जल की तदनन्तर पृथिवी की, इस के अनन्तर उस महोदधि मे अग्नि की उत्पत्ति होती है[1] ऐसा मानते है ।

विनाश क्रमः —

विनाश क्रम मे नव्य तथा प्राचीन नैयायिकों मे मतभेद है—प्राचीन नैयायिको के अनुसार सर्वप्रथम द्व्यणुक के समवायिकारण परमाणुद्वय मे विभाग अथवा द्व्यणुक के असमवायिकारण सयोग का नाश होने से परमाणु द्वय के सयोग का नाश होता हैं । उसके बाद त्रसरेणु के समवायिकारण द्व्यणुकों मे नाश होने से त्रसरेणु का विनाश हो जाता है, इस प्रकार जिस क्रम से उत्पत्ति होती है उसी क्रम से कारणनाश पूर्वक कार्यनाश होता है ।

नव्य नैयायिक द्व्यणुक के नाश के लिए असमवायिकारण का नाश तथा शेष त्रसरेणु आदि के नाश के लिए समवायिकारण का नाश मानने में गौरव का दर्शन कर, केवल असमवायिकारण (समवायि कारण में विद्यमान सयोग) के नाश को ही विनाश के प्रति हेतु मानकर विनाश कि प्रक्रिया अन्तिम कार्य से प्रारम्भ करते है। वेदान्त में भी नव्य न्याय स्वीकृत प्रक्रिया को ही स्वीकार किया गया है । शकराचार्य ने तो प्राचीन न्याय की प्रक्रिया का अच्छा परिहास किया है : वे लिखते है कि 'प्राचीन नैयायिकों के विनाश क्रम में द्व्यणुक के विनाश के बाद महापृथिवी के विनाश तक कुछ क्षणों का समय तो अवश्य लगेगा ही, उस मध्यकाल में कार्य बिना समवायिकारण के ही स्थित रहेगा । यदि कोई यह कहे कि उस समय कार्य अवान्तर समवायिकारण (परमाणुओं) पर आश्रित रहेगा, तो वह ठीक नहीं है क्योकि महाकार्य से परमाणुओं का साक्षात्सम्बन्ध ही नहीं है । घट का परमाणुओं से सम्बन्ध द्व्यणुक आदि की परम्परा से है ।[2] शकराचार्य की इस मान्यता को समझने के लिए एक लौकिक उदाहरण पर्याप्त होगा : प्राचीन नैयायिकों के अनुसार नीव दीवाल और छत के क्रम से बने हुए भवन के विनाश के लिए सर्व प्रथम नीव गिरायेगे, पुनः दीवाल और फिर छत । इस क्रम में प्राचीन नैयायिकों का भवन एक क्षण बिना नीव के रह सकेगा, तथा नीव के विनाश के बाद भी दो क्षण छत स्थिर बनी रहेगी । सृष्टि विनाश क्रम की वेदान्त दर्शन सम्मत नव्य नैयायिको की प्रक्रिया वस्तुतः विचारणीय है : लोक में एक वृक्ष विनाश

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ. २१-२२ ।

२. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-२. ३. १४

(वृक्ष को काटने) की प्रक्रिया ऊपर से प्रारम्भ न करके यथा सम्भव नीचे से ही प्रारम्भ की जाती है, चिकित्सा के प्रसङ्ग मे भी रोग सम्बन्धी उपद्रवो की शान्ति के उपाय न करके रोग के मूल को ही दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। प्रज्वलित अग्नि को शान्त करने के लिए ज्वाला (लपटो) को शान्त करने का प्रयत्न न करके अग्नि इन्धन के सयोग के नाश का ही प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार मूल भूत कार्य द्व्यणुक के कारण परमाणुद्वय के सयोग नाश की प्राचीन नैयायिको की कल्पना अनुचित नहीं है ।

प्रलयः—

नैयायिक प्रलय दो प्रकार का मानते है, **अवान्तर प्रलय** तथा **महाप्रलय**। प्रलय सिद्धि के लिए वे **'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'**[1] इस वैदिक श्रुति को उपस्थित करते है,[2] किन्तु इस श्रुति के द्वारा **अवान्तर प्रलय** की सिद्धि मे कोई सहायता नहीं मिलती, **महाप्रलय** का समर्थन अवश्य मिलता है। क्योकि इस श्रुति मे 'यथा पूर्व सूर्य और चन्द्र की रचना की बात कही गयी है, अवान्तर प्रलय मे सूर्य चन्द्र द्युलोक आदि का विनाश नहीं स्वीकार किया जाता, अन्यथा महा प्रलय और अवान्तर प्रलय मे अन्तर ही क्या रह जाएगा। अत एव इस श्रुति में महाप्रलय के बाद सृष्टि की पुन. रचना का कथन है यह मानना ही अधिक उचित होगा।

परमाणु वाद

भारतीय दर्शन, विशेषतः न्याय वैशेषिक, मे 'परमाणु सिद्धान्त' एक मौलिक सिद्धान्त माना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी, जल, अग्नि और वायु अनित्य तथा परमाणु जन्य है; इसी दृष्टि से वैशेषिक के नव्य अथवा प्राचीन दोनो ही ग्रन्थो में पृथिवी आदि को द्विविध बताते हुए उनका नित्य और अनित्य के रूप मे विभाजन किया जाता है। कार्य पृथिवी का विभाग पूर्वक विनाश होने पर चारों के समान रूप से ही अन्तिम अवयव के रूप मे **परमाणु** ही शेष रहते है। परमाणुओं की सिद्धि के लिए नैयायिको ने निम्नलिखित अनुमान प्रक्रिया का आश्रय लिया है—'**प्रत्येक चाक्षुषद्रव्य अथवा कार्य द्रव्य सावयव है, जो सावयव नहीं है, वह कार्यद्रव्य** या चाक्षुप नहीं है, **जैसे वस्त्र। तथा द्व्यणुक भी सावयव है क्योंकि वह महत्कार्य का आरम्भक है,**'[3] वह अवयव

---

१. ऋग्वेद १०. १९०. ३। २. तर्क दीपिका पृ० ४५।

३. (क) उपस्कार भाष्य ४. १. २. (ख) न्याय मुक्तावली पृ० १५५

(अन्तिम अवयव) ही परमाणु है। चूंकि परमाणु में पुनः अवयव की कल्पना करने में अनवस्था दोष होगा, अतः परमाणु में अवयव की कल्पना उचित नहीं है।[1] इनमें द्व्यणुक की सख्या से त्रसरेणु मे **महत्परिमाण** आरम्भ होता है, तथा उस महत्परिमाण से महापृथिवी आदि का परिमाण उत्पन्न होता है। द्व्यणुक के परिमाण को भी **महत्परिमाण** कह सकते है, किन्तु उस परिमाण की उत्पत्ति में परमाणु परिमाण कारण नही, अपितु परमाणुगत द्वित्व सख्या द्व्यणुक परिमाण की जनक है। परमाणु के परिमाणु से किसी परिमाण की उत्पत्ति नैयायिकों को अभीष्ट नही है। उनका कथन है कि परमाणु के परिमाण से किसी द्रव्य के परिमाण की उत्पत्ति मानने पर जैसे महत्परिमाण से महत्तर परिमाण की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार अणु परिमाण से अणुतर परिमाण की ही उत्पत्ति होगी, ऐसी स्थिति मै द्व्यणुक मे महत्परिमाण के स्थान पर अणुतर परिमाण को स्वीकार करना होगा।[2] इसीलिए आचार्य प्रशस्तपाद ने **'कारणत्व पारिमाण्डल्य (परमाणु परिमाण) से भिन्न में ही है'** ऐसा स्वीकार किया है।[3] यहां यह स्मरणीय है कि जहां कार्य के प्रति **संयोग असमवायिकारण** है वहां कारण परिमाण से उत्पन्न कार्य परिमाण कारण की अपेक्षा उत्कृष्टतर अर्थात् महत्तर होगा, किन्तु जहा कार्य के प्रति **विभाग असमवायिकारण है** वहां कारण के परिमाण से उत्पन्न कार्य का परिमाण उत्कृष्टतर न होकर हीनतर होगा।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या द्व्यणुक में विद्यमान अणुत्व परमाणु में विद्यमान अणुत्व से भिन्न है? दोनों परिमाणो को समान तो नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि कारण और कार्य के परिमाण में अन्तर होना स्वाभाविक नहीं है। नैयायिकों के अनुसार दोनो परिमाणों मे अन्तर है। उनके अनुसार द्व्यणुक परिमाण को **अणुपरिमाण** तथा परमाणु परिमाण को **पारिमाण्डल्य** कहते है, किन्तु यह तो शाब्दिक उत्तर हुआ। क्योंकि अणुपरिमाण और पारिमाण्डल्य में अन्तर अस्पष्ट ही रहा। इसके स्पष्टीकरण के लिए द्व्यणुक के अणुपरिमाण की उत्पत्ति को ही देखना होगा। जैसा कि ऊपर की पंक्तियों मे स्पष्ट किया जा चुका है कि परिमाण अपने समान जातीय उत्कृष्ट परिमाण को ही उत्पन्न करता है फलतः परमाणु द्वय

---

१. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली पृ० १०५
२. वही पृ० १५५
३. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६

के संयोग से उत्पन्न द्व्यणुक का परिमाण यदि परमाणु के परिमाण से उत्पन्न माना जाय, तो परमाणु के अणु परिमाण से द्व्यणुक में अणुतर परिमाण उत्पन्न होगा, किन्तु क्या द्व्यणुक परिमाण को अणुतर मानना उचित होगा ? संभवतः नही, इस कठिनाई से बचने के लिए नैयायिको की परम्परा में यह मान लिया गया है कि द्व्यणुक का परिमाण दो परमाणुओ के अतिरिक्त और कुछ नही है। इसी प्रकार त्रसरेणु का परिमाण भी तीन द्व्यणुक अथवा छ परमाणुओं के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है, अर्थात् द्व्यणुक का परिमाण परमाणुगत सख्या से, तथा त्रसरेणु का परिमाण द्व्यणुक गत संख्या से उत्पन्न हैं । इसीलिए नैयायिको ने परिमाण की उत्पत्ति के तीन कारण स्वीकार किये हैं : **परिमाण, कारण की संख्या एवं प्रचय** । महर्षि कणाद ने **"कारण-बहुत्वाच्च"**[1] सूत्र द्वारा परिमाण के इन तीनो कारणों की ओर सकेत करते हुए **बहुत्व** (कारण गत सख्या) पर बल दिया है । इस प्रकार द्व्यणुक तथा त्रसरेणु के परिमाण में **कारण बहुत्व** ही कारण है, जबकि त्रसरेणु से आगे **कारणपरिमाण** तथा **'प्रचय'** को भी कारण स्वीकार कर सकते हैं। इस प्रकार परमाणु का परिमाण **पारिमाण्डल्य,** द्व्यणुक का परिमाण **दो परमाणु परिमाण** एवं त्रसरेणु का परिमाण **तीन द्व्यणुक-परिमाण** अथवा छ परमाणु परिमाण है, जो कि महत्परिमाण कहा जाता है। इस महत्परिमाण की उत्पत्ति मे कारण गत सख्या कारण है। समान संख्या वाले तथा समान परिमाण वाले कारणों से उत्पन्न कार्यो में जब असमान परिमाण उत्पन्न होता है तो वहा उस असमानता का कारण **'प्रचय'** (संयोग विशेष) हुआ करता है।

समान प्रचय की स्थिति में परिमाण भेद का कारण प्रचय न होकर कारणगत संख्या भेद होता है। इसीलिए विभाग द्वारा कार्य नाश करने पर कारणों में (कार्य के खण्डों में) संख्या भेद दृष्टिगत होता है, उदाहरणार्थः समान प्रचय वाले किन्तु असमान परिमाण वाले पत्थर के परमाणुओं में परस्पर समान परिमाण ही होता है, अतः यदि समान खण्ड करें तो दोनों पत्थरों के खण्डों में संख्यागत भेद होगा। इससे सिद्ध होता है कि उन दोनों पत्थरों के परिमाण के निर्माण में **प्रचय भेद** कारण न होकर समवायिकारण-**गत संख्या भेद** कारण है।

इस प्रकार हम निश्चयपूर्वक यह स्वीकार कर सकते हैं कि किसी भी कार्य का परिमाण कारण के **संख्या, परिमाण** एवं **प्रचय** पर आश्रित है।

---

१. वैशेषिक सूत्र ७.१.९

इनमें भी संख्या सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, **कारण परिमाण** तथा **प्रचय कार्य-परिमाण के** प्रति गौण है। सभवत: इसीलिए वैशेषिक सूत्रो के रचयिता कणाद ने **परिमाण** तथा **प्रचय** की उपेक्षा करते हुए **'कारण बहुत्वाच्च'** सूत्र मे **बहुत्व**-का ही शब्दत: उल्लेख किया है शेष दोनों का 'च' शब्द द्वारा सकेत दिया है।

परमाणु की सिद्धि के लिए एक अन्य युक्ति डा० रोअर (Dr. Roer) **ने** दी है कि यदि हम नित्यपरमाणुओं को स्वीकार नहीं करते तो उसका तात्पर्य होता है कि हम समवायिकारण के सम्बन्ध को भी स्वीकार नहीं करते। जैसे हम महत् से क्रमश: महत्तर के विकास में परममहत् आकाश, काल, दिशा अथवा आत्मा तक पहुँचते हैं उसी प्रकार कारणों में लघुतम कारण को भी हमें स्वीकार करना चाहिए। यह लघुतम कारण ही परमाणु है, जो स्वत: सिद्ध हो जाता है।[1]

भारत एवं ग्रीक में परमाणुवाद :—

यह परमाणुवाद ही वैशेषिकों को अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों से अलग करता है। अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों ने भी आगे चलकर इस परमाणुवाद का अनुगमन किया है। ग्रीक दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत परमाणुवाद भी इससे अत्यधिक निकट है। **ल्यूसिपस** (Leucippus) ने प्रत्येक प्रकार के शरीर निर्माण के लिए कारणभूत अनेक कणों की कल्पना की है, जो कि परस्पर भिन्न हैं एवं खाली स्थान मे बिखरे रहते हैं। पाश्चात्य-दार्शनिकों में एपिकुरस (Epicurus) के अनुयायियों ने उन कणों को सर्वप्रथम परमाणु (Molecule Atom) का नाम प्रदान किया था। उनके अनुसार भी यह विश्व **परस्पर भिन्न, अविभाज्य,** एवं **नित्य परमाणुरूप समवायिकारण** से **उत्पन्न** है। **इम्पीडोकिल** (Empedocle) तथा **ऐनाक्सागोरस** (Anaxagoras) **ने मन** और आत्मा को भी परमाणुजन्य ही स्वीकार किया है, जबकि महर्षि कणाद ने आत्मा को परमाणुजन्य नही माना है; उनके अनुसार मन अवश्य **अणु** है। ल्यूसिपस (Leucippus) तथा डेमोक्रेटस (Democritus) ने आत्मा और मन दोनों को ही परमाणुजन्य नही माना है। **डाल्टन** (Dalton) का परमाणुवाद तो कणाद के परमाणुवाद से सर्वथा अभिन्न है, डाल्टन के इस परमाणुवाद पर ही समस्त रसायन विज्ञान आधारित है। यह परमाणुवाद सामान्यत: बहुत सीधा और सुलझा हुआ प्रतीत होता है, किन्तु

1. Roers Translation of Bhaṣa Pariccbed (Bibliotheca Indica) P. 16 note.

विचार करने पर इतना ही उलझनपूर्ण भी है। परन्तु यह अन्य दार्शनिक विवेचन के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। शंकराचार्य एवं अन्यवेदान्तियों द्वारा इसकी कठोर आलोचना के कारण यद्यपि इसका (परमाणुवाद का) महत्व कम हो गया है, किन्तु फिर भी इसके आविष्कारक के श्रेय में किसी प्रकार भी न्यूनता नहीं आती।[1]

आकाश

कणाद ने द्रव्यों में होने वाले निष्क्रमण और प्रवेशन के आधार पर आकाश की सिद्धि की है, साथ ही शब्द को भी आकाश का गुण सिद्ध किया है।[2] प्रशस्तपाद ने **आकाश** को सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। उन्होंने जातिघटित लक्षण करने की परम्परा के कारण सर्वप्रथम आकाश काल दिशाओं में जाति का निषेध किया है, और परिचय की दृष्टि से उसमें (आकाश मे) विद्यमान गुणों : शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग की सत्ता का संकेत किया है।[3] भाषापरिच्छेदकार विश्वनाथ ने 'आकाश में रहने वाले गुणों में शब्द ही एक मात्र वैशेषिक गुण है'[4] ऐसा कहते हुए 'शब्द **आकाश** का लक्षण होने योग्य है' इस बात का संकेत दिया है। परवर्ती नैयायिक अन्नंभट्ट आदि शब्द को ही आधार बनाकर आकाश का लक्षण करते भी है।[5] अन्नंभट्ट कृत आकाश लक्षण में गुण पद के प्रयोग के सम्बन्ध में कारण खोजते हुए वाक्यवृत्तिकार मेरुशास्त्री तथा सिद्धान्तचन्द्रोदयकार श्रीकृष्ण धूर्जटि ने कल्पना की है कि 'मीमांसा में शब्द को द्रव्य माना गया है, किन्तु शब्द द्रव्य न होकर गुण है, इस प्रतिपादन के लिए यहां गुण शब्द प्रयुक्त है।' किन्तु यह उचित प्रतीत नही होता, शब्द का द्रव्यत्व निषेध तो 'शब्द' का गुण में पाठ करने से ही हो जाता है। नीलकण्ठशास्त्री तथा न्यायबोधिनीकार गोवर्द्धन पण्डित ने 'विशेष गुणों में से 'शब्द' एक मात्र आकाश में ही रहता है' इसकी प्रतीति के लिए 'गुण' पद का प्रयोग माना है।

यह शब्द विशेषगुण ही आकाश को अन्य द्रव्यों से पृथक् करता है। सर्वदर्शन संग्रह में आकाश की निम्नलिखित परिभाषा दी गयी है—**'संयोग से**

---

1. M. R. Bodas : Notes on Tarkasangraha.

२. वैशेषिक २. १. २२, २४-२७। ३. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २३-२४

४. भाषा परिच्छेद का० ४४ ५. तर्क संग्रह पृ० ४५

उत्पन्न न होने वाले विशेष गुणों का आश्रय नित्य द्रव्य आकाश है"[1] यह लक्षण भी आकाश को अन्य द्रव्यो से पृथक् करने सक्षम है।

पाश्चात्य दर्शन मे आकाश के स्थान पर **ईथर** (ether) नामक द्रव्य स्वीकार किया गया है, किन्तु पाश्चात्य दर्शनिको के अनुसार ईथर प्रकाश और उष्णता का आश्रय है, शब्द का नही। उनके अनुसार शब्द वायु का गुण है।

नैयायिकों का आकाश एक, विभु तथा नित्य है। एक आकाश में भी घटाकाश मठाकाश (घड़ा और घर के अन्दर का आकाश) आदि व्यवहार उपाधि भेद से होता है। प्रत्येक स्थान में शब्द की उपलब्धि होने से उसे **विभु माना** गया है। विभु होने के कारण ही आकाश **अतीन्द्रिय** एवं **अनुमेय** है। आकाश की सिद्धि के लिए अनुमान प्रक्रिया निम्नलिखित रूप से हो सकती है: 'शब्द पृथिवी, जल, तेज, वायु, काल, दिशा, आत्मा और मन से भिन्न द्रव्य में आश्रित है, क्योंकि यह समवायिकारण से उत्पन्न होता है किन्तु इन आठ द्रव्यों में आश्रित नही रहता। जैसे रूप आदि द्रव्य के आश्रित हैं अन्य के आश्रित नहीं।[2] ऊपर की पक्तियों में आकाश को विभु द्रव्य कहा गया है, नैयायिकों के अनुसार 'समस्त मूर्त्त द्रव्यों से सयुक्त रहना **विभुत्व** कहाता है।[3] मूर्त्त का तात्पर्य है 'परिच्छिन्न परिमाण वाला होना अथवा क्रिया युक्त द्रव्य होना।' चूंकि असीमित परिमाण वाले द्रव्य में क्रिया नहीं रह सकती, अतः दोनों लक्षणों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। मूर्त्त द्रव्य पांच है—**पृथिवी, जल, तेजस्, वायु और मन**'।[4] अब तक जिन द्रव्यों का वर्णन किया गया है उन द्रव्यों को **भूत** भी कहते हैं; इन पांच भूतो में आकाश के अतिरिक्त सभी भूत **मूर्त्त** है। मूर्त्त द्रव्यों में '**मनस्**' के अतिरिक्त सभी **भूत** है। ये भूत ही सकल विश्व के उपादान कारण हैं। विशेष गुणो के आश्रय द्रव्यों मे केवल आत्मा ही एक ऐसा द्रव्य है जो न **भूत** है और न **मूर्त्त** ही। जबकि प्रारम्भिक चार **भूत** और **मूर्त्त** दोनों हैं।

काल

दैशिक से भिन्न परत्व, अपरत्व, युगपद्, अयुगपद्, चिर एवं क्षिप्र आदि प्रती-

---

१. सर्व दर्शन संग्रह पृ० ८५
२. प्रशस्तपाद विवरण पृ० २४
३. तर्कदीपिका पृ० ४६
४. कारिकावली २५

तियों का असमवायि कारण **काल** कहा जाता है ।[१] परवर्ती नैयायिकों में अन्नंभट्ट ने लौकिक व्यवहार परम्परा के आधार पर लक्षण किया है, उनके अनुसार 'अतीत आदि के व्यवहार का कारण **काल** कहा जाता है'[२] इस लक्षण में कारण का अर्थ **असाधारण निमित्तकारण** है, उपादान नही, 'बचपन बीत गया' (बाल्यमतीतम्) आदि प्रयोगो मे उपादानकारणभूत 'अवस्था विशेष' को काल नहीं कहा जाता, और नही ही **साधारण निमित्तकारण** दिशा आदि को ही **काल** कहा जाता है। लोक व्यवहार पर आधारित इस लक्षण से काल के वास्तविक स्वरूप पर यद्यपि विशेष प्रकाश नही पड़ता, किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन में व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा नही की गयी है।

भाषापरिच्छेदकार विश्वनाथ कृत काल लक्षण इसकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त है, उनके अनुसार सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थों का कारण तथा समस्त विश्व का आश्रय, परत्व अपरत्व बुद्धि का असाधारण कारण **काल** ही है ।[3] मुक्तावली मे विश्वनाथ ने स्वय इसकी व्याख्या करते हुए लक्षण को प्रशस्तपादकृत लक्षण के अधिक निकट पहुंचा दिया है। उस व्याख्या के अनुसार '**कालिक परत्व अपरत्व आदि बुद्धि का असाधारण निमित्तकारण काल है** ।'[४] अन्नभट्ट और विश्वनाथ के लक्षण मे मौलिक अन्तर केवल यह है कि अन्नंभट्ट ने **लौकिक व्यवहार** को आधार माना है, जबकि विश्वनाथ ने **मानसिक प्रतीति को** । विश्वनाथ का लक्षण अधिक सूक्ष्म दृष्टि पर आधारित है, यों तो जो प्रतीति का विषय होगा वह व्यवहार का भी विषय होगा, इस दृष्टि से 'प्रतीति' और 'व्यवहार' पर आधारित दोनों लक्षण समान हैं यह भी कहा जा सकता है। इस समानता के साथ ही दोनों में वैशिष्ट्य भी है, वह यह कि अन्नंभट्ट ने काल को व्यवहार का कारण कहा है जो कि निस्सन्देह सर्वग्राह्य है, जबकि विश्वनाथ उसे (परत्वापरत्व) प्रतीति का कारण कहते है, 'इस प्रतीति के प्रति एकमात्र कारण काल है' इसे सर्व सम्मत रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतीति के प्रति अन्य कारण भी हो सकते हैं फिर इस कारण को एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्नभट्टकृत काल लक्षण विवाद से

---

१. (क) वैशेषिक सूत्र २.२.६ (ख) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २६
२. (क) तर्क संग्रह पृ० ४६ (ख) तर्क दीपिका पृ० ४७
३. भाषा परिच्छेद ४५-४६ ४. मुक्तावली पृ० १८७

अधिक परे हैं । समय व्यवहार का कारण किस प्रकार बनता है इस प्रश्न का उत्तर किसी भारतीय अथवा पाश्चात्य दार्शनिक ने देने का कष्ट नहीं किया है ।

सांख्य ने काल को स्वतन्त्र द्रव्य या पदार्थ आदि न मानकर उसे आकाश में समाहित कर लिया है, तथा कुछ नव्य नैयायिकों ने काल और दिशा को आत्मा में समाहित करने का प्रयत्न किया है । काल चूंकि अशरीरी एवं अप्रत्यक्ष है, अतः उसकी सिद्धि के लिए अनुमान की आवश्यकता होती है, वह अनुमान इस प्रकार का हो सकता है—'अनेक दिनों के अन्तर से उत्पन्न युवक की अपेक्षा वृद्धव्यक्ति मे विद्यमान परत्वबुद्धि या व्यवहार का कोई असमवायि कारण है । यहां रूप इत्यादि कारण नही हो सकते क्योंकि रूप-रस और गन्ध वायु में विद्यमान न होने से ये वायु में परत्वबुद्धि या परत्व-व्यवहार के कारण नहीं हो सकेगे । स्पर्श चूंकि उष्ण और शीत भेद से भिन्न प्रकार है, एव वे स्पर्श प्रकार एक द्रव्य में एक साथ नहीं रह सकते, अतः स्पर्श भी कारण नही हो सकता । अवच्छिन्न परिमाण चूंकि विजातीय गुण का कारण नही होता तथा दिनादि (सूर्य परिस्पन्द) का समानधिकरण भी वह नहीं होता, अतः उसे भी 'परत्व' प्रतीति या व्यवहार का कारण नही मान सकते । **परत्व प्रतीति** के लिए कारण सूर्य परिस्पन्द और वस्तु दोनों से सयुक्त होने वाला विभु द्रव्य ही हो सकता है, चूंकि परत्व उत्पन्न करने वाला द्रव्य स्वयं से संयुक्त होकर उस समय में विद्यमान सभी द्रव्यों (वस्तुओं) मे परत्व गुण उत्पन्न करता है, जबकि आकाश स्वसंयुक्त समानकालिक सभी भेरी आदि में शब्द गुण उत्पन्न नही करता, अतः आकाश को परत्व का जनक नहीं मान सकते । विभु आत्मा के सम्बन्ध को भी द्रव्यान्तर में विद्यमान धर्म की द्रव्यान्तर में प्रत्यासत्ति का कारण नहीं मान सकते, अन्यथा विभुत्वेन आत्मा से संयुक्त वारणसीस्थ उपरञ्जक के द्वारा आत्मा से संयुक्त पाटलिपुत्रस्थ स्फटिक में उपरञ्जन मानना होगा; अतः परिशेषात् इस प्रकार की परत्वापरत्व प्रतीति के असमवायि कारण के रूप में **काल** की स्वीकृति अनिवार्य है ।[१]

आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार यद्यपि काल के द्वारा ही क्षण लव निमेष आदि महाप्रलय पर्यन्त समय-सूचक पदों का व्यवहार लोक में प्रचलित है, किन्तु वास्तविक रूप से काल आकाश के समान एक है और

---

१. वैशेषिक उपस्कार भाष्य २. २. ६.

नित्य है, तथा क्षण आदि व्यवहार औपाधिक है। कुछ नैयायिक क्षण निमेष आदि प्रतीति को वास्तविक मानकर उनके समूह को काल कहना चाहते हैं, किन्तु प्राचीन नैयायिक सभवतः बिना किसी सबल प्रमाण के केवल प्रतीति के आधार पर किसी द्रव्य को अथवा उसके प्रकारों को स्वीकार करने को प्रस्तुत न थे। काण्ट (Kant) ने भी सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है कि 'केवल प्रतीति के आधार पर काल और दिशा की वास्तविकता को स्वीकार करना उचित नही है, क्योंकि केवल प्रतीति के आधार पर किसी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता, कारण यह है कि प्रतीति तभी संभव है जब कि उसके सम्बन्ध मे पूर्व से ही कोई भावना विद्यमान हो।[1]

दिशा

काल के समान ही दिशा का लक्षण भी प्रतीति और व्यवहार पर आधारित है। सूत्रकार ने 'इससे यह निकट है, इस प्रतीति के कारण को दिशा माना था'।[2] भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी उसीको दूसरे शब्दों मे 'पूर्व पर आदि प्रतीति के कारण को दिशा कहा है।'[3] नव्य नैयायिकों में विश्वनाथ ने 'दूर निकट आदि प्रतीति के कारण को दिशा कहा है,[4] तथा अन्नभट्ट ने 'प्राची आदि व्यवहार के हेतु होनेको दिशा का लक्षण' कहा है।[5] जैसाकि काल विवेचन के प्रसंग में कहा जा चुका है 'प्रतीति' पर आधारित लक्षण अधिक सूक्ष्म दृष्टि से उद्भूत है तथा अधिक उपयुक्त भी, व्यवहार चूकि औपाधिक भेद पर भी आधारित हो सकता है, अत. उसे लक्षण की दृष्टि से अधिक प्रशस्त नहीं कहा जा सकता। सर्वदर्शन संग्रह के अनुसार 'जिसमें कोई विशेष गुण नही केवल सामान्य गुण हैं, जो अणु नही किन्तु महत् परिमाण युक्त है तथा काल से भिन्न है, उसे दिशा कहा जाता है।[6] यह लक्षण परम्परा के अनुसार प्रतीति या व्यवहार मात्र पर आधारित नही है। विशेषगुण से हीन केवल सामान्य गुण वाले तीन द्रव्य हैं : काल, दिशा और मनस्। इनसे मनस् को पृथक् करने के लिए 'महत्परिमाण युक्त' विशेषण तथा काल को पृथक्

1. Kant : Critique of Pure Reason.
२. वैशेषिक २.२.१०
३. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २८
४. कारिकावली ४६.
५. तर्कसंग्रह पृ० ४७
६. सर्वदर्शन सग्रह पृ० ८५

करने के लिए 'काल से भिन्न' विशेषण दिया गया है। परिशेषात् यह लक्षण दिशा को ही लक्षित करेगा।

दिशा भी काल के समान एक है, साथ ही विभु और नित्य भी है। एक दिशा में 'प्राची' आदि की प्रतीति उपाधि भेद से होती है। परत्व और अपरत्व दैशिक और कालिक दोनो ही हैं। नाम की एकता होने पर भी दोनों के आधार भिन्न भिन्न है : कालिक परत्व और अपरत्व उत्पत्तिकाल अथवा क्रिया के सम्बन्ध पर आधारित होता है, जबकि दैशिक मूर्त्त सयोग पर।[1] क्योंकि अमूर्त्त पदार्थों में दैशिक परत्व अपरत्व तथा अजन्य (नित्य) पदार्थो में कालिक परत्व अपरत्व नही होता।

दिशा और काल का अन्तर स्पष्ट करने के लिए शकरमिश्र ने 'नियत उपाधि उन्नायक को काल' तथा 'अनियत उपाधि उन्नायक को दिशा' कहा है।[2] किन्तु शंकरमिश्र का यह विश्लेषण ठीक नही कहा जा सकता, क्योंकि कालिक परत्व अपरत्व के समान ही दैशिक परत्व अपरत्व भी सदा ही नियत स्थान पर ही आधारित रहता है, यह अवश्य है कि यह दैशिक परत्वा-परत्व सापेक्ष अर्थात् अपेक्षाबुद्धि पर आधारित है। 'यह इससे पूर्व है, 'यह इससे परे है, इत्यादि ज्ञान अपेक्षाबुद्धि पर आश्रित हैं, किन्तु यह अपेक्षाबुद्धि दैशिक की भांति कालिक परत्वापरत्व के लिए भी आवश्यक है। 'यह इससे वृद्ध (पर) है'. 'यह इससे युवा (अपर) है' इत्यादि प्रतीति अपेक्षा बुद्धि के बिना सभव नहीं है। जैसे स्थान विशेष नियत न रहने पर दैशिक परत्व और अपरत्व अनियत रहता है उसी प्रकार परत्व और अपरत्व के लिए अपेक्षित काल नियत न रहने पर कालिक परत्व और अपरत्व भी अनियत ही रहता है।

आकाश और दिशा—न्यायवैशेषिक में आकाश एवं दिशा को पृथक्-पृथक् द्रव्य स्वीकार किया है। यद्यपि दोनो मे कोई विशेष अन्तर नही है, फिर भी उन्होंने आकाश को भूत माना है किन्तु दिशा को भूत नही। इसके अतिरिक्त उनकी मान्यता के अनुसार दोनो में निम्न लिखित अन्य अन्तर भी हैं (१) आकाश शब्द का समवायि कारण है, जब कि दिशा किसी का भी

---

१. सिद्धान्त चन्द्रोदय। २. वैशेषिक उपस्कार २. २ १०

समवायि कारण नही है । (२) दिशा प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ का साधारण कारण है, जब कि आकाश किसी पदार्थ का साधारण कारण नहीं है । (३) आकाश एक भूत द्रव्य है, जब कि दिशा केवल मानसिक प्रतीति मात्र है । (४) आकाश शब्द के कारण विषय की भाति प्रतीत होता है जबकि दिशा की केवल आत्मगत अनुभूति होती है । इस प्रकार नैयायिकों के अनुसार दोनों सर्वथा पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं, किन्तु यह सब भेद तो केवल तब तक है, जब तक दोनों को पृथक् स्वीकार किया गया है । यदि इनमें से किसी एक को पृथक् कर दे अर्थात् न मानें तो क्या कार्य नहीं चल सकता ? चूकि दिशा की स्वीकृति किसी सबल प्रमाण पर आधारित न होकर प्रतीति या व्यवहार पर आधारित है, अतः उक्त प्रश्न का समाधान कठिन नही है । ऐसा प्रतीति होता है कि नैयायिको को यह अभीष्ट नहीं है कि किसी द्रव्य को समस्त कार्य द्रव्यों का साधारण कारण स्वीकार करते हुए, उसे ही एक कार्य विशेष का उपादान कारण भी स्वीकार करे । उनके अनुसार 'आकाश सभी कार्यो का साधारण कारण माना जाए साथ ही वह शब्द का समवायि कारण भी हो' यह उचित नहीं है, . सम्भवतः इसीलिए नैयायिको ने कारण की परिभाषा 'अन्यथा सिद्ध से भिन्न'[१] विशेषण जोड़ते हुए की है, तथा पांच अन्यथासिद्धों मे 'अन्य कार्य के प्रति जिसका पूर्व होना अर्थात् कारणत्व सिद्ध है, उसे उस कार्य के प्रति (तृतीय) अन्यथासिद्ध स्वीकार किया है ।[१] सम्भवतः न्यायसिद्धान्त के विकास काल में विश्व के कारण के रूप में पृथ्वी आदि की भाति ही आकाश जनमानस मे स्वीकृत हो चुका था, अतएव नैयायिको के समक्ष उसे समवायिकारण अथवा पांच भूतो में अन्यतम स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नही रह गया था; फलत. उन्होने प्रत्येक कार्य पदार्थ के कारण तथा परत्वापरत्व के असाधारण कारण के रूप में दिशा को पृथक् द्रव्य के रूप मे स्वीकार करना ही अधिक उचित समझा है ।

आत्मा

आठवां द्रव्य आत्मा है । न्याय सूत्रकार गौतम ने 'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान के आश्रय को आत्मा कहा है ।[३] कणाद ने इच्छा, द्वेष,

---

१. कारिकावली १६

२. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ११८

३ न्यायसूत्र १.१.६

प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान आदि मनोगत अतीन्द्रिय विकार के साथ प्राण अपान निमेष उन्मेष तथा जीवन को भी आत्मा के लिङ्ग के रूप में स्वीकार किया है।[१] उपर्युक्त वचनो में इच्छा द्वेष आदि गुणों को आत्मा का लिङ्ग कहा है। यहां लिङ्ग का तात्पर्य आत्मा की स्वीकृति के लिए अपेक्षित अनुमान के हेतु से है, अर्थात् इन गुणो में किसी को भी हेतु मानकर आत्मा की सिद्धि की जा सकती है। उपर्युक्त गुणों को लक्षण मानने पर सुख और दुःख जैसे परस्पर विरोधी गुणों मे से एक के अनिवार्य अभाव की स्थिति में लक्षण कभी भी सगत न हो सकेगा।

आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार आत्मत्व विशिष्ट को **आत्मा** कहते हैं।[२] किन्तु यह लक्षण शाब्दिक है, क्योंकि आत्मा के ज्ञान पर ही आत्मत्व का ज्ञान आश्रित है। परवर्ती नैयायिकों में विश्वनाथ ने इन्द्रिय एवं शरीर आदि के अधिष्ठाता को तथा अन्नंभट्ट आदि ने ज्ञान के आश्रय को आत्मा कहा है।[३] समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का आश्रय केवल आत्मा है। यद्यपि दैशिक और कालिक सम्बन्ध से दिशा और काल भी ज्ञान के आश्रय हैं, किन्तु यहां (नैयायिकों की दृष्टि में) समवाय सम्बन्ध से ही ज्ञान का आश्रय होना विवक्षित है। नैयायिकों के अनुसार आत्मा दो प्रकार की है—ईश्वर और जीव; इनमें **ईश्वर** एक है, जीव अनेक; **ईश्वर** सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ; विभु और नित्य दोनों ही है।[४] दोनो ही अप्रत्यक्ष अर्थात् अनुमेय है। यद्यपि एकता और अनेकता आदि कुछ मौलिक भेद के कारण आत्मा और ईश्वर को पृथक् द्रव्य मानने के तर्क दिये जा सकते हैं, किन्तु नैयायिकों ने ज्ञानाश्रय के रूप में दोनों को एक द्रव्य के रूप में ही स्वीकार किया है।[५] चूंकि आत्मा प्रत्यक्ष नही है अतः उसकी सिद्धि नैयायिक निम्नलिखित अनुमान प्रक्रिया से कहते हैं: 'इन्द्रियों की क्रियाएं कर्तायुक्त हैं, क्योकि वे कारण की क्रियाएं है, जैसे वास्य (वसुला या कुल्हाड़ी) आदि साधनों की क्रिया कर्त्ता से युक्त होती है।[६] कणाद ने भी कहा है कि 'ज्ञान की साधन भूत इन्द्रियां एव ज्ञान के विषय की प्रसिद्धि ही इन दोनों से भिन्न आत्मा की सिद्धि में प्रमाण है,'[७] आत्मा की सिद्धि के अनन्तर **नैयायिक** परमात्मा की

---

१. वैशेषिक सूत्र ३.२.४. २. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ३०
३. कारिकावली ४७। ४. तर्कसंग्रह पृ० ४८
५. मुक्तावली पृ० २०७ ६. वही पृ० २०९
७. **वैशेषिक सूत्र ३.१.२**

सिद्धि के लिए भी अनुमान का ही आश्रय लेते हैं, वह अनुमान प्रकार निम्न लिखित हैं : 'पृथिवी अकुर आदि (प्रसिद्ध) कार्य कर्ता से उत्पन्न है, क्योकि वे घड़े आदि के समान कार्य हैं'[१]। उनके अनुसार जीवात्मा परमात्मा से पृथक् है और प्रत्येक शरीर में भिन्न है, प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान जीवात्मा के लिए अनुमान इस प्रकार किया जा सकता है -'बुद्धि आदि गुण पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा और मन से भिन्न किसी द्रव्य विशेष में आश्रित हैं, क्योकि ये गुण हैं और गुणों का द्रव्याश्रित होना अनिवार्य है। चूंकि बुद्धि आदि गुण हैं, और इन आठ द्रव्यो पर आश्रित नहीं हैं, जैसे कि रूप गुण हैं, और वह पृथिवी आदि द्रव्यो पर आश्रित रहता है, उसी प्रकार बुद्धि आदि भी द्रव्याश्रित अवश्य है।[१]

आत्मा अनन्त है अतः इनमे आत्मत्व जाति मानकर इन्हे एक लक्षण के अन्तर्गत किया जाता है। क्योंकि जाति गत लक्षण ही नैयायिकों को सर्वाधिक प्रिय है, अतः प्रशस्तपाद और उनके उत्तरवर्त्तियो ने आत्मा का जातिगत लक्षण ही किया है, जिसकी चर्चा इसी प्रकरण मे की जा चुकी है। नैयायिकों के अनुसार यह आत्मत्व जाति आत्मा और परमात्मा मे समान रूप से ही विद्यमान रहती है; यद्यपि परमात्मा या ईश्वर सर्वशक्तिमान्, एक, सकल सृष्टि का कर्त्ता और अधिष्ठाता, आनन्दमय, नित्य, शुद्ध बुद्ध, और मुक्त स्वभाव है, एवं जीव इससे भिन्न अल्पशक्तिमान्, अनेक, असर्वज्ञ (अल्पज्ञ), विश्व में अनेक बन्धनों से युक्त सुख दु:खादि बन्धनो में आबद्ध है। इस प्रकार भिन्न आत्मा और परमात्मा मे जाति मानकर नैयायिको ने उन्हे एक द्रव्य में समाहित किया है। नैयायिको ने चैतन्य को आत्मा नही माना है, क्योकि चैतन्य वृक्ष आदि मे भी हैं, जिनमे वे आत्मत्व नहीं मानते।

यहां एक प्रश्न विचारणीय है कि मनुष्य आदि प्राणियों मे विद्यमान चैतन्य युक्त जीव एवं परमात्मा को समान कोटि अथवा समान जाति वाला मानने की प्रवृत्ति नैयायिको मे क्यो उत्पन्न हुई ? इसका एक समाधान एक तो यह दिया जा सकता है कि वैशेषिक मे पहले आत्मा को जीवात्मा के रूप में ही स्वीकार किया गया था, ईश्वर का उल्लेख इसमे न था। इसीलिए गौतम और कणाद ने सूत्रों में ईश्वर की चर्चा भी न की थी। दूसरा समाधान यह हो सकता है कि वैशेषिक और न्याय प्रारम्भ में अनीश्वरवादी थे। वे या तो ईश्वर

१. तर्कदीपिका पृ० ५०

को मानते ही न थे अथवा बाह्य विश्व के दर्शन में ईश्वर का विवेचन उन्होंने आवश्यक नही समझा था; किन्तु परवर्त्ती नैयायिकों ने देखा कि ईश्वर का विवेचन भी आवश्यक है तो उन्होंने कणाद अथवा गौतम निर्दिष्ट पदार्थों के अन्तर्गत ही ईश्वर को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया। चूंकि उत्तरकालीन न्यायवैशेषिक में अभाव सहित सात पदार्थ ही स्वीकृत हुए थे, उन सात पदार्थों में आत्मा ही ऐसा था, जिसमे ज्ञानत्व विशेष साधर्म्य से ईश्वर का अन्तर्भाव संभव था; फलत. श्रीधर ने सर्व प्रथम ईश्वर का उल्लेख करते हुए आत्मा में उसके अन्तर्भाव का प्रयत्न किया। यहा एक बात ध्यान देने की है कि नैयायिकों द्वारा पृथिवी आदि जड़ द्रव्यों के बीच मे ही आत्मा का द्रव्य के रूप में वर्णन करना उनकी भौतिकता की प्रवृत्ति को सिद्ध करता है।

ईश्वर सिद्धि—तर्क दीपिका में अन्नभट्टने चार्वाक बौद्ध आदि अनीश्वरवादी दार्शनिकों को उत्तर के रूप में ईश्वर सिद्धि के लिए प्रमाण दिये हैं, उनका कथन है कि "रूप आदि प्रत्यक्ष योग्य गुणों के अभाव के कारण ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान सम्भव नही है; चूंकि अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही आश्रित हुआ करता है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में अनुमान द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि सभव नही है, वेद भी ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण नही हो सकते, क्योकि वेद की प्रामाणिकता स्वयं ही ईश्वर सिद्धि के अभाव में सन्दिग्ध है' इत्यादि चार्वाकों के तर्क उचित नही है। ईश्वर सिद्धि प्रत्यक्ष द्वारा भले ही सिद्ध न हो किन्तु उसकी अनुमेयता मे सन्देह नही हो सकता," अनुमान प्रकार विगत पृष्ठों मे दिया जा चुका है।[१]

इस प्रसग में यह स्मरणीय है कि ईश्वरसिद्धि के लिए किया जाने वाला अनुमान निम्नलिखित चार मान्यताओं पर आधारित है। (१) 'विश्वव्यापी कर्तृत्व सम्बन्ध, (२) प्रत्येक कार्य का चेतन तथा विचारशील कर्त्ता से युक्त होना, (३) यह विश्व भी इसी प्रकार का एक कार्य है, (४) इसका कर्ता निश्चय ही सामान्य से इतर एक विशेष शक्ति से सम्पन्न है, इन मान्यताओं के सम्बन्ध में नैयायिकों का विश्वास है कि (१) विश्वव्यापी कर्तृत्व सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है, तथा अनुभव से उसकी पुष्टि होती है। (२) द्वितीय मान्यता भी हमारे दैनिक अनुभव से सिद्ध है, हम देखते हैं कि घट रूपी कार्य कुशल कुम्भकार द्वारा ही सम्पन्न होता है, उस कुम्भकार में चेतना और विचार-

---

१. पृष्ठ ५६

शीलता भी आवश्यक है। इसी प्रकार वस्त्र भी चेतनासम्पन्न कुशल एवं विचारशील तन्तुवाय से निर्मित होता है, इनके बिना घट या पट की उत्पत्ति असम्भव है। (३) निश्वत कार्य को जन्म देने वाली परमाणु में विद्यमान 'गति' विशेष के लिए भी एक विवेकशील चेतन कर्त्ता का होना आवश्यक है, विवेकशील चेतन कर्ता सामान्य न हो कर असामान्य है, एवं कार्य के पूर्व से ही विद्यमान है, अन्यथा परमाणुओं मे गति का उत्पन्न होना सम्भव नही है। (४) सकल विश्व का कार्यत्व भी दैनिक अनुभव से सिद्ध है: वृक्ष वनस्पतियों एवं पशुपक्षियों का जन्म हम नित्य ही देखते हैं, इन कार्यों के पीछे निश्चय ही एक चेतन शक्ति है, जो कि प्रतिक्षण इनका नियमन करती है, क्योंकि इन कार्यों के पीछे एक विशेष प्रकार की नियमितता दृष्टिगत होती है; केवल अदृष्ट से ही यह विशेष प्रकार का नियमन सम्भव नहीं है (४) इस विश्व सृष्टि के नियमन के लिए प्रत्येक कार्य के पूर्व नित्य रूप से विद्यमान सर्वव्यापक सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर है, जो कार्य विश्व से भिन्न है, अन्यथा विश्व का निर्माण एवं विनाश सम्भव नही है।

चूकि ये समस्त मान्यताए सामान्य अनुभव पर ही आधारित हैं, अतः यदि प्रतिवादी अपने अनुभव के आधार पर इनमें से किसी एक या अधिक को अस्वीकार कर दे तो उपर्युक्त सभी अनुमान प्रक्रिया धराशायी हो जाती है।

तर्कदीपिका में अन्नंभट्ट ने इसी प्रसङ्ग में कर्त्तृत्व की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'उपादान के ज्ञान के साथ अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान, करने की इच्छा तथा क्रिया से युक्त होना कर्त्तृत्व कहाता है।'[1] नैयायिको की इस कर्त्तृत्व की परिभाषा के मूल में कुछ मान्यताएं निहित हैं:—कोई भी कार्य क्रिया के बिना संभव नहीं, क्रिया इच्छा के बिना संभव नही है, तथा इच्छा भी तब तक निष्क्रिय बनी रहती है, जब तक कि कार्य के उपादानों का प्रत्यक्ष न हो जाए। इस प्रकार कर्तृत्व के लिए ज्ञान इच्छा और क्रिया तीनों का ही होना आवश्यक है। कर्तृत्व की इस परिभाषा को यदि संक्षिप्त करना चाहें तो केवल 'कृतिमत्व' कह सकते हैं क्योंकि कृति के लिए चिकीर्षा आदि स्वतः अपेक्षित होंगी ही।

ईश्वर सिद्धि के प्रसंग में उपर्युक्त युक्तियों में तृतीय और चतुर्थ सब से निर्बल एवं नैयायिकों के पक्ष को निर्बल बढ़ाने वाली हैं, जैसे—'**यह सकल विश्वकार्य है**' इसे प्रत्येक वादी और प्रतिवादी नहीं स्वीकार करता, अतः यह मान्यता

---

१ तर्कदीपिका पृ० ५०

स्वयं ही साध्य है। हम कुछ वस्तुओं को उत्पन्न होते देखकर विश्व के प्रत्येक पदार्थ को उत्पन्न (कार्य) नहीं मान सकते। स्वय नैयायिक भी आकाश, काल, दिशा, आत्मा, और मन इन द्रव्यों को तथा इन नित्य द्रव्यों में विद्यमान गुण, सामान्य, विशेष, समवाय, एवं अत्यन्ताभाव को नित्य मानते हैं। इसी प्रकार सकल सृष्टि भी नित्य हो सकती है। कुछ पदार्थों को नित्य मानने पर ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता भी सन्दिग्ध कही जा सकती है, क्योंकि उन नित्य पदार्थों का उत्पादन और विनाशन ईश्वर के सामर्थ्य से परे है। ईश्वर में इच्छा की यही स्थिति है, क्योंकि इच्छा का कोई मूल होना चाहिए; ईश्वर में इच्छा का मूल क्या है? यदि सुख आदि इच्छा का मूल है, तो सुख दुःख से युक्त ईश्वर और जीवात्मा मे अन्तर ही क्या रहा? ईश्वर मे इच्छा का अभाव मानने पर उसमे कर्त्तृत्व सिद्ध न होसकेगा, तथा कर्त्तृत्व के अभाव में ईश्वर सिद्धि ही सम्भव नहीं। साथ ही ईश्वर में कर्त्तृत्व सिद्ध न होने पर में विश्व का कार्यत्व सिद्ध न होगा, एवं ईश्वर सिद्धि सम्भव न हो सकेगी। न्याय सिद्धान्त की इन निर्बलताओं के कारण ही वेदान्त आदि दर्शनों ने न्याय सिद्धान्त का खण्डन किया है।

प्रशस्तपाद के भाष्यकार आचार्य उदयन ने कुसुमाञ्जलि में ईश्वर की सिद्धि के लिए कुछ अन्य युक्तियां भी दी हैं—[१]

(१) विश्व का **कार्यत्व** ईश्वर सिद्धि में प्रमाण है।

(२) परमाणु से द्वयणुक की उत्पत्ति का **आयोजन** भी ईश्वर का साधक है।

(३) विश्व के समस्त पदार्थों का यथावत् **धारण** (धृति) से भी ईश्वर सिद्ध होता है।

(४) विश्व के पदार्थो का **विनाश** आदि भी ईश्वर को सिद्ध करता है।

(५) **पट** अर्थात् वस्त्र आदि बुनने की कला तथा ऐसी ही अन्य कलाओं का सर्वप्रथम आविष्कार भी ईश्वर के बिना संभव नहीं है, तथा वह प्रथम आविष्कारक ही ईश्वर है।

(६) **वेद को प्रामाणिक मानना** भी ईश्वर के सम्बन्ध में प्रमाण है। ईश्वरकृत होने से ही वेद प्रामाणिक स्वीकार किये जाते हैं। बिना कर्ता का

---

१. —कुसुमाञ्जलि ५.१

ज्ञान प्राप्त किये हम किसी ग्रन्थ को प्रमाणिक या अप्रामणिक नहीं मान सकते। चूंकि वेद प्रामाणिक सर्वज्ञकृत हैं, अतः उसका कर्त्ता ईश्वर अवश्य है। वेद स्वयं भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

(७). वेदों की अर्थ पूर्ण **वाक्य योजना** भी उसके 'कर्त्ता का कुशल और सर्वज्ञ होना' सिद्ध करती है, वह कुशलकर्ता ईश्वर ही हो सकता है।

(८) द्व्यणुक की उत्पत्ति दो परमाणुओं के संयोग से होती है। उसका परिमाण भी दो परमाणुओं के आधार पर ही उत्पन्न होता है, इस उत्पादन में **संख्या विशेष** का ज्ञाता कोई अवश्य है, वह ईश्वर ही हो सकता है।

उदयनाचार्य की उपर्युक्त युक्तियां स्वयं ही सिद्धि की अपेक्षा रखती है, अतः वे ईश्वर की साधक-कैसे हो सकती हैं। यथा : विश्व के कार्यत्व के सम्बन्ध पूर्व पृष्ठो में चर्चा हो चुकी है। कर्त्तृत्व के समान विश्व का **धारणकर्तृत्व** भी उन्हीं युक्तियों से विचारणीय है। वेदों की प्रामाणिकता बौद्धों को सर्वथा अमान्य है, अतः उसके आधार पर ईश्वर की सिद्धि करना कैसे सम्भव है? इत्यादि।

ईश्वर का स्वरूप—

ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में दार्शनिकों के विविध विचार हैं। एक का विचार है कि ईश्वर शरीर हीन है; क्योंकि शरीर की प्राप्ति अदृष्ट से होती है, तथा ईश्वर अदृष्टहीन है, अतः वह अशरीरी है। दूसरा वर्ग उसे शरीरी और अशरीरी दोनों ही मानता है। उसमें स्वयं अदृष्ट संसर्ग न होने पर भी वह प्राणिवर्ग के अदृष्ट से शरीर धारण करता है, जैसे एक स्त्री पति के अदृष्ट-वश रूप आदि से युक्त शरीर धारण करती है। इस परम्परा में स्वयं से भिन्न प्राणियों के अदृष्ट को भी कारण के रूप में स्वीकृति दी गई है। गीता में भी अनेक कारणों के साथ अदृष्ट को भी **अन्यतम कारण** स्वीकार किया गया है,[1] यद्यपि वहां स्व अदृष्ट अथवा पर अदृष्ट की कोई चर्चा नहीं है। तीसरी परम्परा परमाणुओं को ईश्वर का शरीर मानती है। चौथी परम्परा आकाश को ईश्वर का शरीर स्वीकार करती है। एक अन्य परम्परा के अनुसार ईश्वर के दो शरीर हैं : प्रथम कार्य शरीर, दूसरा निर्माण से पूर्व कार्य वस्तु शरीर। छठी परम्परा परमात्मा में अदृष्ट के बिना भी केवल इच्छामात्र से उत्पन्न होने वाला शरीर मानती है : जैसे कि राक्षस या देव आदि केवल इच्छामात्र

---

१. भगवद्गीता १८. १४.

में अदृष्ट के बिना ही माया शरीर धारण करते हैं। उपर्युक्त किसी भी परम्परा के अनुसार कार्य शरीर मानने में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि प्रत्येक कार्य के पूर्व उसके कर्त्ता में इन्द्रिया और बौद्धिक चेतना की आवश्यकता होती है, ईश्वर के कार्यशरीर की उत्पत्ति के लिए इन्द्रिय आदि सम्पन्न कर्त्ता किसे माना जाए ?

नव्य नैयायिकों ने ईश्वर मे आठगुण माने है,[1] वे है— सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न। न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ईश्वर में लिग के रूप मे ज्ञान की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर में जीवात्मा के समान सुख और दुःख नही है, वह तो नित्य आनन्द स्वरूप हैं, श्रुति भी उसे ऐसा ही स्वीकार करती है।

जीवात्मा—

जीव आत्मा ईश्वर से भिन्न है। ईश्वर सुख दुःखादि रहित है : जीव इनसे युक्त। जीव इन्द्रिय आदि का अधिष्ठाता, बन्धमोक्ष का अधिकारी एवं जन्यज्ञान से युक्त है : जबकि ईश्वर इन सभी से रहित नित्य मुक्त एवं सर्वज्ञ है। जीव संख्या में अनन्त है : ईश्वर एक तथा सर्वव्यापक है।

जीवात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में भी अनेक मत हैं—जिनमें मुख्य निम्न-लिखित हैं—(१) शरीर आत्मा है, (२) इन्द्रियां आत्मा हैं, (३) मन आत्मा है, (४) क्षणिक विज्ञान आत्मा है, (५) नित्य विज्ञान आत्मा है, (६) इन सबसे भिन्न सबका अधिष्ठाता आत्मा है।

१. शरीर ही आत्मा है—

यह प्रथम मत चार्वाक का है। उसका कथन है कि "चूंकि सर्वत्र होने वाली 'मैं मनुष्य हूँ' 'मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि प्रतीति का साक्षात्सम्बन्ध शरीर से ही है, शरीरातिरिक्त से नही, अतः शरीर ही आत्मा है। यह शरीर भी चार्वाकों में सम्प्रदाय भेद से पञ्चभौतिक चतुर्भौतिक तथा एकभौतिक माना जाता है।[2] शरीर यद्यपि पृथिवी आदि परमाणुओं का संयोगमात्र है, जोकि स्वयं जड़ हैं, किन्तु जिसप्रकार अन्न, जल और गुड़ आदि द्वारा प्रस्तुत मदिरा में स्वयं ही मादकता उत्पन्न हो जाती है।[3] अथवा जैसे—ताम्बूल, कत्था, चूना

---

१. कारिकावली ३४। २. सांख्यदर्शन ३.१७-१९।

३. वही ३.२३।

और सुपारी आदि मे अविद्यमान लालिमा उनसे ही उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार जड़ भूतो से उत्पन्न शरीर में चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है।[1]

किन्तु चार्वाक का यह देहात्मवाद[2] नैयायिकों को प्रिय नहीं है, वे इस सिद्धान्त के विरोध में निम्नलिखित युक्तियां देते हैं १—शरीर को आत्मा मानने पर शरीर के नाश हो जाने पर उसके द्वारा किये गये पाप और पुण्य का भी नाश मानना होगा, अतः शरीर आत्मा नही है।[3]

२—पाप पुण्य के अभाव मे नवजातशिशु मे सुख और दु.ख की प्रतीति नहीं होनी चाहिए, शरीर को आत्मा मानने पर नव शरीर में पाप-पुण्य की सत्ता तो सम्भव है ही नही। अतः शरीर आत्मा नही है।[4]

३—मृत शरीर में चेतना के दर्शन न होने से शरीर को आत्मा नहीं मान सकते।[5]

४—शरीर को आत्मा मानने पर शरीर के अंग हाथ पैर आदि का नाश होने पर आत्मा का भी नाश मानना होगा।

५—शरीर प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है, अतः बचपन में देखे हुए विषय का युवावस्था में स्मरण संभव न हो सकेगा।[6] बचपन और यौवन का शरीर एक ही है यह नहीं मान सकते, क्योंकि यौवन के समय बाल्यावस्था के शरीर का नाश हो जाता है, शरीर के परिमाण का भेद ही इसमें प्रमाण है। 'कारण गत ज्ञान (गुण) कार्य में संक्रान्त होगा, ऐसा भी नहीं मान सकते, अन्यथा माता द्वारा अनुभूत का गर्भस्थ शिशु को तदनन्तर बालक को स्मरण होना अनिवार्य होगा। अतः शरीर को आत्मा नहीं मान सकते।[7]

६—शरीर को आत्मा मानने पर अन्य शरीर के कर्म का अन्य को उपभोग करना पड़गा।[8]

---

१. सर्वसिद्धान्त संग्रह
२. न्यायमञ्जरी से उद्धृत पृ० ५-१०
३. न्यायसूत्र ३.१.४
४. कणाद रहस्यम्
५. कारिकावली—४८
६. तर्क दीपिका पृ० ५१
७. न्याय कुसुमाञ्जलि पृ० ६५
८. न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य पृ० ११७

७—शरीर को चेतन मानने पर बालक की स्तन पीने की प्रवृत्ति संभव न होगी, क्योंकि उसे ज्ञान नहीं है, कि इससे भूख का नाश होगा; नित्य आत्मा न मानने के कारण पूर्व जन्म का संस्कार भी नहीं मान सकते ।[१]

८—बालक का मुख विकास हर्ष का परिचायक है, हर्ष स्मरण से ही उत्पन्न होता है, स्मरण पूर्व अनुभव जन्य है, बालक को इस जन्म में कोई अनुभव नहीं है, अतः वह पूर्वजन्म का ही हो सकता है, किन्तु पूर्वजन्म की मान्यता शरीर को आत्मा मानने पर संभव नही है, अतः शरीर से भिन्न आत्मा है ।

चार्वाकों की एक परम्परा चैतन्य को शरीर का धर्म न मानकर परमाणुओं का धर्म मानती हैं । उसका कथन है कि बाल्यकाल के शरीर के परमाणु यौवन शरीर में भी स्थिर रहते हैं । इसलिए परमाणुओं में चैतन्य मानने पर बाल्य काल में अनुभूत अर्थ का यौवन में स्मरण हो सकेगा । किन्तु नैयायिक इस पक्ष को स्वीकार नहीं करते, वे युक्ति देते हैं कि परमाणु के धर्म अतीन्द्रिय है, इसीलिए लौकिक पुरुष परमाणु के धर्म को इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते । साथ ही परमाणु धर्म होने के कारण चैतन्य और स्मरण दोनों को ही अतीन्द्रिय मानना होगा । दूसरा दोष यह है कि एक भाग के शरीर से पृथक् हो जाने पर उन परमाणुओं के अभाव में उस अनुभव का स्मरण भी न हो सकेगा । इसलिए चैतन्य को परमाणु का धर्म नहीं माना जा सकता ।[२]

इन्द्रिय ही आत्मा है :—

दूसरा पक्ष इन्द्रियात्मवाद का है अर्थात् इन्द्रिय ही आत्मा है । क्योंकि 'मैं देखता हूं,' 'मैं शब्द सुनता हूं' इत्यादि प्रतीति इन्द्रियों से ही सम्बद्ध है । किन्तु नैयायिक इस पक्ष को भी नहीं मानते वे कहते है कि:—

१—यदि इन्द्रिय आत्मा होती तो 'मैंने घड़े को देखा है, मै ही उसे छू रहा हूं, यह एकत्व प्रतीति नहीं हो सकती; क्योंकि नेत्र और श्रोत्र आदि इन्द्रियां भिन्न-भिन्न हैं, अतः जिसने देखा है वही स्पर्शकर्त्ता नहीं हो सकता ।[३]

२—प्रत्येक क्रिया कर्त्ता के बिना संभव नहीं है, एवं कर्त्ता की क्रिया

---

१. न्याय कुसमाञ्जलि पृ० ६६

२. न्यायमंजरी प्रमेयप्रकरण पृ० ४२

३. तर्क दीपिका पृ० ५१

कारण (साधन) के बिना सम्भव नहीं है, तथा कारण व्यापार कर्त्ता के बिना सम्भव नही है ।[1] इस प्रकार कर्त्ता और कारण भिन्न-भिन्न सिद्ध होते हैं; फलतः कारण रूप आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है ।

३—यदि चक्षु आदि इन्द्रियां ही आत्मा हैं तो चक्षु आदि इन्द्रिय विशेष के नष्ट हो जाने पर पूर्व अनुभूत का स्मरण सम्भव न था, किन्तु इन्द्रिय विनाश हो जाने पर भी स्मरण होता ही है,[2] अतः इन्द्रियों से भिन्न कोई आत्मा है, यह सिद्ध होता है ।

मन आत्मा है:—

तीसरा मत है कि 'मन आत्मा है'; वह नित्य एवं अभौतिक है, अतः इस इस पक्ष में स्मरण असम्भव नहीं है'। किन्तु नैयायिकों को यह पक्ष भी स्वीकृत नहीं है। उनका कथन है कि मन चूंकि अणु है, अतः मन में विद्यमान ज्ञान सुख आदि का प्रत्यक्ष सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष के लिए गुणों के आश्रय द्रव्य में महत्व का होना अनिवार्य है।[3] इसके अतिरिक्त अणु मन में दो ज्ञान एक काल में नही रह सकते, अतः 'देखना' और 'स्मरण करना' दोनों एक साथ न हो सकेगा या तो दर्शन होगा या स्मरण ही। साथ ही प्रत्यक्ष के समय पूर्व ज्ञान समाप्त हो जाने पर अन्य काल में पूर्व ज्ञान भी संभव नहीं है, अतः पूर्व ज्ञान का आश्रय विशेष भिन्न स्वीकार करना होगा। इसके अतिरिक्त उस ज्ञानाधिकरण से भिन्न एक करण भी मानना होगा । यदि मन को करण मानते है, तो ज्ञानाधिकरण रूप भिन्न आत्मा की स्वीकृति आवश्यक होगी। मन को अधिकरण मानने पर इससे भिन्न ज्ञान और स्मरण क्रिया का एक कारण मानना होगा । इस स्थिति में अन्तर केवल शाब्दिक रह जाएगा, व्यावहारिक नहीं ।[4]

विज्ञान आत्मा है:—

तीसरा मत विज्ञान को आत्मा मानता है, विज्ञान दो प्रकार का है; क्षणिक विज्ञान और नित्य विज्ञान । विज्ञानवादी कहते हैं कि 'विज्ञान' चूंकि स्वतः प्रकाश रूप है, अतः उसे चेतन मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यद्यपि भाव

---

१. मुक्तावली पृ० २०९

२. क. भाषा परिच्छेद ४८ ख. वि० मुक्तावली २१२

३. न्याय मुक्तावली पृ० २१४ ४. न्याय दर्शन ३. १. १७

पदार्थ होने के कारण विज्ञान भी अनित्य है, किन्तु पूर्व विज्ञान उत्तर विज्ञान का हेतु है, सुषुप्ति में भी आलय विज्ञान की धारा निर्बाध रूप से रहती है, तथा कस्तूरी से सुवासित वस्त्र के निकट सम्पर्क में आये हुए वस्त्र जिस प्रकार स्वयं सुवासित हो जाते हैं, एवं अन्य वस्त्रों को भी सुवासित करते रहते हैं, उसी प्रकार वासना का सक्रमण होने से पूर्व विज्ञान द्वारा साक्षात्कृत विषय का उत्तर विज्ञान द्वारा स्मरण भी अनुचित न होगा ।

नैयायिक विज्ञानवादियों के इस सिद्धान्त से सहमत नही है, वे कहते है कि चूंकि विज्ञान का विषय समस्त विश्व है, अतः आत्मा को भी सर्वज्ञ होना चाहिए । इसके अतिरिक्त सुषुप्ति में भी ज्ञान की सत्ता होने पर वहां भी विषय का अवभासन मानना होगा, क्योंकि ज्ञान सदा विषय युक्त ही होता है; विज्ञान को आत्मा मानते हुए पूर्वविज्ञान की वासना का संक्रमण उत्तर विज्ञान में मानना होता है, किन्तु यदि इस प्रकार कारण से कार्य में वासना का संक्रमण स्वीकार करते हैं, तो कारण माता की वासनाओं का संक्रमण कार्य-पुत्र में भी मानना होगा और ऐसा मानने पर माता द्वारा देख गये विषय का पुत्र को स्मरण होना चाहिए । इस प्रकार 'क्षणिक विज्ञान को आत्मा नही मान सकते ।[१] नित्य विज्ञान को आत्मा मानने पर पूर्व वर्णित सर्वज्ञत्व दोष उपस्थित होगा ही, अतः नित्य विज्ञान को भी आत्मा नहीं मान सकते ।[२] इस प्रकार शरीर इन्द्रिय मन और विज्ञान से भिन्न आत्मा है ।

आत्मा का विभुत्वः—

आत्मा के सम्बन्ध में एक प्रश्न और विचारणीय है कि उसका परिमाण क्या है—विभु, मध्यम अथवा अणुपरिमाण । आत्मा को मध्यम परिमाण का नहीं मान सकते, क्योकि मध्यम परिमाण का अर्थ होगा शरीरपरिमाण, और शरीर में वृद्धि ह्रास होता है, अतः आत्मा के परिमाण में शरीर के साथ वृद्धि और ह्रास को स्वीकार करना पड़ेगा । इसके अतिरिक्त विभिन्न जन्मों में प्रतियोनियो में शरीर के परिमाण में अन्तर होने से आत्मा के परिमाण में भी अन्तर मानना होगा । जैसे चीटी आदि के शरीर मे ह्रस्व मध्यम परिमाण तथा हस्ती आदि के शरीर में दीर्घ मध्यम परिमाण इत्यादि । किन्तु नित्य आत्मा मे परिमाण-

---

१. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली पृ० २१४-२१६

२. वही पृ० २१६

गत अनित्यता उचित नही है, अत: आत्मा को **मध्यम परिमाण** नहीं मान सकते।

आत्मा **अणु परिमाण** वाला भी नही है, क्योकि अणु परिमाण वाला आत्मा सम्पूर्ण शरीर के सुख-दुख का ज्ञाता नही हो सकता, नही ही अणुपरिमाण में अनेक ज्ञानों का होना ही सम्भव है, अनेक ज्ञान के अभाव मे स्मरण भी संभव नही है। इस प्रकार 'जो मै घड़े का द्रष्टा हूं, वही मैं घड़े को छू रहा हू" इत्यादि प्रतीति भी न हो सकेगी। फलत: 'आत्मा **विभु परिमाण** वाला है' यही मानना होगा।

आत्मा का प्रत्यक्ष:—

न्याय सूत्र के रचयिता गौतम और उनके अनुयायी आत्मा का ज्ञान **मानस प्रत्यक्ष** से मानते हैं; जबकि कणाद के अनुयायी इसे अनुमेय मानते हैं। गौतम के अनुयायियों का कथन है कि 'घट ज्ञान के समान 'इदं सुखम्' ('यह सुख है') इस ज्ञान की प्रतीति नही होती अपितु 'अहं सुखी' ('मैं सुखी हू') यह प्रत्यक्षात्मक प्रतीति होती है, इस प्रतीति में आत्मा का प्रत्यक्ष स्वत: हो जाता है[1] चूंकि अनुमान प्रत्यक्ष के बिना सम्भव नहीं है, अतः आत्मा को अनुमेय मानने के लिए भी उसे प्रत्यक्ष मानना ही होगा।[2]

योग भी आत्मा को प्रत्यक्ष का विषय मानता है, उसके अनुसार चित्त-वृत्तियो का निरोध होने पर आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है[3] अर्थात् उसका साक्षात्कार करता है। कणाद के अनुयायी तथा नव्य नैयायिक उद्भूतरूप को अथवा उद्भूतरूप और स्पर्श को प्रत्यक्ष में असाधारण कारण मानते हैं, एवं आत्मा में उद्भूतरूप और उद्भूत स्पर्श के न होने से उनके अनुसार आत्मा का प्रत्यक्ष नही हो सकता, किन्तु अनुमान ही होता है। इस अनुमान में आत्मा के इच्छा द्वेष प्रयत्न आदि गुण अथवा प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन और मन की गति तथा इन्द्रियों के विकार आदि हेतु कहे जाते हैं।[4] आत्मा की सिद्धि के लिए अनुमान प्रक्रिया इसी प्रकरण में दी जा चुकी है।

---

१. न्यायमञ्जरी पृ० ७ २. वही पृ० ७

३. योगदर्शन १. १. २-३ ४. क. न्यायमंजरी प्रमेय प्रकरण पृ० ८

ख. वैशेषिक सूत्र ३.२.४ ग. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ३३-३४

मनस्

'मन्यते अनेन इति तन्मनः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मन केवल ज्ञान का साधन ही नहीं है, अपितु वह सुखादि साक्षात्कार के कारण होने के साथ ही बाह्यप्रत्यक्ष का भी मुख्य साधन है। नैयायिकों ने अन्तिम विशेषता पर ही अधिक बल दिया है, यद्यपि वे आन्तर साक्षात्कार को भी अस्वीकार नही करते। इस प्रकार मन में दोनों विशेषताएं हैं : वह सुखादि प्रत्यक्ष का असाधारण कारण है और बाह्यप्रत्क्ष का साधन भी है। इस प्रकार मन स्वयं इन्द्रिय है, और साथ ही अन्य इन्द्रियो का सहायक भी। चूंकि अन्य इन्द्रिया केवल बाह्य विषय के प्रत्यक्ष का ही कारण है, अतः मन अन्य इन्द्रियों से भिन्न सिद्ध होता है।

विश्वनाथ के अनुसार सुखादि साक्षात्कार में जो मुख्य साधन (करण) है, उसे मन कहा जाता है।[1] तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट के अनुसार '**सुख-दु.ख आदि की उपलब्धि के साधन इन्द्रिय को मन** कहते हैं।'[2] प्रस्तुत लक्षण में **उपलब्धि** का तात्पर्य है : 'आन्तर साक्षात्कार' तथा **साधन** का अर्थ है : सहायक कारण। वाक्यवृत्तिकार मेरुशास्त्री के अनुसार इन लक्षणो में **सुखादि** का तात्पर्य है : 'आत्मा में विद्यमान वे सभी धर्म, जिनका साक्षात्कार केवल मन द्वारा होता है। अन्नंभट्ट कृत लक्षण में इन्द्रिय पदका प्रयोग आत्मा और आत्ममनः संयोग में मन के लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारण के लिए है, किन्तु यदि लक्षण वाक्य में **साधन** पद का अर्थ केवल **करण** अर्थात् **प्रधान साधन** समझा जाए तो **इन्द्रिय** पद के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि आत्मा सुखादि का आश्रय है, प्रधान साधन नहीं, तथा आत्ममनः संयोग एक व्यापारमात्र है।

तर्क दीपिका में अन्नंभट्ट ने मन का एक अन्य लक्षण दिया है। उसके अनुसार 'जो स्पर्शवान् न होते हुए भी क्रियावान् है, वह मन है।'[3] मन का यह लक्षण यद्यपि आलोचना की दृष्टि से निर्दोष है, किन्तु यह **मन** का परिचय देने में सहायक नहीं है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन पांच स्पर्श रहित है, इनमें केवल **मन** ही सक्रिय है।

---

१. भाषापरिच्छेद ८५ २. तर्क संग्रह पृ० ५२

३. तर्कदीपिका पृ० ५२

मन की सिद्धि के लिए न्याय में निम्नलिखित युक्तियां दी जाती है— (१) विभु आत्मा और इन्द्रियों का नित्य सम्बन्ध है, तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां अपने विषयों से सम्बद्ध होती हैं, फिर भी एक साथ अनेक ज्ञान नहीं होते, इसी से निश्चित होता है कि 'मन है'।[1] (२) आत्मा इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का कभी ज्ञान होना और कभी न होना मन के सम्बन्ध में प्रमाण है।[2] (३) आत्मा इन्द्रिय और अर्थ का सान्निध्य होते हुए भी ज्ञान सुख आदि का पहले अभाव पुनः उत्पत्ति मन रूप करण की सिद्धि में प्रमाण है।[3] (४) सुखादि का साक्षात्कार चूंकि जन्य साक्षात्कार है, अतः इसका करण भी अवश्य है, जैसे चाक्षुष साक्षात्कार में चक्षुरूप करण रहता है।[4] मन की सिद्धि के लिए विभिन्न आचार्यों द्वारा दी गयी युक्तियों में मुख्यतः एक ही बात है : कि आत्मा विभु है अतः आत्मा और इन्द्रिय के बीच सम्बन्ध में कभी अन्तराय सम्भव नहीं अर्थात् इन्द्रियां चेतन आत्मा से नित्य सम्बन्ध हैं, अतः विषय का इन्द्रिय से जब भी सम्बन्ध हो, ज्ञान होना ही चाहिए; किन्तु ऐसा होता नहीं। इसके अतिरिक्त पांचों ज्ञान इन्द्रियों से एक काल में ज्ञान नहीं होता। आत्मा और इन्द्रिय का तथा इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध होने पर भी ज्ञान होने न होने पर कोई कारण होना चाहिए; वह कारण ही मन है। इसके अतिरिक्त आत्मा जब सुख आदि का साक्षात्कार करता है, तो वहां कार्य और कर्त्ता के अतिरिक्त अन्यकरण (मुख्य साधन) का होना भी आवश्यक है; वह साधन ही मन है।

मन असंख्य है और प्रत्येक आत्मा के साथ एक एक नियत है।[5] वाक्यवृत्तिकार मेरु शास्त्री ने अन्नंभट्ट प्रयुक्त नियत शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि 'मन आत्मा में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध और असम्बद्ध भोग का कारण है यह नियत शब्द का अर्थ है।[6] किन्तु नियत शब्द का यह तात्पर्य अधिक स्पष्ट है : कि प्रत्येक मन एक-एक आत्मा से सम्बद्ध है और मृत्यु के बाद जन्मान्तर में भी वह उसके साथ रहता है, इसके फलस्वरूप ही विगत संस्कार उद्बुद्ध होते हैं। चूंकि मन अनन्त हैं अतः उनमें सामान्य धर्म के रूप में **मनस्त्व** जाति को भी स्वीकार किया जाता है।

---

१. न्यायसूत्र १.१.१६।
२. वैशेषिकसूत्र ३.२.१।
३. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ३५।
४. न्याय मुक्तावली पृ० ४३३
५. तर्क संग्रह पृ० ५२।
६. वाक्यवृत्ति मेरुशास्त्री कृत।

मन अणु है—

अन्य द्रव्यों की अपेक्षा मन की एक स्वतन्त्र विशेषता है कि वह अणु परिमाण वाला है। अणु होने के कारण ही वह आत्मा और विषय के सम्बन्ध का कारण बन पाता है, जिसके फलस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। अन्यथा **विभु** आत्मा का प्रत्येक विषय से नित्य सम्बन्ध है, फलस्वरूप उसे प्रत्येक विषय का नित्य ज्ञान होना चाहिए। मीमांसक मन को विभु मानते हैं, इस सम्बन्ध में उनकी युक्तिया निम्नलिखित है:—१. मन विभु है, क्योंकि वह आकाश के समान स्पर्श गुण रहित द्रव्य है।[१] २. मन विभु है, क्योकि वह काल के समान विशेष गुणों से रहित द्रव्य है।[२] ३. जैसे आत्मा ज्ञान के असमवायिकारण संयोग का आश्रय है एवं विभु है, उसी प्रकार ज्ञान के असमवायिकारण सयोग का आश्रय होने से मन भी विभु है।[3] किन्तु नैयायिकों को मन का यह विभुत्व प्रिय नहीं है। वे कहते है कि मन को विभु मानने पर विभु मन प्रत्येक इन्द्रियो से एक साथ नित्य सम्बद्ध होगा। ऐसी स्थिति में समस्त विषयों का ज्ञान सार्वकालिक रूप से नित्य ही होना चाहिए। जहां एक साथ अनेक ज्ञान की प्रतीति होती है वहां प्रतीति भ्रान्त है।[४]

इसके अतिरिक्त मन के विभु होने पर स्वप्न और सुपुप्ति का होना भी संभव न होगा, क्योंकि उन अवस्थाओं में भी इन्द्रिय मन और आत्मा का संयोग होने से ज्ञान की उत्पत्ति आवश्यक होगी। तर्कदीपिका में इसी तर्क को दूसरे प्रकार से उपस्थित किया गया है, वहां कहा गया है कि चूंकि संयोग दो अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति को कहते हैं, अतः विभु आत्मा और विभु मन की अप्राप्ति कभी दृष्टिगत नहीं हो सकती (वे नित्य ही मिले हुए है), अतः उनके नित्य सम्पर्क को संयोग नहीं कहा जा सकता है। यदि कदाचित् दो विभु पदार्थो का भी संयोग मान भी लिया जाये तो वह नित्य संयोग होगा, क्योंकि दो विभु

---

१. वैशेषिक उपस्कारभाष्य पृ० १०२ २. वही १०२ ३. वही १०२

४. (क) न्याय सूत्र ३.२.६१

(ख) भाषा परिच्छेद ८५.

(ग) मुक्तावली पृ० ४३४

पदार्थों को विभक्त करने वाला विभाग कभी सभव नही है, फलतः सुषुप्ति अवस्था न मानी जा सकेगी; किन्तु मन को अणु मानने पर यह दोष नहीं रहता,[1] क्योकि जब मन पुरीतत् नाड़ी मे प्रवेश करता है, तब पुरीतत् नाड़ी से बाहर आत्मा एव मन का इन्द्रियों द्वारा विषय से सयोग न होने से ज्ञान उत्पन्न नही होता, किन्तु पुरीतत् नाड़ी से मन के बाहर आने पर आत्मा एव इन्द्रियों के साथ उसका सम्बन्ध होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्मा को विभु मानने के कारण यहां सन्देह हो सकता है कि पुरीतत् नाड़ी मे विद्यमान मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध है ही, अतः वहा ज्ञान का अभाव क्यों है ? किन्तु इसका समाधान स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आत्मा और मन के संयोग के साथ ही साथ मन और इन्द्रियों का संयोग भी आवश्यक होता है, पुरीतत् नाड़ी में विद्यमान मन का आत्मा के साथ संयोग तो अवश्य है, किन्तु मन और इन्द्रियों का संयोग नही है। श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ चूकि नियत स्थान पर रहने वाली हैं, अतएव मन का उनसे सयोग सम्भव नही है, हां सर्वशरीर-व्यापी त्वगिन्द्रिय से सयोग का सन्देह अवश्य ही सभव है, किन्तु नैयायिक पुरीतत् नाड़ी में त्वगिन्द्रिय की व्यापकता नही मानते,[2] अतः उस स्थिति में भी आत्म-सयुक्त मन का त्वगिन्द्रिय से सयोग का अभाव है, अत सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान की संभावना नही हो सकती। साथ ही उद्‌बोधक के अभाव में सुषुप्ति अवस्था में स्मरण भी संभव नहीं है।

हां एक समस्या रह जाती है, वह है 'सुख दुःखादि के ज्ञान की' क्योंकि इनके प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय और विषय के संयोग की आवश्यकता नही होती, एव पुरीतत् नाड़ी में विद्यमान मन के साथ भी आत्मा का सयोग तो है ही। नैयायिकों ने इस समस्या का समाधान ज्ञान मात्र के प्रति '**त्वगिन्द्रिय और मन के** अथवा **इन्द्रिय और मन के संयोग को** मान कर किया है।

सुषुप्तिः—

हृदय के निकट पुरीतत् नामक नाड़ी विशेष है। जब सुषुप्ति के अनुकूल मन में क्रिया होती है, तब मन का और इन्द्रियों के संयोग नाश होकर मन और इन्द्रियों का विभाग होता है।[3] उसके अनन्तर मन का पुरीतत्

---

१. वैशेषिक ७.१.२३ २. न्याय मुक्तावली पृ० २४५

३. न्याय मुक्तावली पृ० २४६

नाड़ी से संयोग और उसमे मन की स्थिति होती है; इसे ही सुषुप्ति कहते हैं।

नैयायिकों के अनुसार 'मन मे क्रिया उत्पन्न होने पर मन और आत्मा के संयोग का नाश और उनका विभाग होकर पुरीतत् में मन का प्रवेश होता है।'[1] वस्तुतः विभु आत्मा से सयुक्त मन आदि द्रव्य का संयोग नित्य अथवा द्रव्य नाश के पूर्व क्षण तक मानना चाहिए, अर्थात् जब तक मन अथवा आत्मा में से किसी एक का नाश नहीं होता, तब तक दोनों के संयोग का नाश सम्भव नही है। नैयायिक परम्परा मे सुषुप्ति के प्रसङ्ग में आत्ममनः संयोगनाश मे आत्मा का तात्पर्य **विजातीय आत्मा** से है, अर्थात् विषयसम्बद्ध इन्द्रियसयुक्त आत्मा से मन के संयोग का नाश होता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी विशेषता से रहित तो शुद्ध आत्मा हुई, तथा विषयसम्बद्ध इन्द्रियसयुक्त एक विशेष विजातीय आत्मा हुई सुषुप्ति से पूर्व उस विशिष्ट आत्मा से मन के संयोग का नाश होता है। आत्म मनः संयोग नाश में इस विशिष्ट आत्मा से विभाग ही अपेक्षित है। इस प्रकार यह केवल कहने का प्रकार भेद (द्रविड़ प्राणायाम) ही हुआ सीधे शब्दों इसे आत्म मनः सयोग नाश और आत्म मनः विभाग के स्थान पर 'मन और इन्द्रिय के सयोग का नाश और मन इन्द्रिय विभाग' का कथन ही अधिक उपयुक्त होगा।

पुरीतत् नाड़ी अथवा सुषुप्ति की यह कल्पना नैयायिको का कोई निज आविष्कार नही है। बृहदारण्यक[2] उपनिषद् में भी सुषुप्ति का वर्णन मिलता है; उसके अनुसार 'मन हृदय से निकलकर बहत्तर हजार नाड़ियों से निकलता हुआ पुरीतत् नाड़ी में प्रवेश करता है, उस समय आत्मा को कुछ भी ज्ञान नही रहता।

वेदान्ती पुरीतति नाड़ी में मन का प्रवेश न मान कर जीव का प्रवेश मानता है, शेष प्रक्रिया दोनों में समान ही है। इसी पुरीतत् नाड़ी को योगी एवं वेदान्ती सुषुम्ना नाड़ी कहते है। इस नाड़ी का उच्चतम स्थान ब्रह्मरन्ध्र है। योगी पुरुष की आत्मा इसी मार्ग से शरीर से बाहर निकलती है।

मन इन्द्रिय है :—

नैयायिक मन को इन्द्रिय मानते हैं, यद्यपि गौतम और कणाद ने स्पष्ट रूप से मन के इन्द्रियत्व को कहीं स्वीकार नहीं किया, किन्तु उन्होंने इसका निषेध

---

१. दिनकरी टीका पृ० २४८   २. बृहदारण्यक उपनिषद् पृ० २.१.१९

भी कहीं नहीं किया। आश्चर्य तो यह है कि गौतम ने शरीर का तो स्पष्ट लक्षण देते हुए उसे चेष्टा इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय कहा[1] किन्तु वहीं इन्द्रिय के प्रसङ्ग में किसी प्रकार का लक्षण दिये बिना ही घ्राण रसन चक्षुः त्वक् तथा श्रोत्र इन पांच इन्द्रियों की गणना कर दी।[2] इन इन्द्रियों के स्वरूप और कार्य को देख कर न्याय दर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने अवश्य ही '**अपने विषय के ग्रहण करने की क्षमता**' को इन्द्रिय का लक्षण मान लिया है।[3] यही स्थिति कणाद की है, उन्होने भी कही इन्द्रिय का लक्षण नहीं दिया, तथा मन इन्द्रिय है या नहीं, इस सम्बन्ध में भी वे सर्वथा मौन रहे हैं। वैशेषिक दर्शन के भाष्यकार आचार्य प्रशस्तपाद ने भी कुछ स्पष्टीकरण देना उचित नही समझा। किंतु सांख्य की परम्परा में मन को स्पष्टतः इन्द्रिय स्वीकार किया गया है।[4] सम्भवतः इसी प्रभाव में आकर उत्तर काल में न्याय में भी मन को इन्द्रिय मान लिया गया। इस मान्यता में प्रत्यक्ष के परम्परागत लक्षण से भी विशेष सहायता मिली है। जैसाकि प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पति से भी प्रकट होता है इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है,[5] चूंकि सुख आदि के प्रत्यक्ष में केवल मन ही एक मात्र साधन है अन्य इन्द्रियां नही; अतः अगत्या सुखादि साक्षात्कार को प्रत्यक्ष मानने के लिए मन को इन्द्रिय मानना आवश्यक हो गया, इसीलिए परवर्त्ती नैयायिको को स्पष्टरूप मे मन को इन्द्रिय स्वीकार करना ही पड़ा।[6] '**अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति**' इस सिद्धान्त के अनुसार हम इसे (मन का इन्द्रियत्व) गौतम और कणाद आदि का अभिमत भी स्वीकार कर सकते हैं।

वेदान्त के अनुयायी 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः, अर्थेभ्यश्च परं मनः, मनसश्च पराबुद्धिः'[7] इत्यादि श्रुति विरोध के कारण मन को इन्द्रिय नही मानते, क्योकि इस श्रुति में मन और इन्द्रियों में भेद स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।[8] मन को इन्द्रिय न मानने पर सुख आदि के साक्षात्कार को प्रत्यक्ष मानने

---

१. न्याय दर्शन १.१.११.
२. वही १.१.१२
३. न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य १.१. १२
४. सांख्य कारिका २७
५. न्यायदर्शन १.१.४.
६. तर्क संग्रह पृ० ५२
७. (क) कठोपनिषद १.३.३-४ १.३.७, १०-२.३.७
(ख) मुण्डकोपनिषद् २.१.३
८. वेदान्तसूत्र भामती २.३३. १५

मे बाधा हो सकती है, इस लिए वे नैयायिक स्वीकृत प्रत्यक्ष लक्षण को ही अस्वीकार कर देते है। यों तो नव्य नैयायिक भी योगिप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष की परिभाषा के अन्तर्गत करने के लिए प्रत्यक्ष की पूर्व परिभाषा को छोड़ अन्य परिभाषा करते है कि '**जिस ज्ञान में किसी ज्ञानान्तर की सहायता आवश्यक न हो वह प्रत्यक्ष** है, किन्तु वे मन को अवश्य ही इन्द्रिय मानते है।'

नैयायिकों और वेदान्तियों में यह मौलिक अन्तर होते हुए भी दोनों की दृष्टि में मन की स्थिति समान ही है। दोनो ही उसे बाह्य इन्द्रियों से भिन्न मानते हैं, फिर चाहे इन्द्रिय कहें या अन्त.करण या कुछ अन्य। यदि मन इन्द्रिय है, तो वह अन्तरिन्द्रिय है, तथा बाह्य इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न है। यदि वह इन्द्रिय नहीं है, तो भी वह इन्द्रियो की अनेक विशेषताओं से युक्त अवश्य है।

———

३
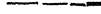
गुण विमर्श

रूप

केवल चक्षु द्वारा ग्रहण किये जाने वाले गुण को रूप कहते हैं ।[1] रूप का यह लक्षण सर्व प्रथम अन्नंभट्ट ने किया है । सूत्रकार ने रूप का कोई लक्षण नही दिया था, भाष्यकार प्रशस्तपाद ने केवल **'चक्षु द्वारा ग्रहण किये जाने वाले को रूप'** कहा था, किन्तु चक्षुर्ग्राह्य पृथिवी जल और अग्नि द्रव्य भी हैं, संख्या परिमाण आदि गुण भी हैं, अतः इनमें अतिव्याप्ति निवारणार्थ **मात्र** पद का प्रयोग उत्तरकालीन आचार्यों ने आवश्यक समझा, अब भी रूपत्व जाति का ग्रहण केवल चक्षु द्वारा होने के कारण उसमें रूप लक्षण की अतिव्याप्ति संभव थी, अतः लक्षण में **गुण** पद का भी प्रयोग करना आवश्यक समझा गया ।

विश्वनाथ ने भी रूप का लक्षण आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार चक्षु द्वारा ग्राह्य रूप है' इतना ही किया ।[3] किन्तु चक्षुग्राह्य से उनका तात्पर्य 'चक्षु-ग्राह्य विशेष गुण से है ।[4] विश्वनाथ की इस व्याख्या के अनुसार **मात्र और गुण** पद के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रह जाती । साथ ही **मात्र और गुण** पद के प्रयोग करने पर **और प्रभा घट के बीच संयोग** में होने वाली अतिव्याप्ति का निवारण भी हो जाता है । अन्नंभट्ट गुण पद का **विशेष गुण** अर्थ नहीं मानते, अतः उन्हें प्रभा और घट के बीच संयोग में होने वाली अतिव्याप्ति के निवारण के लिए जाति घटित लक्षण मानना पड़ता है ।[5] चूंकि संयोगत्व जाति-मान् सयोग गुण केवल चक्षुग्राह्य नहीं है, अतः उनके अनुसार अतिव्याप्ति न होगी । चूंकि वैशेषिक परम्परा में परमाणु में भी रूप (**अनुद्भूत रूप**) विद्य-

---

१. तर्क संग्रह पृ० ५४   २. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४४
३. भाषा परिच्छेद का० १००   ४. न्याय मुक्तावली पृ० ४४५ ।
५. तर्कदीपिका पृ० ५५

मान है, किन्तु उसका ग्रहण चक्षु द्वारा संभव नहीं है, इसलिए वाक्यवृत्तिकार मेरुशास्त्री ने त्वचा इन्द्रिय द्वारा अग्राह्य तथा चक्षु द्वारा ग्राह्य गुणत्व से व्याप्य (**अवान्तर या विभाजक**) जाति से युक्त को **रूप** कहते हैं, इत्यादि लक्षण किया है।[1] उपर्युक्त लक्षणों में ग्राह्य पद का तात्पर्य सामान्य प्रत्यक्ष से है, योगिप्रत्यक्ष से नहीं। क्योंकि रूप आदि का योगज प्रत्यक्ष तो नेत्र के बिना भी संभव है।

शंकर मिश्र ने सामान्य प्रत्यक्ष के लिए पांच बातें आवश्यक मानी है,[2] महत्परिमाण, अनेक द्रव्यवत्व उद्भूतत्व अनभिभूतत्व तथा रूपत्व। **परमाणु** में **महत्परिमाण** न होने से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। द्वयणुक में अनेक द्रव्यवत्व न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। **नेत्रज्योति** में **उद्भूतत्व** का अभाव प्रत्यक्ष न होने में कारण है। दिन में **नक्षत्रों** का प्रत्यक्ष अनभिभूतत्व के अभाववश नहीं होता। इसी प्रकार गन्ध और स्पर्श का प्रत्यक्ष रूपत्व के अभाव के कारण संभव नही है। स्मरणीय है कि नैयायिक प्रत्यक्ष के लिए रूप अथवा स्पर्श का होना आवश्यक मानते है, अतः उनके मत में स्पर्श का प्रत्यक्ष तो हो जायगा किन्तु गन्ध का नहीं। इस का विवेचन पहले किया जा चुका है।[3]

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक न्यूटन के अनुसार रूप केवल प्रकाश में है, जिस वस्तु पर जैसी प्रकाश किरणें पड़ती है, उस वस्तु का वैसा ही रग प्रतीत होता है। प्रकाश की स्वेत किरण में सभी आधारभूत रंग विद्यमान रहते हैं, इसी कारण एक शीशे के खण्ड द्वारा विभिन्न रंगों का पृथक् पृथक् प्रत्यक्ष हो सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी एवं जल का कोई निज रूप नहीं है, इन में प्रतीत होने वाला रूप तेज का ही रूप है।

रूप के भेद :—

रूप के सात प्रकार हैं—स्वेत, नीला, पीला, लाल, हरा, कपिश मटमैला, और चितकबरा या चित्र। चित्र (चितकबरा) रंग के सम्बन्ध यह प्रश्न हो सकता है कि इसको पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है, इसे विभिन्न रंगों का संयोग क्यों न माना जाए? नैयायिकों के अनुसार संयोग आदि गुण तो **अव्याप्यवृत्ति** हैं, अर्थात् वे किसी द्रव्य के एक अंश में रह सकते हैं, किन्तु

---

१. वाक्यवृत्ति रूपप्रकरण २. उपस्कार भाष्य ४.१.६,८.

३. इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ४४-४५ देखें।

रूप अव्याप्य वृत्ति न होकर व्याप्यवृत्ति गुण है, अर्थात् रूप सम्पूर्ण द्रव्य में अनिवार्य रूप से एक ही रहेगा। जैसे अव्याप्यवृत्ति संयोग वृक्षरूप द्रव्य के केवल एक भाग में ही रहता है, अत: बन्दर और वृक्ष का संयोग शाखा में ही माना जाएगा, वृक्ष मूल में नहीं; किन्तु रंग की यह स्थिति नही है, प्रत्यक्ष रूप को तो व्याप्यवृत्ति ही होना चाहिए, अर्थात् द्रव्य के सम्पूर्ण अंश मे रहना चाहिए, जबकि चित्र द्रव्य में नीला पीला आदि वर्ण व्यापकरूप से कोई भी नही हैं, अत: **चित्र रूप** को स्वतंत्र रूप से मानने की आवश्यकता हुई।[1]

नैयायिकों की मान्यता के अनुसार **चित्ररूप** में **नीला** आदि रूप विद्यमान हैं, किन्तु वे व्याप्यवृत्ति नहीं हैं, अत: उनका प्रत्यक्ष नही हो सकता; कारण यह है कि यदि यह माना जाय, कि चित्र में नील रूप रहता है, और उसका प्रत्यक्ष होता है, तो प्रश्न होगा किस सम्बन्ध से ? यदि यह कहें कि चित्र में नील आदि रूप समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और उसका प्रत्यक्ष **संयुक्तसमवेतसमवाय** से होता है, क्योंकि द्रव्य से चक्षु का **संयोग** होता है, तथा द्रव्य में चित्र रूप **समवाय सम्बन्ध** से है, तथा नील रूप चित्र में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है, तो पुन: प्रश्न होगा कि चित्ररूप गत **रूपत्व जाति** का प्रत्यक्ष किस सम्बन्ध से माना जाये ? क्या **चक्षुसंयुक्तसमवेतसमवेतसमवाय** से ? किन्तु प्रत्यक्ष के लिए स्वीकृत छ सन्निकर्षो मे[2] इस प्रकार का कोई सन्निकर्ष नहीं है, अत: सप्तम सन्निकर्ष मानना होगा, जो कि गौरव होगा। अत: **चित्ररूप** में भी नील रूप की अव्याप्यवृत्ति धर्म के रुप में कल्पना नही की जा सकती।

नव्य नैयायिक संयोग आदि के समान ही रूप को भी **अव्याप्यवृत्ति** मानते हैं। उनका कथन है कि अव्याप्यवृत्ति नील आदि भी रूप नही हैं, इसे मानने के लिए किसी कारण की कल्पना करनी होगी, जो कि गौरव होगा। एक द्रव्य में व्याप्य वृत्ति जातीय दो गुणों में विरोध भी प्रमाण के अभाव होने से नहीं मान सकते। ऐसे स्थलों पर विरोध, लाघव के कारण तथा 'एक रूप है' इस प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध के कारण, नही मान सकते। इस प्रसंङ्ग में वे नील वृष की शास्त्रीय परिभाषा उपस्थित करते हैं[3] जिसमें 'वर्ण से लोहित, मुख और पूछ में पाण्डुर तथा खुर और सींग में स्वेत वृष को नील वृष' कहा गया हैं।[4]

---

१. न्याय मुक्तावली पृ० ४४६

२. सन्निकर्षो को लिए इसी ग्रन्थ का प्रत्यक्ष विमर्श द्रष्टव्य है।

३. न्याय मुक्तावली पृ० ४४७   ४. वही पृ० ४४७-४४८

रूप के उपर्युक्त लक्षण तथा विभाजन से पता चलता है कि रूप से नैयायिकों का तात्पर्य केवल रग से है आकार विशेष से नही। आकार को नैयायिकों ने अवयव संस्थान विशेष अर्थात् संयोग विशेष माना है; जबकि वेदान्त में आकार को अतद्व्यावृत्ति रूप धर्म ही माना गया है। आकृति चूंकि स्पर्श-ग्राह्य भी है, अतः नैयायिक उसे रूपान्तर्गत नही स्वीकार करते।

न्याय वैशेषिक में पृथ्वी में सातो रूप स्वीकार किये जाते हैं, जबकि जल में केवल अभास्वरशुक्ल तथा तेज में भास्वरशुक्ल ही माने जाते हैं, शेष नहीं।

रस

रसना इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने वाले गुण को रस कहते है।[१] यह रस पृथ्वी और जल मे विद्यमान रहता है, आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार यह रस ही प्राणियों मे जीवन, पुष्टि, बल और आरोग्य का हेतु है।[२] नैयायिकों के अनुसार रस छ प्रकार का है: मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़ुवा, कषैला, तीता। बैलेटाइन (Ballantyne) ने कडुवा (कटु) और तीता (तिक्त) को परस्पर विरोधी माना है, किन्तु वह उचित नही है क्योंकि नीम, करैला आदि का कडुआ तथा मिर्च आदि का तीता रस सर्वसामान्य के अनुभव से सिद्ध है।

नैयायिकों ने यद्यपि रूप के प्रसंग में अनेक रूपों के मिश्रित रूप को चित्र कहा था, किन्तु अनेक रसों के मिश्रण को उन्होंने चित्र रस नहीं माना है, उसका कारण यह है कि चक्षु किसी वस्तु के विस्तृत भाग के रूप को एक साथ ग्रहण कर सकती है और इसीलिए उस भाग में अनेक रंगों की सत्ता एक काल में देखी जा सकती है, अतः व्याप्यवृत्ति रंग के रूप में चित्र रूप को उन्होंने स्वीकार किया है, किन्तु रसना किसी द्रव्य के विस्तृत भाग का साक्षात्कार नहीं कर सकती उसके द्वारा केवल एक अंश का ही ग्रहण हो पाता है अतः किसी द्रव्य के अनेक भागों में स्थित रसों का साक्षात्कार एक साथ संभव नहीं है, अतः उन्हें चित्र रस मानने की आवश्यकता न हुई।

साहित्यशास्त्र में रस विवेचन के प्रसंग में अनेक रसों के मिश्रण की चित्र रस के रूप में पानक रस नाम से चर्चा की गयी है,[३] किन्तु वस्तुतः वहाँ प्रतीति मिश्रण न

---

१. (क) प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४५ (ख) कारिकावली १०१

२. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४५

३. काव्यप्रकाश पृ० ७७

होकर पृथक्-पृथक् काल में ही होती है, अतः चित्र रस को मानने की आवश्यकता नही होती। यह रस पृथ्वी मे छः प्रकार का तथा जल में केवल मधुर रहता है।

गन्ध

घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने वाले गुण को गन्ध कहते हैं।[1] यह दो प्रकार का है: सुरभि और असुरभि। ये दोनो प्रकार के गन्ध अनुभवगम्य हैं, अतः नैयायिकों ने इनकी परिभाषा नहीं की है। उन्होने रस के समान ही गन्ध में भी चित्र भेद स्वीकार नही किया है। गन्धकी सत्ता केवल पृथ्वी में है। जल में प्रतीत होने वाला गन्ध पार्थिव संयोग के कारण पार्थिव ही है।

स्पर्श

केवल त्वचा इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने वाले गुण को स्पर्श कहते हैं। यह तीन प्रकार का है: शीत उष्ण और अनुष्णाशीत[2]। नव्य नैयायिक कठिन और सुकुमार स्पर्श को भी स्पर्श का भेद मानते हैं। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार प्रतीत होने वाला कठिन और सुकुमार स्पर्श सयोग का ही प्रकार है, स्पर्श का भेद नहीं, किन्तु नव्य नैयायिको का कथन है कि चूंकि संयोग चक्षुरिन्यिद्रय ग्राह्य है, जबकि कठिनता और सुकुमारता चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य नही हैं, अतः इन्हें संयोग नही मानना चाहिए।[3] वस्तुतः सयोग सदा ही चक्षुरिन्द्रिग्राह्य हो यह आवश्यक भी नही है क्योकि जिन द्रव्यों का सयोग हो रहा है वे द्रव्य जिस इन्द्रिय से ग्राह्य होते है, उनमे आश्रित संयोग भी उन इन्द्रियों से ही गृहीत होता है। चक्षुग्राह्य दो पार्थिव द्रव्यो का संयोग चक्षुग्राह्य होगा किन्तु जो द्रव्य चक्षुग्राह्य नहीं है, उनमें आश्रित संयोग भी चक्षुग्राह्य नहीं होगा। उदाहरणार्थ हम मन और इन्द्रिय संयोग को ले सकते है, यह कभी चक्षुग्राह्य नही है। इसके अतिरिक्त चक्षु ग्राह्य द्रव्यों के परमाणुओं में विद्यमान संयोग भी उस स्थिति में चक्षुग्राह्य नहीं होता, जबकि उन संयुक्त होने वाले द्रव्यों में महत्परिमाण न हो; महत्परिमाण न होने के कारण परमाणुद्वय संयोग का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसके साथ ही सयोग को नैयायिकों ने दो इन्द्रियों

---

१. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४६. २. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४६.

३. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली पृ० ४४६.

द्वारा ग्राह्य माना है ।[1] अतः सुकुमार कठिन आदि को गुण (संयोग) मानने पर भी उसे चक्षुग्राह्य होना आवश्यक नही है । तात्पर्य यह है कि सुकुमार एवं कठिन के स्पर्श के भेद न मानने मे कोई कारण नही दीखता ।

यह स्पर्श केवल पृथ्वी, जल, तेज, और वायु में ही है, अन्य द्रव्यों में नहीं इनमें से जल मे शीत स्पर्श, तेज में उष्ण स्पर्श तथा वायु और पृथ्वी में अनुष्णाशीत स्पर्श विद्यमान रहता है ।

पाकज गुण—

पृथ्वी में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाकज तथा अनित्य है एवं पृथ्वी से भिन्न जल तेज और वायु मे अपाकज हैं । साथ ही नित्य द्रव्य परमाणु में वही रूपादि नित्य एवं अनित्य कार्यद्रव्य मे विद्यमान होने पर वही अनित्य हैं । पृथिवी मे विद्यमान रूपादि को सर्वथा अनित्य मानते हुए 'पार्थिव परमाणु मे विद्यमान गन्ध नित्य है या अनित्य' इस सम्बन्ध मे नैयायिक मौन हैं । क्योंकि रूप को नैयायिको ने सलिल आदि में अपाकज तथा पृथ्वी आदि में पाकज कहा था' चूंकि गन्ध सलिल आदि मे नही है, अतः यह सामान्य नियम उस पर लागू नही होना चाहिए । यदि गन्ध पार्थिव परमाणु मे नित्य है पाकज नहीं, तो उसका पृथक् कथन होना चाहिए ।

इस प्रसङ्ग में पाकज का अर्थ विजातीय अग्नि सयोग से उत्पन्न होने वाला गुण है । अग्नि संयोग के कारण पृथ्वी में पूर्व से विद्यमान अपने रूप रस और स्पर्श नष्ट हो जाते हैं, एवं अन्य रूप आदि का जन्म होता है, किन्तु जल और तेज में इस प्रकार विजातीय तेज संयोग के कारण रूप आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता । नैयायिकों के अनुसार जल के समान ही वायु में भी विद्यमान आकस्मिक उष्णता पाकज नही है क्योंकि, वह प्रतीयमान उष्णता जल अथवा वायु का धर्म नहीं है, अपितु तेज ही सूक्ष्म रूप से जल अथवा वायु के साथ विद्यमान रहता है । अन्यथा (वह उष्णता जल आदि का धर्म होती तो) अग्नि संयोग का अभाव होने पर उक्त प्रतीत होने वाली उष्णता विलीन न होती, क्योंकि पाकज रूपादि अग्नि संयोग का नाश होने पर भी नष्ट नहीं होते ।

रूपादि की पाकज उत्पत्ति के सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक सम्प्रदायों में

---

१. (क) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४८ (ख) भाषा परिच्छेद १०१.

परस्पर मौलिक मत भेद हैं । वैशेषिक मत में पाक क्रिया के समय घटगत परमाणु पृथक्-पृथक् हो जाते है एव घट का विनाश हो जाता है, सब क्रिया सम्पन्न हो जाने पर अदृष्ट वशात् परिवर्तित रूप आदि वाले परमाणुओ मे पुन. संयोग उत्पन्न होता है, एव संयुक्त परमाणुओ से पुन घट की उत्पत्ति होती है।[१] परमाणुओ मे पाक मानने के कारण इन्हे (वैशेषिको को) पीलुपाकवादी कहा जाता है।[२] न्याय मत में सयोग रहित परमाणुओ मे पाक क्रिया नही मानी जाती अपितु सयुक्त परमाणुओ मे ही मानी जाती है, परिणाम स्वरूप इस मत मे तेज सयोग होने पर घट परमाणुओ के सयोग का नाश नही होता अर्थात् घट मे ही पाक क्रिया एव रूप आदि का परिवर्तन माना जाता है। इनके अनुसार पाक का तात्पर्य 'रूप आदि को परिवर्तित करने वाला विजातीय तेज सयोग है।[3] यह तेज सयोग अनेक प्रकार का है। घट मे यह विशेष प्रकार का सयोग केवल रूप विशेष को ही उत्पन्न करता है, जबकि आम आदि फलो मे **विजातीय** तेज का सयोग रूप के साथ ही रसगन्ध और स्पर्श चारो मे ही परिवर्त्तन ला देता है। इस विशिष्ट कार्य का कारण भूत तेज सयोग निश्चय ही घट मे होने वाले तेज सयोग से भिन्न है। इस प्रसग मे विजातीय शब्द का प्रयोग इसलिए किया है, कि स्वर्ण आदि मे होने वाला तेज सयोग चूंकि स्वर्ण के तैजस होने कारण विजातीय नही है, अत उसमे पाकज रूपादि उत्पन्न नही होते, यह स्पष्ट हो सके।

वैशेषिको की पाक प्रक्रिया मे घट गत परमाणुओ के विभक्त होने के कारण श्याम घट का विनाश हो जाता है, तथा परमाणुओ मे श्याम रूप का नाश और लाल रूप की उत्पन्ति होती है, तदनन्तर पुन परमाणुओं मे सयोग होने से घट की उत्पत्ति होती है। धर्म के विनाश और पुन उत्पत्ति की यह प्रक्रिया वैशेषिको को परमाणु मे पाक मानने के कारण स्वीकार करनी पडती है। उनके अनुसार यदि घट का नाश न माना जाएगा तो सयुक्त एव घनीभूत परमाणुओ के मध्य मे विद्यमान परमाणुओ मे पाक क्रिया सभव न हो सकेगी। विनाश एव पुनः उत्पत्ति की प्रक्रिया के अत्यन्त शीघ्र सम्पन्न होने के कारण यह दृष्टिगत नही हो पाती।

---

१ प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४६-४८। न्याय मुक्तावली ४४६, ४५८

२. तर्क दीपिका पृ० ५९-६०

३. तर्क दीपिका किरणावली पृ० ५८

इस पाकज उत्पत्ति और विनाश में कितना समय लगता है, इस सम्बन्ध में वैशेषिकों में भी चार मत हैं। एक वर्ग इस प्रक्रिया में नौ क्षणों का समय आवश्यक मानता है, दूसरा दस क्षणों का, तीसरा ग्यारह क्षणो का, चौथे मत में यह कार्य केवल पांच क्षणों में ही सम्पन्न हो जाता है। इन चार मतों में नवक्षण की प्रक्रिया अधिकतः स्वीकार की जाती है। इस प्रक्रिया में प्रथम क्षण में अग्नि संयोग से परमाणुओं में कर्म, अन्य परमाणुओं से विभाग, द्व्यणुक आरम्भक संयोग का नाश तथा द्व्यणुक का नाश होता है। द्वितीय क्षण में परमाणु में श्याम रूप आदि गुणों का नाश होता है। तृतीय क्षण में परमाणु में रूप आदि की उत्पत्ति होती है। चतुर्थ क्षण में द्रव्य की पुनः उत्पत्ति के अनुकूल परमाणु में क्रिया उत्पत्ति होती है। पञ्चम क्षण में परमाणु का पूर्व स्थान से विभाग होता है। षष्ठ क्षण मे पूर्व संयोग का नाश, सप्तम क्षण में परमाणु मे द्रव्यारम्भक संयोग, अष्टम क्षण में द्व्यणुक की उत्पत्ति एवं नवम क्षण मे द्व्यणुक में रक्त रूप आदि गुणों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार श्यामघट में पाक क्रिया के परिणामस्वरूप (पाकज) रक्त वर्ण की (रूप की) उत्पत्ति में नव क्षणों का समय लगता है।[1] उपर्युक्त प्रक्रिया में पूर्व क्रिया की निवृत्ति क्षण में ही उत्तर क्रिया की उत्पत्ति मानी गयी है, किन्तु यदि पूर्व क्रिया की निवृत्ति के पश्चात् अन्य क्षण में अन्य क्रिया की उत्पत्ति मानी जाये, अथवा आरम्भक संयोगनाश के अनन्तर विभागजन्य विभाग की उत्पत्ति मानी जाये तो इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में नवक्षणों के स्थान पर दस क्षणो की आवश्यकता होगी।[2] अर्थात् उस प्रक्रिया में प्रथम क्षण मे अग्नि संयोग से परमाणुओ में कर्म, इससे परमाणुओं में विभाग, पुनः द्रव्यारम्भक संयोग का नाश एवं द्व्यणुक का नाश तथा विभागजन्य विभाग की उत्पत्ति होती है। द्वितीयक्षण मे श्यामरूप आदि पूर्व से विद्यमान गुणों की निवृत्ति तथा पूर्व संयोग का नाश होगा। तृतीय क्षण में परमाणु में रक्त आदि गुणों की उत्पत्ति एवं उत्तर देश से संयोग, चतुर्थ क्षण में उत्तर देश से संयोग एवं उस संयोग से परमाणु में विद्यमान विभागज विभाग क्रिया की निवृत्ति, पञ्चम क्षण में अदृष्टयुक्त आत्मा से संगोग एवं द्रव्य आरम्भ के अनुकूल क्रिया की उत्पत्ति, छठे क्षण में क्रिया द्वारा विभाग, सातवें क्षण में विभाग के द्वारा पूर्वसंयोग का नाश, आठवें क्षण में द्रव्य को आरम्भ करने वाले संयोग की

---

१. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ४५२-४५३।

१. (क) वही पृ० ४५३। (ख) वैशेषिक उपस्कार पृ० १६३

उत्पत्ति, नवम क्षण में द्व्यणुक की उत्पत्ति एवं दसवें क्षण में रक्त रूप आदि गुणों की उत्पत्ति होती है।[1] इस प्रक्रिया मे पूर्व प्रक्रिया से केवल इतना ही अन्तर है कि पूर्व प्रक्रिया में पांचवे क्षण में पूर्व क्रिया की निवृत्ति और उत्तर क्रिया की उत्पत्ति मानी गयी थी। इस प्रक्रिया मे पाचवे क्षण मे पूर्वक्रिया निवृत्ति एवं छठे क्षण में उत्तर क्रिया की उत्पत्ति मानी गयी है।

उपर्युक्त प्रक्रिया में प्रथम क्षण में होने वाली क्रिया द्व्यणुक नाश तथा विभागज विभाग दोनों को स्वीकार किया गया है, किन्तु जब इन दोनो की उत्पत्ति दो क्षणों में मानेंगे, तो कुल प्रक्रिया ग्यारह क्षणो में सम्पन्न होगी। इस प्रक्रिया में समय विभाग निम्न लिखित प्रकार से होगा:—प्रथम क्षण में अग्नि संयोग से परमाणुओं में कर्म, इससे परमाणुओं में विभाग, पुनः द्रव्यारम्भक संयोग का नाश एवं द्व्यणुक का नाश, द्वितीय क्षण में विभाग की उत्पत्ति एवं श्याम रूप का नाश, तृतीय क्षण में संयोग का नाश एव रक्त आदि रूप की उत्पत्ति, चतुर्थ क्षण में उत्तर देश से सयोग, पञ्चम क्षण में वह्निसंयोग से उत्पन्न विभागज विभागक्रिया की निवृत्ति, छठे क्षण में अदृष्ट युक्त आत्मा से संयोग एवं द्रव्य आरम्भ के अनुकूल क्रिया की उत्पत्ति, सातवें क्षण में क्रिया में विभाग, आठवें क्षण में विभाग के द्वारा पूर्व सयोग का नाश नवें क्षण में द्रव्य को आरम्भ करने वाले संयोग की उत्पत्ति, दसवें क्षण में द्व्यणुण की उत्पत्ति एवं ग्यारहवें क्षण में द्व्यणुक में रक्त रूप आदि गुणों की उत्पत्ति सम्पन्न होती है।[2]

वैशेषिकों का एक सम्प्रदाय पांच क्षणों में ही रूपादि की उत्पत्ति स्वीकार करता है, उसके अनुसार प्रथम क्षण में अग्नि के संयोग से परमाणु में कर्म, उन परमाणुओं में विभाग, द्व्यणुक के आरम्भक संयोग का नाश, परमाण्वन्तर में कर्म, द्व्यणुक नाश तथा परमाण्वन्तर कर्मजन्य विभाग सम्पन्न होता है। द्वितीय क्षण में परमाणु के श्यामरूप आदि का नाश तथा परमाण्वणुन्तरकर्मजन्य विभाग से पूर्व संयोय का विनाश; तृतीय क्षण में परमाणु में रक्त रूप की उत्पत्ति एवं द्रव्यारम्भक सयोग होता है, इसके अनन्तर चतुर्थ क्षण मे द्व्यणुक की उत्पत्ति और पांचवे क्षण में रक्तरूप की उत्पत्ति होती है[3]। एक अन्य

---

१ न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ४५३-४५४

२ वही पृ० ४५६-

३ वही पृ० ४५६

सम्प्रदाय द्रव्यनाश के समय परमाण्वन्तर में कर्म मानता है, उसके अनुसार छ क्षणों मे रक्त रूप की उत्पत्ति की होगी। प्रथम क्षण मे अग्नि सयोग से परमाणु में कर्म, परमाण्वन्तर से विभाग, द्व्यणुक के आरम्भक संयोग का नाश तथा द्व्यणुक नाश और परमाण्वन्तर में कर्म होता है। द्वितीय क्षण में परमाणु गत श्याम आदि रूप का नाश, परमाण्वन्तर में कर्मज विभाग, तृतीय क्षण में परमाणु में रक्त आदि रूप की उत्पत्ति, परमाण्वन्तर में पूर्वसंयोग का नाश; चतुर्थक्षण में परमाण्वन्तर में सयोग; पञ्चम क्षण में द्व्यणुक की उत्पत्ति एवं छठे क्षण मे रक्त रूप की उत्पत्ति।[१] वैशेषिकों की एक अन्य परम्परा उपर्युक्त प्रक्रिया में श्यामादि रूप नाश के समय परमाण्वन्तर मे कर्म मानती है, फलतः रक्तोत्पत्ति की यह प्रक्रिया सात क्षणों मे सम्पन्न होगी। इस प्रक्रिया मे प्रथम क्षणों मे अग्नि सयोग से परमाणु में कर्म, परमाण्वन्तर से विभाग, द्व्यणुकारम्भक संयोग का नाश तथा द्व्यणुक नाश; द्वितीयक्षण मे परमाणु गत श्याम आदि रूप का नाश एव परमाण्वन्तर मे कर्म, तृतीयक्षण मे परमाणु में रक्त आदि रूप की उत्पत्ति तथा परमाण्वन्तर मे कर्मजविभाग; चतुर्थ क्षण मे परमाण्वन्तर मे विद्यमान पूर्व सयोग का नाश; पञ्चम क्षण में परमाण्वन्तर से सयोग; षष्ठ क्षण मे द्व्यणुक की उत्पत्ति एव सप्तम क्षण मे द्व्यणुक मे रक्त रूप आदि की उत्पत्ति होगी।[२] एक अन्य परम्परा परमाणु मे रक्तरूप आदि की उत्पत्ति के समकाल में परमाण्वन्तर में कर्म मानती है इसके अनुसार द्व्यणुक में रक्तोत्पत्ति तक आठ क्षणों का समय अपेक्षित होता है। इसके अनुसार प्रथम क्षण में अग्नि संयोग से परमाणु में कर्म, परमाण्वन्तर से विभाग, द्व्यणुकारम्भक संयोग का नाश तथा द्व्यणुक का नाश; द्वितीय क्षण में परमाणुगत श्यामादि रूप का नाश; तृतीय क्षण में परमाणु में रक्त आदि रूप की उत्पत्ति तथा परमाण्वन्तर में कर्म, चतुर्थ क्षण में परमाण्वान्तर मे कर्मज विभाग; पञ्चम क्षण में पूर्व संयोग का नाश; षष्ठ क्षण में परमाण्वन्तर से सयोग; सप्तम क्षण में द्व्यणुक की उत्पत्ति एव अष्टम क्षण मे रक्त आदि रूप की उत्पत्ति होती है।[३]

---

१. न्याय मुक्तावली पृ० ४५६-४५७।

२. वही पृ० ४५७।

३. वही पृ० ४५७

नैयायिकों के अनुसार द्व्यणुक आदि में ही पाक की क्रिया सम्पन्न होगी। उनका कहना है कि द्व्यणुक इत्यादि अवयवी छिद्र युक्त है अतः, वह्नि के सूक्ष्म अवयव अन्तः प्रविष्ट होकर द्रव्य के स्थिर (अविनष्ट) अवयवों में ही पाक क्रिया करते हैं यह मानने में कोई आपत्ति नही है। इसके अतिरिक्त पिठरपाकवादी नैयायिक घट विनाश पर आपत्ति करते हुए कहते हैं, कि यदि प्रथम घट का नाश होकर अन्य घट की उत्पत्ति होती है, तो यह वही घट है, यह ज्ञान सम्भव न होना चाहिए; साथ ही आम (आंवा) में रखे हुए अनेक पात्र ऊपर के पात्रों के आश्रय बने हैं। यदि नीचे के घट का विनाश हो जाये तो ऊपर रखे हुए पात्र गिर जाने चाहिए, किन्तु पाक के अनन्तर 'यह वही घट है' यह प्रत्यभिज्ञा होती है, तथा आम (आंवा) गत सब पात्र गिर नहीं जाते, अतः घट विनाश मानना उचित नहीं है।

वैशेषिक सम्प्रदाय के आचार्य उपर्युक्त प्रश्नो के उत्तर अरस्तू की प्रक्रिया अर्थात् प्रश्न के मध्यम से ही देते हैं। वे कहते हैं कि एक घट में किसी नुकीले पदार्थ से कुछ मिट्टी खुरचकर चिह्न बनाने पर उस घट को नवीन घट कहेंगे या प्राचीन ? क्योंकि पूर्व घट मे विद्यमान परमाणुओं की अपेक्षा वर्तमान घट के परमाणुओं में अन्तर है। फिर इस घट में यह वही घट है यह व्यवहार और प्रत्यभिज्ञा क्यों होती है ? अतः यहाँ घटो[illegible] मानना अनुचित नहीं है। यही स्थिति पाक के अनन्तर घट में भी क्यों न मानी जाए ?

नैयायिक बिना पूर्व घट नाश के ही रक्त रूप आदि की पाकज उत्पत्ति मानते है, इस सिद्धान्त पर वैशेषिकों का आक्षेप है कि संयुक्त परमाणुओं के अन्तर्गत विद्यमान परमाणुओं में पाक क्रिया एवं उनमें रूप इत्यादि की उत्पत्ति किस प्रकार होगी ? इसके समाधान के लिए नैयायिकों की ओर से एक लौकिक उदाहरण देखना पर्याप्त होगा —जैसे किसी पात्र मे रखे हुए जल का एवं उस जल मे पडे हुए अन्न का पाक होता है इसी प्रकार घट गत परमाणुओं का भी पाक सम्पन्न होगा वे परस्पर कितने भी सबद्ध और अन्तर्गत क्यों न हों ?

इस प्रकार पीलुपाकवादी वैशेषिक एवं पिठरपाकवादी नैयायिकों में पाकज रूप आदि की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में मौलिक मत भेद है। इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है कि पीलुपाक को आधार मानकर ही वैशेषिकों ने गन्ध को भी

पाकज तथा अनित्य माना है जब कि नैयायिकों ने परमाणु गत गन्ध को नित्य तथा अपाकज एवं कार्य द्रव्य मे अनित्य एवं पाकज माना है।

इसके अतिरिक्त वैशेषिकों का द्वित्व एव विभागज विभाग के सम्बन्ध भी नैयायिकों से मौलिक मत भेद है,[१] जिनकी चर्चा यथासमय की जाएगी।

संख्या

'एकत्व' आदि व्यवहार की हेतु संख्या है।[२] यहां हेतु शब्द का तात्पर्य असाधारण निमित्त कारण है, साधारण निमित्त नहीं क्योकि दिशा और काल प्रत्येक अन्य पदार्थ की उत्पत्ति में निमित्त कारण है किन्तु वे संख्या नहीं हैं। निमित्त कारण भी इसी लिए कहा गया है, कि आकाश प्रत्येक वस्तु के व्यवहार का उपादान कारण है।

वैशेषिक मे स्वीकार किये गये सामान्य गुणों में संख्या सर्व प्रथम है।[3] सामान्य द्रव्य उन्हें कहा जाता है जो किसी एक द्रव्य पर आश्रित नहीं रहते, नही ही उन्हे किसी द्रव्य की विशेषता (लक्षण) के रूप मे प्रयुक्त किया जा सकता है। सामान्य गुण किसी भी द्रव्य में या उसके भाग विशेष में स्थायी रूप से नहीं रहते किन्तु इनका आरोप मात्र किया जाता है। यह ठीक है कि हम इन गुणों का व्यवहार करते हैं, किन्तु इन्हे किसी बाह्य द्रव्यों में वास्तविक रूप से स्वीकार नहीं करते। हम प्रथम उनकी कल्पना करते हैं, तभी उनका प्रत्यक्ष करते हैं। जबकि विशेष गुण वास्तविक रूप से रहते हैं, प्रत्यक्ष के पूर्व उनका अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होना आवश्यक नही होता। अन्य सामान्य गुणों के समान संख्या भी सर्व प्रथम अपेक्षा बुद्धि से कल्पना में उत्पन्न होती है और उसके बाद द्रव्य से उसके सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए वैशेषिक द्वित्व आदि संख्या को अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न मानते हैं। इनके अनुसार द्वित्व से लेकर परार्ध पर्यन्त सभी संख्याएं अपेक्षाबुद्धिजन्य एव अनित्य हैं। वैशेषिक सूत्रो के भाष्यकार शंकरमिश्र तथा न्यायकन्दलीकार श्रीधर के अनुसार द्वित्व त्रित्व आदि से भी भिन्न बहुत्व भी एक संख्या विशेष है।[४] अन्य वैशेषिक बहुत्व संख्या को स्वीकार नहीं करते।

---

१. सर्वदर्शन संग्रह पृ० ८६ २. प्रशस्त पाद भाष्य पृ० ४८

३. (क) वही पृ० ३९ (ख) भाषापरिच्छेद ९१

४. (क) वैशेषिक उपस्कार पृ० १८० (ख) मुक्तावली पृ० ४४६

द्वित्व—

जैसाकि पूर्व प्रकरण में कहा जा चुका है द्वित्व के सम्बन्ध में भी नैयायिकों एवं वैशेषिकों मे मतभेद है। नैयायिक एकत्व के समान द्वित्व आदि संख्या को भी द्रव्यसमकाल अवस्थायी मानते हैं, जबकि वैशेषिकों के अनुसार द्वित्व आदि संख्या **अपेक्षाबुद्धि** से उत्पन्न होती है। **अपेक्षाबुद्धि** का अर्थ है, अनेक वस्तुओं में अनेकत्व बुद्धि एवं एकत्व बुद्धि।[1] सर्व प्रथम जब दो वस्तुएं हमारे सामने आती हैं, तब हम तत्काल ही उन्हें दो नही कह पाते। प्रथम हम उन दोनों को पृथक् पृथक् एक-एक के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं पुनः दोनों वस्तुओं की मस्तिष्क मे एक साथ स्थिति उत्पन्न होती है और तभी द्वित्व सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है पुनः द्वित्व गुण अर्थात् यह द्वित्व द्रव्याश्रित है, यह ज्ञान उत्पन्न होता है। तदनन्तर **संस्कार** की उत्पत्ति होती है।[2] त्रित्व आदि की उत्पत्ति का भी यही क्रम है।

ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है कि द्वित्वादि बुद्धि अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है, अर्थात् अपेक्षा बुद्धि द्वित्व ज्ञान की उत्पादिका है, ज्ञापका नही, यह इसलिए कि ज्ञाप्य एवं ज्ञापक की स्थिति ज्ञात अवस्था से अन्यत्र भी आवश्यक है, किन्तु कार्य और कारण के सम्बन्ध मे यह बात आवश्यक नही है; अपितु इसके विपरीत कार्य की प्रतीति कारणपूर्वक ही होगी साथ ही कारणनाश से कार्य का नाश भी अवश्यमेव होगा। प्रस्तुत प्रसंग में अपेक्षा बुद्धि की पृथक् रूप से प्रतीति नही होती, नही ही द्वित्व की स्वतन्त्र स्थिति सिद्ध होती है। अतः अपेक्षा बुद्धि को ज्ञापक न मानकर कारक मानना ही अधिक उचित होगा। द्वित्व के कार्यत्व की सिद्धि निम्नलिखित अनुमान प्रक्रिया से की जाती है : द्वित्व अपेक्षाबुद्धि का कार्य है, ज्ञापक न होते हुए भी अपेक्षा बुद्धि के अव्यवहित उत्तर मे उपलब्ध होने से, जैसे संयोग के अव्यवहित पर मे उपलब्ध **शब्द** संयोग का कार्य है।[3] माधवाचार्य के अनुसार '**द्वित्वादि** चूंकि **दो** एकत्वों पर आधारित अनित्य ज्ञान है, अतः वह व्यंग्य नही हो सकते। जैसे अनेकाश्रित पृथक्त्व आदि गुण के कार्य हैं व्यंग्य नही।[4] चूंकि **द्वित्वज्ञान** अपेक्षाबुद्धि का कार्य है, अतः अपेक्षाबुद्धि (कारण) का नाश हो

---

१. भाषापरिच्छेद पृ० १०९
२. सर्वदर्शन संग्रह पृ० ८६।
३. वही पृ० ८६
४. वही पृ० ८६

जाने से उसका भी नाश हो जाता है।[१] वैशेषिको के अनुसार द्वित्व की उत्पत्ति मे आठ क्षणो का समय लगता है—प्रथमक्षण मे उत्पन्न होने वाले द्वित्व के आधार द्रव्यो से इन्द्रिय का सन्निकर्ष, द्वितीय क्षण मे दोनो पदार्थों मे विद्यमान एकत्व का सामान्यज्ञान, तृतीय क्षण मे एकत्व सामान्य से विशिष्ट एकत्वगुण की समूहालम्बनरूप अपेक्षाबुद्धि, चतुर्थ क्षण मे द्वित्वगुण की उत्पत्ति, पञ्चम क्षण मे द्वित्वगत सामान्य का ज्ञान, छठे क्षण मे द्वित्वत्व जाति विशिष्ट द्वित्व गुण का ज्ञान, सप्तम क्षण मे द्वित्व गुण विशिष्ट द्रव्य का ज्ञान, एव आठवे क्षण मे संस्कार का जन्म होता है। इस प्रकार इन्द्रिय सन्निकर्ष से लेकर सस्कार के जन्म तक कुल आठ क्षणो का समय व्यतीत होता है।[२]

ऊपर की पक्तियो मे कहा जा चुका है कि कारण अथवा अपेक्षा बुद्धि के नाश से द्वित्व बुद्धि का नाश हुआ करता है। इस नाश की प्रक्रिया निम्नलिखित है -प्रथम क्षण मे अपेक्षा बुद्धि द्वारा एकत्वत्व सामान्यज्ञान का नाश, द्वितीय क्षण मे द्वित्वत्व सामान्यज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश, तृतीय क्षण मे द्वित्व गुण बुद्धि से द्वित्वत्व सामान्यज्ञान का नाश, चतुर्थ क्षण मे द्वित्व विशिष्ट द्रव्य बुद्धि से द्वित्व गुण बुद्धि का विनाश एव पचम क्षण मे सस्कार से अथवा विषयान्तर के ज्ञान से द्वित्व विशिष्ट द्रव्य बुद्धि का नाश हो जाता है।[३] इस प्रकार द्वित्व ज्ञान की प्रक्रिया से विनाश की प्रक्रिया मे तीन क्षण का समय कम लगता है।

कभी-कभी आश्रय नाश से भी द्वित्व का नाश होता है उसकी प्रक्रिया यह है—जिस क्षण एक ओर द्वित्व सामान्य की ज्ञान हो रहा है यदि उसी क्षण द्वित्व के आधार अवयवो मे विनाश हेतु कर्म प्रारम्भ होता है तो गुणो की उत्पत्ति के समकाल मे सयोग नाश, द्वित्वत्व सामान्य ज्ञान के समय द्रव्यनाश होकर एक ओर द्रव्यनाश से सयोगनाश होता है और दूसरी ओर सामान्यज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है। इस प्रकार अपेक्षा बुद्धि के नाश के साथ ही द्वित्व का नाश हो जाता है।[४] यदि अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति काल मे द्वित्व के आधार अवयवो मे कर्म आरम्भ होता है तो आश्रय और अपेक्षाबुद्धि दोनो के

---

१ भाषापरिच्छेद १०८　　२ वैशेषिक उपस्कार भाष्य ७,२,८

३. वही पृ० १७७　　४ वही पृ० १७८

समकालीन नाश द्वारा ही द्वित्व का नाश होता है उस समय द्वित्व के आधार द्रव्यावयों में कर्म के साथ ही अपेक्षा बुद्धि की उत्पत्ति: विभाग की उत्पत्ति और द्वित्व की उत्पत्ति, संयोगनाश और द्वित्व सामान्यज्ञान तथा द्रव्यनाश और अपेक्षाबुद्धिनाश साथ-साथ होकर दोनों विनाशो के परिणाम स्वरूप द्वित्व नाश रूपी एक कार्य उत्पन्न होता है।[1] किन्तु यह प्रक्रिया केवल इसी मत में सभव है जब एक उत्पन्न ज्ञान को अन्य-अन्य ज्ञान का विनाशक माना जाए।

संख्या के प्रसग में एक बात और विचारणीय है कि **एकत्वरूप** समान सामग्री से कही द्वित्व और कहीं त्रित्व इत्यादि की उत्पत्ति क्यों होती है ? द्वित्व के प्रति दो एकत्वों त्रित्व के प्रति तीन एकत्वों को भी कारण नहीं मान सकते क्योंकि एकत्व में द्वित्व त्रित्व आदि सख्या का अभाव है। एकत्व के समवायि कारण में विद्यमान द्वित्व त्रित्व को भी कारण नही मान सकते, क्यों कि उस क्षण तक एकत्व के कारण द्रव्यों में द्वित्वादि की उत्पत्ति नही हुई है। अदृष्ट विशेष को भी कारण मानना सभव नही है, क्योंकि ऐसी स्थिति में अदृष्ट विशेष से कभी द्वित्व की सामग्री से त्रित्व आदि की भी उत्पत्ति सभव है यह स्वीकार करना होगा। वैशेपिकों के अनुसार इस समस्या का समाधान निम्नलिखित है: जसे तुल्य सामग्री होने पर भी पाकज रूप रस गन्ध स्पर्श में भेद होता है उसी प्रकार यहां भ द्वित्व त्रित्व आदि भेद होगा। अथवा शुद्ध अपेक्षा-बुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति, द्वित्व विशिष्ट अपेक्षा बुद्धि मे त्रित्व की त्रित्वादि-विशिष्ट अपेक्षा बुद्धि से चतुष्ट्वादि की उत्पत्ति होगा। 'आज उस ने सौ शत्रुओं का मारा है' इत्यादि स्थलोपर जहां समवायिकारण नष्ट हो चुका है, द्वित्वादि की उत्पत्ति नही होती किन्तु गौण व्यवहार ही होता है।[2]

वैशेपिक परम्परा में द्वित्व को अनित्य अर्थात् अपेक्षा बुद्धि के नाश के कारण विनष्ट मानना पड़ता है उसका कारण पारम्परिक (Technecal) है। चूंकि वैशेपिकों के अनुसार प्रत्येक ज्ञान व्यापक आत्मा का धर्म है तथा वह केवल तीन क्षण ही स्थित रहता है एव अपने कार्य द्वारा नष्टकर दिया जाता है इसीलिए द्वित्वादि को सर्वत्र अनित्य ही माना जाता है।

परिमाण

मानव्यवहार के असाधारण कारण को परिमाण कहते हैं। यह चार

१. वहीं पृ० १७९

२. वैशेपिक उपस्कारभाष्य १७९

प्रकार का है अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व। इन चारों भेदों में भी **परम और मध्यम** भेद से दो-दो भेद हो जाते है। इसके अतिरिक्त अणु और महत् परिमाण मे **नित्य और अनित्य** भेद से भी दो-दो भेद होते है। इस प्रकार परिमाण के कुल बारह भेद हो सकते हैं। नित्य आकाश, काल और दिशा में नित्य **परममहत्परिमाण** है, त्र्यणुक आदि में **अनित्य** महत्परिमाण है। इसी प्रकार पृथिवी आदि के परमाणुओ में **नित्य परम अणुपरिमाण** रहता है, इसी को **पारिमाण्डल्य** भी कहते है द्व्यणुक में विद्यमान परिमाण **अनित्य अणु परिमाण** है। कमल, आमलक, और बिल्व आदि में भी यद्यपि **महत्परिमाण** है, किन्तु उस महत् में प्रकर्ष के अभाववश गौण रूप से उसे **अणु** भी कह लिया जाता है। दीर्घ और ह्रस्व परिमाण सर्वत्र अनित्य ही है। इनमें **दीर्घ परिमाण** मध्यम-महत्परिमाण से लघु, तथा **ह्रस्व परिमाण** मध्यम अणुपरिमाण से विशाल होता है। न्यायकन्दलीकार के अनुसार **महत्** और **दीर्घ** को तथा **अणु** और ह्रस्व को सर्वथा अभिन्न मानना चाहिए। काष्ठ इक्षु बांस आदि लौकिक पदार्थ यद्यपि दीर्घ परिमाण वाले हैं, किन्तु गौण रूप से इन्हें ह्रस्व भी कह लिया जाता है। अनित्य **परिमाण** सख्या, परिमाण और प्रचय विशेष (सयोग विशेष)[1] पर आधारित हुआ करता है। त्र्यणुक में उत्पन्न महत्परिमाण द्व्यणुकों की **संख्या** पर आश्रित रहा करता है। यहां परिमाण के प्रति यदि सख्या को कारण न मानकर द्व्यणुक परिमाण को कारण माना जायेगा तो 'परिमाण सदा ही अपने से उत्कृष्ट परिमाण को जन्म देता है' इस सिद्धान्त के अनुसार द्व्यणुक के अणु परिमाणु से उत्पन्न त्र्यणुक का परिमाण अणुतर होना चाहिए। चूंकि घट आदि में विद्यमान परिमाण कारण के **परिमाण** से उत्पन्न है, इसीलिए समान सख्या वाले किन्तु भिन्न परिमाण वाले दो कपालों के संयोग से प्रत्येक घट के **परिमाण** में अन्तर हुआ करता है। इसी प्रकार दो रुई के पिण्डो से उत्पन्न कार्य मे परिमाण प्रचय से उत्पन्न हुआ करता है। इसीलिए समान परमाणु वाले दो-दो रुई पिण्डों से उत्पन्न अनेक कार्य पिण्डों में प्रचय भेद से परिमाण भेद हुआ करता है। दीर्घत्व और ह्रस्वत्व की उत्पत्ति के नियम भी महत्व और अणुत्व की उत्पत्ति के नियमों के अनुसार ही हैं।

यहां एक प्रश्न विचारणीय है कि त्र्यणुक आदि में विद्यमान **महत्व** और

---

१. भाषा परिच्छेद पृ० ११२

दीर्घत्व में तथा द्व्यणुक में विद्यमान अणुत्व और ह्रस्वत्व में क्या अन्तर है ? इन दोनों को समान ही क्यों न माना जाए ? आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार चूंकि महत्परिमाण वाले द्रव्यों में 'दीर्घ को ले आओ, दीर्घ द्रव्यों मे महत्परिमाण वाले द्रव्यों को ले आओ' इत्यादि लोक व्यवहार होता है अतः महत् और दीर्घत्व को पृथक् मानना ही चाहिए। इसी प्रकार अणुत्व और ह्रस्वत्व का परस्पर भेद भी लौकिक प्रत्यक्ष पर आश्रित है, अतः इनको अस्वीकार नही किया जा सकता।[1] प्रत्येक प्रकार के इन अनित्य परमाणु का नाश कारणनाश से हुआ करता है।

परिमाण के प्रसङ्ग में एक बात और विचारणीय है कि किसी महत्परिमाण द्रव्य में एक अवयव विशेष की हानि होने पर अथवा कुछ उपादानों का उपचय होने पर जो परिणामान्तर उत्पन्न होता है, उससे पूर्वपरिमाण का नाश माना जाये अथवा नही ? अवयवनाश अथवा उपचय दोनों की स्थिति में ही चूंकि पूर्व परिमाण की प्रत्यभिज्ञा होती अतः पूर्व परिणाम की सत्ता माननी ही चाहिए। किन्तु वैशेषिक पूर्व परिणाम का नाश स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि परमाणुओं का विश्लेषण होने पर द्व्यणुक नाश, और उसका नाश होने पर त्र्यणुक नाश और क्रम से महा अवयवी का नाश होता है। इसी प्रकार पट आदि के अवयवों में उपचय होने पर समवायिकारण के नाश होने पर अवयवी का नाश भी आवश्यक है। कारण यह है कि पट के प्रति तन्तु संयोग को असमवायिकारण माना जाता है, पट तन्तु सयोग को नहीं, अतः पूर्व पट और तन्तु संयोग से नवीन पट की उत्पत्ति नही मानी जा सकती, अतः तन्त्वन्तर संयोग होने पर तुरी फल वेम (कर्घा) आदि के आघात से पूर्व तन्तुओं के संयोग का नाश मानना आवश्यक है। इस प्रकार अवयव नाश और अवयवान्तर का उपयच होने पर पूर्व अवयवी का और उसके परिमाण का नाश होता है, तदनन्तर अन्य अवयवी की उत्पत्ति और पुनः परिमाण की उत्पत्ति होती है।[2] पूर्व द्रव्यविषयक प्रत्यभिज्ञा समान जातीय दीपशिखा के समान होती है[1], जो कि भ्रान्त प्रतीति है।

पृथक्त्व

'यह इससे पृथक् है' इस ज्ञान, कथन और व्यवहार का कारण पृथक्त्व गुण

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ५६

२. सिद्धान्त मुक्तावली पृ० ४६७-६८

है। यह पृथक्त्व एक द्रव्य और अनेक द्रव्य दोनो पर यथासमय संख्या के समान आश्रित रहता है। पृथक्त्व नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है । नित्य द्रव्य पर आश्रित पृथक्त्व नित्य तथा अनित्य द्रव्य पर आश्रित अनित्य है।

पृथक्त्व के सम्बन्ध में यह शका हो सकती है कि पृथक्त्व को अन्योन्याभाव क्यो न माना जाये ? 'यह घट पट से पृथक् है' तथा यह घट पट नहीं है' इन दो प्रतीतियो मे क्या अन्तर है ? कणाद रहस्यकार के अनुसार पृथक्त्व में अवधि का निरूपण प्रधान रहता है, जबकि अन्योन्याभाव में प्रतियोगि का निरूपण। इसी प्रकार 'इदम् इद न', 'इदमस्मात्पृथक्' इत्यादि वाक्य-व्यवहार में भेद भी पृथक्त्व की पृथक् सत्ता सिद्ध करता है।[1] पृथक्त्व को वैधर्म्य भी नही कह सकते, क्योंकि 'लाल श्याम से भिन्न (पृथक्) है' इस प्रतीति मे लाल और श्याम का पृथक् मानते हुए भी विधर्मी नहीं कह सकते। पृथक्त्व को सामान्य विशेष रूप भी नही कह सकते, क्योंकि सामान्य विशेष द्रव्य गुण और कर्म इन तीन द्रव्यों में आश्रित रहता है, जबकि पृथक्त्व गुण होने से केवल द्रव्याश्रित ही है।[2] अतः पृथक्त्व अन्योन्याभाव वैधर्म्य अथवा सामान्य विशेष से सर्वथा भिन्न गुण है। गुणो और कर्मों मे पृथक्त्व व्यवहार के कारण पृथक्त्व के गुणत्व का खण्डन नहीं किया जा सकता, क्योंकि गुण और कर्म मे किया जाने वाला पृथक्त्व व्यवहार केवल गौण व्यवहार है।[3]

पृथक्त्व में विद्यमान धर्म को पृथक्त्व जाति कहते हैं, नित्यत्व अनित्यत्व आदि के प्रसंग मे यद्यपि पृथक्त्व सख्या नामक गुण से साम्य रखता है, किन्तु प्रशस्तपाद के अनुसार जाति के प्रसङ्ग मे दोनों में पूर्ण वैषम्य है सख्यात्व एक परसामान्य है, एकत्व द्वित्व त्रित्व आदि उसके अन्तर्गत, (सख्यात्व व्याप्य) जाति है, जबकि पृथक्त्व एक मात्र सामान्य है, इसमें पर और अपर नामक भेद नहीं होते। अर्थात् पृथक्त्व व्यापक जाति के अन्तर्गत एक पृथक्त्व, द्वि पृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व आदि व्याप्य जाति (अपर सामान्य) नहीं होती।[4] यद्यपि आचार्य

---

१. कणाद रहस्यम् पृ० ७५-७६

२. वही पृ० ७६ ३. वही पृ० ७६

४. (क) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६० (ख) प्रशस्तपाद विवरण पृ० ६१

उदयन द्वित्वत्वादि जाति न मान कर द्विपृथक्त्व आदि में ही अवान्तर जाति स्वीकार करते हैं।[1]

संयोग

अनेक अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति को संयोग कहते है। केशव मिश्र के अनुसार द्रव्य के, अथवा पार्थिव परमाणु मे विद्यमान रूप के असमवायिकारण मे रहने वाली गुणत्व की साक्षाद् व्याप्यजाति से युक्त का संयोग कहते है।[2] पूर्व लक्षण की अपेक्षा केशव मिश्र द्वारा दिया गया लक्षण शाब्दिक अधिक है।

यह सयोग तीन प्रकार का है-अन्यतरकर्मज(सयुक्त द्रव्यो मे से किसी एक के कर्म से उत्पन्न), उभयकर्मज, तथा सयोगज। **अन्यतरकर्मज** सयोग पक्षी और वृक्ष के सयोग मे देखा जा सकता है। यहा पक्षी के कर्म से पक्षी और वृक्ष का सयोग उत्पन्न होता है। दो पहलवानो अथवा दो मेषो (भेडो) का सयोग **उभयकर्मज** सयोग है, क्योकि लड़ते समय दोनो के ही कर्म (प्रयत्न) के कारण दोनों का सयोग होता है। **संयोगज** सयोग के रूप में शाखा और अंगुली के संयोग से उत्पन्न वृक्ष और हाथ का संयोग देखा जा सकता है। यहां अंगुली मात्र के कर्म से निश्चल हाथ का वृक्ष के साथ सयोग संयोग से ही उत्पन्न होता है। यह सयोग कारणगत सयोग से उत्पन्न कार्यगत संयोग है। कभी कभी दो तन्तुओ और आकाश के सयोग से द्वितन्तुक आकाश सयोग उत्पन्न होता है। इसी भांति अनेक तन्तुओं और तुरी के संयोग से पट और तुरी का संयोग उत्पन्न होता है। कभी कभी कारण और अकारण के संयोग से कार्य और अकार्य का सयोग उत्पन्न होता है, जैसे प्रथम पृथिवी और जल के परमाणुओं का सयोग होकर तदनन्तर उन दोनो का ही सजातीय परमाणुओं से सयोग होने पर, अथवा द्व्यणुक की उत्पत्ति होने पर रूप आदि की उत्पत्ति के समय, कार्यभूत दोनों द्व्यणुको का तथा अन्य पार्थिव एवं जलीय कार्यद्व्यणुकों का इतर परमाणुओ से सयोग होता है। इस प्रकार यहां कार्य और अकार्य का संयोग उत्पन्न होता है।

न्याय वैशेषिक के अनुसार संयोग को अव्याप्यवृत्ति कहा जाता है। अव्याप्यवृत्ति का तात्पर्य है कि यह संयोग सम्पूर्ण द्रव्य मे व्यापक न होकर

---

१. (क) वही पृ० ६१ (ख) किरणावली प्रकाश पृ० ६७

२. कणाद रहस्यम् पृ० ७८

एक अवयव मात्र में ही विद्यमान रहता है। संयोग को अव्याप्यवृत्ति मानने का कारण सामान्य अनुभव ही है, क्योंकि हम देखते है कि वृक्ष मूल में कपि-संयोग होने पर वह सयोग मूल मे ही प्रतीत होता है, तथा शाखा में कपि संयोग का अभाव ही दीखता है, अतः सयोग को अव्याप्यवृत्ति माना जाता है। यद्यपि द्रव्य में विद्यमान अन्य कोई गुण ऐसा नही है जो अव्याप्यवृत्ति हो, फिर भी इस अलौकिकता को वैशेषिकों ने कोई अनुचित नही माना है ।

कणादरहस्यकार शंकरमिश्र का कथन है कि संयोग को सम्पूर्ण द्रव्य में व्यापक मानकर भी अव्याप्यवृत्ति मानने मे कोई आपत्ति नही है, क्योकि अवयव मे सयोग उपलब्ध होने पर ही अवयवी में उसकी उपलब्धि होती है, अन्यथा नही ।[1]

परिमाण जिस प्रकार परमाणुओं मे नित्य है उसी प्रकार संयोग भी उनमें नित्य हो ऐसो बात नहीं है। प्रशस्तपाद का कथन है कि यदि कणाद को नित्य सयोग अभीष्ट होता, तो जैसे चार प्रकार के परिमाण के बाद उन्होने नित्य परिमाण का कथन किया था उसी प्रकार नित्य संयोग का भी उल्लेख करते ।[2]

विभु आकाश और परमाणुओं का सयोग अन्यतर कर्मज है। दो अथवा अनेक विभुद्रव्यों का सयोग नही माना जाता इसके दो कारण हो सकते है। प्रथम यह कि दो विभुद्रव्यों में विभुत्व के कारण ही सयोग के उत्पादक कर्म का अभाव है। दूसरा यह कि सयोग की परिभाषा के अनुसार अप्राप्त दो पदार्थों की प्राप्ति को सयोग कहा जाता है, किन्तु दो विभु द्रव्यों को कभी भी अप्राप्त स्थिति में नही देखा जा सकता है, अतः उनका संयोग भी नही माना जा सकता ।

प्रशस्तपाद के अनुसार संयोग से द्रव्य गुण और कर्म की उत्पत्ति होती है, जैसे दो अवयव द्रव्यों अर्थात् समवायिकारणों में संयोग होने से द्रव्य की, आत्मा और मन के सयोग से बुद्धि की, भेरी और आकाश के सयोग से शब्द की, तथा प्रयत्न युक्त आत्मा और हाथ का सयोग होने पर हाथ में कर्म की उत्पत्ति होती है।

सयोग का विनाश कभी विभाग से और कभी आश्रय द्रव्यों के विनाश से होता है ।

---

१. कणाद रहस्यम् पृ० ८०   २. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६५

विभाग

एकत्र प्राप्त दो वस्तुओं की अप्राप्ति को विभाग कहते हैं। संयोग के समान विभाग के भी तीन प्रकार हैं, अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और विभागज। विभागज विभाग दो प्रकार का है—कारण विभाग तथा कारण अकारण विभाग से उत्पन्न।[1] अन्यतरकर्मज विभाग पक्षी और वृक्ष का है जो विभज्यमान पक्षी और वृक्ष में अन्यतर पक्षी के कर्म से उत्पन्न है। उभय कर्मज दो मल्लों (पहलवानो) अथवा दो मेषो में द्रष्टव्य है जहां विभाग के प्रति दोनों ही क्रियाशील हैं। कारण विभागज विभाग कपाल और आकाश के विभाग मे है, जबकि वह घट के कारण कपालो के विभाग से उत्पन्न है। उसकी प्रक्रिया यह है कि सर्व प्रथम एक कपाल में कर्म उत्पन्न होता है उससे दोनों कपालों में विभाग, तदनन्तर घट के कारण भूत सयोग का नाश, उसके अनन्तर घट का विनाश उत्पन्न होता है। उसके अनन्तर उसी कपालविभाग से कर्म सहित कपाल से आकाश का विभाग उत्पन्न होता है एव उससे ही कपाल आकाश का सयोग नाश तथा अन्यत्र आकाश से संयोग एवं तदनन्तर कर्म का नाश होता है। इस प्रसंग में एक ही कर्म से कपालद्वय का विभाग तथा आकाश और कपाल का विभाग नही माना जा सकता, क्योंकि जो कर्म आरम्भक सयोग का विनाश करने वाले विभाग को जन्म देता है उसे ही अनारम्भक सयोग के विनाशक विभाग का भी कारण माना जाए यह परस्पर विरुद्ध बात होगी। आरम्भक सयोग और अनारम्भक संयोग के प्रतियोगी को समान मानना तो कमल की कली के विकास और विनाश को समान मानने के सदृश है।

द्वितीय विभागज विभाग (कारण और अकारण से उत्पन्न विभाग) हाथ की क्रिया से उत्पन्न शरीर और वृक्ष का विभाग है, क्योंकि इन प्रकार के स्थलों पर हाथ में क्रिया उत्पन्न होती है, उसके फलस्वरूप हाथ और वृक्ष में विभाग उत्पन्न होता है। इस विभाग के कारण ही वृक्ष और शरीर में विभाग की प्रतीति होती है। इस विभाग के लिए हाथ की क्रिया को व्यधिकरण होने के कारण हेतु नहीं माना जा सकता है। इस क्रिया का आधार अवयव हाथ ही है शरीर नहीं, क्योंकि क्रिया को अव्याप्यवृत्ति मानाजाता है, अवयवी शरीर में क्रिया होने पर सम्पूर्ण शरीर में उसकी उपलब्धि अनिवार्य

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६७

होगी। अत: 'कारण अकारण विभाग से कार्य अकार्य विभाग उत्पन्न होता है' यही मानना उचित है।

अन्नभट्ट ने सयोग के नाशक गुण को विभाग माना है। उसका कारण यह है कि विभाग पूर्व आचार्यों के अनुसार भी पूर्वतः प्राप्त की अप्राप्ति का ही नाम है, तथा यह विभाग एक परमाणु मे तो सभव नही है, क्योंकि सयोग पृथक्त्व परत्व अपरत्व एवं द्वित्वादि सख्या के समान विभाग भी अनेकद्रव्यवृत्ति है, तथा परमाणु के अतिरिक्त अन्य सभी द्रव्य जिनमें कि विभाग संभव है, वैशेषिक के अनुसार परमाणुओ के सयाग से ही बने हैं। फल-स्वरूप विभाग के उत्पन्न होने से पूर्व उत्पन्न द्रव्य के कारणो मे विभाग की उत्पत्ति आवश्यक है, और इसी आधार पर अन्नभट्ट की परिभाषा को अनुचित नही कहा जा सकता।

संयोग के प्रतियोगी होने के कारण विभाग को संयोग का अभाव ही क्यों न माना जाए ? यह प्रश्न हो सकता है, किन्तु यह शंका उचित न होगी; क्योंकि रूपादि में भी सयोग का अत्यन्ताभाव ही तो है अत: रूप आदि में विभाग लक्षण की अतिव्याप्ति की सम्भावना से सयोगाभाव को विभाग नहीं कहते। रूपादि में अतिव्याप्ति निवारण के लिए द्रव्यवृत्ति विशेषण विशिष्ट संयोगाभाव को विभाग कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि द्रव्यगत अवयव का अभाव अवयवी में तथा अवयवी का अभाव अवयव में विद्यमान रहता है। सयोग के प्रध्वंसाभाव को भी विभाग कहना उचित नहीं है, क्योंकि दो संयोगियों में से एक सयोगी का नाश होने पर सयोग का प्रध्वंसाभाव तो होगा किन्तु उसे विभाग नहीं कह सकते। 'दो सयोगियों में विद्यमान प्रध्वसाभाव को विभाग कहा जाए, यह भी उचित नहीं है, क्योंकि द्वित्व सख्या अपेक्षाबुद्धि-जन्य होने के कारण क्षणिक (अस्थायी) है; अतः इन सभी से भिन्न विभाग को एक स्वतन्त्र गुण मानना ही अधिक उचित समझा गया है।

यह विभाग गुण विभक्त प्रतीति विभागज शब्द तथा विभागज विभाग का कारण भी होता है।

परत्व और अपरत्व

पर और अपर व्यवहार का कारण परत्व और अपरत्व है। यह दो प्रकार का है दैशिक और कालिक। किसी देश में स्थित दो वस्तुओं में एक व्यक्ति

१. तर्क संग्रह पृ० ६४।

(द्रष्टा) को किसी निकटस्थ वस्तु की अपेक्षा 'यह दूर है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान के अनुसार किसी देश विशेष (दिशा विशेष) से संयोग को आधार मानकर परत्व की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार किसी एक आधार की अपेक्षा 'यह निकट है' इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है' उस ज्ञान के अनुसार किसी देश विशेष को आधार मानकर **अपरत्व** बुद्धि उत्पन्न होती है इस **परत्व और अपरत्व** का आधार चूंकि देश विशेष है, अतः इन परत्व और अपरत्व को **दैशिक या दिक्कृत परत्व अपरत्व** कहा जाता है।

इसी प्रकार वर्तमान काल को आधार मानकर भिन्न-भिन्न समय में उत्पन्न दो वस्तुओं या व्यक्तियों में वर्तमान काल से एक की अपेक्षा अधिक दूर अर्थात् पूर्व में उत्पन्न वस्तु आदि को **'पर'** तथा उसकी अपेक्षा निकट अर्थात् पश्चात् उत्पन्न वस्तु आदि को **'अपर'** कहा जाता है। चूंकि इस **परत्व** और अपरत्व का आधार देश विशेष या दिशा विशेष न होकर काल विशेष है, अतः इस परत्व और अपरत्व को **कालिक परत्व अपरत्व** कहा जाता है।

उपर्युक्त परत्व और अपरत्व के आधार भूत स्तम्भ तीन है **अपेक्षा-बुद्धि**, देश विशेष या काल विशेष से **संयोग**, तथा परत्व अपरत्व के आश्रय भूत द्रव्य।

ये परत्व और अपरत्व दोनों ही अनित्य हैं, विनाश शील हैं। इनका विनाश उपर्युक्त आधार भूत स्तम्भों में से किसी एक का, किन्ही दो का, अथवा तीनों का विनाश होने से होता है। इस प्रकार इनके विनाश के सात कारण हो सकते है (१) आपेक्षा बुद्धि का नाश, (२) सयोग का नाश, (३) आश्रय द्रव्य का नाश (४) द्रव्य और अपेक्षाबुद्धि का नाश, (५) द्रव्य और संयोग का नाश (६) सयोग और अपेक्षा बुद्धि का नाश, तथा (७) अपेक्षा बुद्धि, सयोग और आश्रय द्रव्य तीनों का नाश।[1] इन कारणों के होने पर परत्व और अपरत्व के विनाश की प्रक्रिया निम्नलिखित है—

१. **अपेक्षा बुद्धि** के नाश से परत्व या अपरत्व का नाश: उत्पन्न परत्व में जिस समय सामान्य बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी क्षण एक ओर अपेक्षाबुद्धि का विनाश प्रारम्भ होता है तथा दूसरी ओर सामान्य ज्ञान और उसके सम्बन्ध से **परत्वगुणबुद्धि** की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। दूसरे क्षण अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति होती है, तथा इसी समय **अपेक्षाबुद्धि** के विनाश से गुण का विनाश

---

१. कणादरहस्यम् पृ० ८८

प्रारम्भ होता है, साथ ही गुण ज्ञान और उसके सम्बन्ध ज्ञान से द्रव्य बुद्धि की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। तीसरे क्षण द्रव्य बुद्धि की उत्पत्ति और परत्व गुण का नाश हो जाता है।

२. **संयोग विनाश से परत्व आदि का विनाश** : प्रथम क्षण में अपेक्षा बुद्धि उत्पन्न होने के समय ही **परत्व गुण** के आश्रय भूत द्रव्य मे कर्म उत्पन्न होता है, तथा उसी कर्म से दिशा अथवा काल से पिण्ड का विभाग एवं **अपेक्षाबुद्धि** से **परत्व** की उत्पत्ति होती है। दूसरे क्षण सामान्य बुद्धि एवं दिशा आदि और पिण्ड के संयोग का नाश उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर तीसरे क्षण परत्वगुणबुद्धि उत्पन्न होती है, तथा उसी क्षण दिशा आदि और पिण्ड के विनाश से परत्व आदि गुण का नाश हो जाता है।

३ **आश्रय द्रव्य के विनाश से परत्व आदि का विनाश**:–परत्व के आश्रय भूत द्रव्य के अवयव में कर्म उत्पन्न होता है, तथा जिस क्षण एक अवयव का अवयवान्तर से विभाग होता है, उसी क्षण में अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है। दूसरे क्षण विभाग से अवयवों में संयोग का विनाश तथा परत्व गुण की उत्पत्ति होती है। तीसरे क्षण सयोग के विनाश से द्रव्य का विनाश तथा आश्रय के विनाश से उसके आश्रित परत्व आदि गुणों का विनाश हो जाता है।

४. कभी-कभी **आश्रय, द्रव्य और अपेक्षा बुद्धि** दोनों के नाश से परत्वगुण का नाश होता है। उसमें प्रथम क्षण में परत्व आदि के आश्रय द्रव्य में कर्म उत्पन्न होता है, साथ ही अपेक्षा बुद्धि का भी जन्म होता है, एव कर्म द्वारा एक ओर अवयवों मे विभाग होता है, और दूसरी ओर **परत्वगुण** की उत्पत्ति। दूसरे क्षण अवयव विभाग से द्व्यारम्भक सयोग का नाश, सामान्य बुद्धि की उत्पत्ति, सयोग के नाश से **द्रव्य का विनाश** तथा सामान्य बुद्धि से **अपेक्षाबुद्धि** का नाश होता है। तृतीय क्षण में **द्रव्य विनाश और अपेक्षाबुद्धि के नाश से परत्व** गुण का नाश होता है।

५. **आश्रय द्रव्य और संयोग के नाश से परत्व नाश**—प्रथम क्षण में परत्व के आश्रय द्रव्य के अवयवों में कर्म की उत्पत्ति, अवयवान्तर से विभाग, साथ ही पिण्ड में कर्म और अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति, तथा इसी समय परत्व की उत्पत्ति एव अवयव विभाग से द्रव्यारम्भक संयोग का विनाश तथा पिण्ड के कर्म से दिशा और पिण्ड का विभाग होता है। दूसरे क्षण **सामान्यबुद्धि**

की उत्पत्ति के साथ ही द्रव्यारम्भक संयोग नाश से पिण्ड का विनाश एवं परत्व सामान्य-ज्ञान की उत्पत्ति तथा तृतीय क्षण में पिण्डविनाश से दिशा और पिण्ड के संयोग का विनाश तदनन्तर परत्वगुणबुद्धि के उत्पन्न होने साथ ही पिण्ड विनाश तथा पिण्ड और दिशा के सयोगविनाश के कारण परत्व गुण का विनाश हो जाता है।

६. **संयोग नाश और अपेक्षाबुद्धि नाश से परत्व का नाश** होने मे प्रशस्त पाद के अनुसार केवल दो क्षण ही लगते है।[1] प्रथम क्षण मे परत्व की उत्पत्ति और परत्व के आधार पिण्ड मे कर्म का जन्म, उसी समय सामान्यबुद्धि और दिशा एव पिण्ड में विभाग तथा अपेक्षा बुद्धि का विनाश और दिशा एव पिण्ड के सयोग का विनाश होकर दूसरे क्षण परत्व नाश हो जाता है।

७ तीनो का नाश होने पर प्रथम क्षण में अपेक्षाबुद्धि एवं परत्व की उत्पत्ति तथा उसी क्षण आश्रयअवयव मे कर्म उत्पन्न होने से अवयव मे विभाग साथ ही अवयव मे विभाग के कारण पिण्ड मे कर्म की उत्पत्ति होती है। दूसरे क्षण परत्वसामान्यज्ञान, आश्रयद्रव्य के अवयवों में सयोग का नाश तथा दिशा से द्रव्यपिण्ड का विभाग उत्पन्न होता है। तृतीय क्षण मे अपेक्षाबुद्धि-नाश द्रव्यनाश तथा दिशा और पिण्ड के संयोग के नाश से परत्व आदि का नाश होता है।

इस प्रकार दैशिक और कालिक दोनों प्रकार के ही परत्व एवं अपरत्व अनित्य हैं तथा प्रत्येक की नाश प्रक्रिया समान ही है।

गुरुत्व

आदि पतन के असमवायिकारण को गुरुत्व कहते हैं। यद्यपि सूत्रकार कणाद एवं भाष्यकार प्रशस्तपाद ने 'आदि' विशेषण न देते हुए पतन के कारण को ही गुरुत्व कहा था,[2] किन्तु चूंकि पतन आदि क्रियाओं के प्रति **वेग रूप संस्कार** भी कारण होता है अतः अतिव्याप्ति से बचने के लिए परवर्ती वैशेषिको ने पतन का तात्पर्य आद्य पतन माना है।[3] यह पतन पृथिवी और

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८२।

२. (क) वैशेषिक सूत्र पृ० १८७,१९८, २०१ (ख) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३३

३. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ५२६

जल इन दो द्रव्यों में विद्यमान रहता है। यद्यपि धूम भी पृथिवी और जल से भिन्न नही है, तथा धूम में पतन के स्थान पर ऊर्ध्वगमन की प्रतीति होती है, तथापि 'आदि पतन का असवायिकारण होना' लक्षण को दोषयुक्त नहीं माना जाता; क्योंकि धूम के ऊर्ध्वगमन के अनेक कारण संभव हैं जैसे—(१) गुरुत्व का अपकर्ष, (२) वह्निप्रेरित कारणपवन की प्रेरणा अथवा अभिघात, अथवा (३) अदृष्ट विशेष, अथवा (४) ऊर्ध्वगमन शील अग्नि की प्रेरणा।

गुरुत्व को अतीन्द्रिय माना जाता है। यद्यपि किसी द्रव्य को हाथ में लेने पर हाथ के अवनमन तथा सुवर्ण आदि में 'इसका इतना गुरुत्व है' इत्यादि प्रतीति के कारण गुरुत्व के अतीन्द्रिय होने मे सन्देह हो सकता है, किन्तु वह सन्देह उचित न होगा, क्योंकि हाथ आदि त्वगिन्द्रियमय ही हैं, अतः यदि यहा गुरुत्व की प्रतीति मानी जाएगी तो वह त्वाचप्रत्यक्ष जन्य ही होगी; इस प्रकार गुरुत्व का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष मानने पर सर्वत्र त्वगिन्द्रिय से पार्थिव एव जलीय पदार्थों का सन्निकर्ष होने पर उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए किन्तु वह नहीं होता, अतः जहां गुरुत्व प्रतीति होती है, वहां 'हाथ आदि के अवनमन से गुरुत्व का अनुमान होता है, यही स्वीकार करना चाहिए, न कि प्रत्यक्ष; क्योंकि तुला द्वारा भी उन्नमन और अवनमन के द्वारा ही हम गुरुत्व को जान पाते है।

गुरुत्व के प्रसंग में एक प्रश्न और उठता है कि अवयवद्रव्य और अवयवी-द्रव्य में गुरुत्व समान है, या अवयवी में अधिक ? चूंकि वैशेषिकों के अनुसार अवयव से भिन्न अवयवी की सत्ता है, अतः अवयव के गुरुत्व से अतिरिक्त गुरुत्व भी अवयवी में विद्यमान है ऐसा मानना ही चाहिए। उनके अनुसार अवयवी में गुरुत्वातिशय के कारण अतिरिक्त अवनमन भी होता है, किन्तु जैसे प्रस्तर आदि के मान के समय अल्पकाष्ठ के अधिक रखने से होता हुआ अति-रिक्त अवनमन भी प्रतीत नही होता[1] उसी प्रकार यहां भी वह (अवनमन विशेष) प्रतीत नहीं होता यह मानना अस्वाभाविक न होगा।

गुरुत्व का संयोग प्रयत्न और संस्कार से विरोध है फलस्वरूप गुरुत्व की अल्पता होने पर गुरुत्व के कार्य पतन का अभाव हो सकता अथवा उसकी

१. कणाद रहस्यम् पृ० १२८

अधिकता होने पर **संयोग, प्रयत्न और संस्कार** का अथवा इनके कार्यों का नाश हो सकता है। जैसे दोला में चढ़े हुए व्यक्ति का प्रतिबन्धक संयोग होने के कारण पतन नही होता। विधारक प्रयत्न से प्रतिबन्ध के कारण शरीर का पतन नही होता। इसी प्रकार वेगरूप सस्कार के कारण भी फके हुए बाण इत्यादि का वेग के विद्यमान रहने तक पतन नही होता। यह गुरुत्व परमाणु में नित्य तथा कार्य में कारण गुण पूर्वक विद्यमान रहता है।

द्रवत्व

स्यन्दन (टपकना) क्रिया के प्रति असमवायिकारण गुण को **द्रवत्व** कहते हैं। गुरुत्व लक्षण के समान ही यहा भी आद्य विशेषण का प्रयोग वेग मे अतिव्याप्ति निवारण के लिए किया जा सकता है। यह द्रवत्व दो प्रकार का है— सासिद्धिक (स्वाभाविक), और नैमित्तिक (किसी निमित्त विशेष से उत्पन्न)। सासिद्धिकद्रत्व केवल जल में विद्यमान रहता है, तथा नैमित्तिक पृथिवी और तेज में। जलीय परमाणुओ में विद्यमान सासिद्धिकद्रवत्व नित्य तथा कार्यजल में विद्यमान द्रवत्व कारणद्रवत्व पूर्वक है, तथा अनित्य है। नैमित्तिक द्रवत्व सदा ही अनित्य है। पार्थिव द्रवत्व घृत में तथा तैजस द्रवत्व सुवर्ण आदि में देखा जा सकता है।

सुवर्ण में विद्यमान द्रवत्व को तैजस माननेका कारण यह अनुमान है : '(द्रवत्व विशिष्ट) सुवर्ण तैजस है अत्यधिक तेज: संयोग होने पर भी अनुच्छिद्यमान द्रवत्व होने से'।[1] घृत को पार्थिव मानने का कारण उसमे विद्यमान गन्ध है। चूंकि जल में द्रवत्व स्वाभाविक होता है, अतः स्वाभाविक से भिन्न (नैमित्तिक) होने से घृत का द्रवत्व जलीय नही है। तथा तैजस द्रवत्व अग्नि संयोग से नष्ट नही होता, जबकि घृत का द्रवत्व अग्नि सयोग से प्रज्वलित हो जाता है, अतः यह तैजस द्रवत्व से भी भिन्न है, निदान गन्ध का समवायिकरण होने से इसे पार्थिव स्वीकार किया जाता है। अब प्रश्न है तेज गत द्रवत्व का : चूकि यह द्रवत्व सासिद्धिक है, अतः इसे पार्थिव और तैजस द्रवत्व से भिन्न होना चाहिए, साथ ही इसमे दाह के प्रति अनुकूलता है अतः इसे जलीय द्रवत्व से भिन्न होना चाहिए। तो क्या इस द्रवत्व को पार्थिव तैजस और जलीय द्रवत्व से भिन्न माना जाए ? वैशेषिको का उत्तर है नहीं; तैलगत यह द्रवत्व उपष्टम्भक जलीय द्रवत्व है। इसमें दाह के प्रति अनुकूलता

---

१. न्याय मुक्तावली पृ० १७६

स्नेह के उत्कर्ष के कारण है, सामान्य जल में इस उत्कर्ष का कारण दाह के प्रति अनुकूलता नही होती । इस प्रकार तेलगत द्रवत्व जलीय है ।[१] यह साश्चर्य स्मरणीय है कि वैशेषिक घृत को पार्थिव तथा तेल को जलीय मानते है जबकि गन्धवत्व दोनो में समान है । वैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा जब तेल को जमा दिया जाता है, तो तेल का द्रवत्व भी घृत के द्रवत्व के समान ही नैमित्तिक भी हो जाता है, इस स्थिति में एक को पार्थिव तथा दूसरे को जलीय स्वीकार करना कितना विचित्र है । उचित तो यह था कि या तो दोनो को ही पार्थिव माना या जलीय । सम्भवत: वैज्ञानिक प्रक्रिया से परिचित न होने के कारण ही उन्होने एक को जलीय तथा अन्य का पार्थिव माना है ।

नैमित्तिक द्रवत्व की उत्पत्ति की प्रक्रिया पाकज रूपादि की उत्पत्ति की प्रक्रिया के समान ही है; अर्थात् अग्नि के प्रेरण अथवा अभिघात से घृतादि के आरम्भक परमाणुओं मे कर्म की उत्पत्ति होती है, उससे परमाणुओ में परस्पर विभाग, उससे आरम्भक सयोग का नाश, उससे द्व्यणुक का नाश तदनन्तर परमाणु में द्रवत्व की उत्पत्ति पुन: कर्म से उत्पन्न विभाग जनक सयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति एव तदनन्तर कारणगुण पूर्वक द्रवत्व की उत्पत्ति होती है ।

ओले और वरफ में विद्यमान काठिन्य को देखकर प्रश्न उपस्थित होता है कि उसमें विद्यमान द्रवत्व सासिद्धिक और जलीय है अथवा नैमित्तिक और पार्थिव ? वैशेषिक इनमें शीत स्पर्श के कारण इन्हे जलीय ही मानते हैं ।[२] इनमें विद्यमान कठोरता भी अदृष्टकृत प्रतिबन्ध (अथवा वैज्ञानिक प्रतिबन्ध) के कारण है, जो कि सासिद्धिक द्रवत्व ही है ।

स्नेह

संग्रह शरीरशुद्धि एवं मृदुत्व का हेतु स्नेह गुण कहा जाता है । यह स्नेह जलीय परमाणुओ में नित्य तथा कार्य जल में कारण स्नेह पूर्वक विद्यमान रहा करता है, स्नेह के लक्षण में संग्रह का तात्पर्य है : चूर्ण पार्थिव द्रव्य के पिण्डी भाव का हेतु संयोग विशेप । उद्वर्त्तन आदि द्वारा साध्य शरीर की शुद्धि भी स्नेहसाध्य ही है ।

---

१. कणादरहस्यम् पृ० १२८-१२९

१. (क) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३५ (ख) प्रशस्तपाद विवरण पृ० १३५ (ग) तर्क संग्रह पृ० ६७

चूंकि स्नेह जल का ही गुण माना गया है, अत: पार्थिव घृत में विद्यमान स्नेह कैसा है ? घृत को नैमित्तिक द्रवत्व के कारण जहा पार्थिक माना जाता है, वही जलमात्रवृत्ति स्नेह के कारण जलीय क्यो न माना जाए ? वैशेषिकों के अनुसार इस समस्या का समाधान यह कि घृत मे विद्यमान द्रवत्व तो पार्थिव है किन्तु उसमें विद्यमान सग्राहकता स्निग्ध होने के कारण जलीय भाग है । 'घृत स्निग्ध है' यह प्रतीति तो परम्परा सम्बन्ध के कारण है । ।[1] घृत में विद्यमान द्रवत्व को नैमित्तिक होने के कारण जलीय द्रवत्व से विजातीय अर्थात् पूर्व उपस्थित किये गये तर्कों के आधार पर पार्थिव ही माना जाएगा ।

—:शब्द: —

श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य गुण को शब्द कहते हैं । शब्द का आश्रय द्रव्य आकाश है । नैयायिको के अनुसार शब्द अनित्य है,[2] क्योंकि यदि शब्द नित्य होता तो सदा उसका ग्रहण होता, किन्तु शब्द की उत्पत्ति के समय से भिन्न समय में उसका ग्रहण नही होता, अतः वह अन्य क्षण में नही है, यह मानना ही उचित है । 'कार्य घट के समान शब्द भी अनित्य है, कार्य होने से,[3] इस अनुमान के द्वारा भी शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है । शब्द का कार्यत्व तो 'अभी शब्द उत्पन्न हुआ ' 'शब्द उत्पन्न हो रहा है' इत्यादि प्रतीति से ही सिद्ध है । शब्दो को नित्यमान कर शब्द की उत्पत्ति को अभिव्यक्ति नही कह सकते, क्योकि शब्द का विनाश हम प्रत्यक्षतः ही देखते है; अत: शब्द को अनित्य ही मानना चाहिए ।

वैयाकरणों के अनुसार शब्द अनित्य न होकर नित्य ही है ।[4] इसके लिए वे शब्द के लिए प्रयुक्त होने वाले 'अक्षर' शब्द को प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं ।[5] मीमासा में भी शब्द को नित्य माना गया है, उनके अनुसार उच्चारण के लिए किये गये प्रयत्नों से शब्दों की उत्पत्ति नही, अपितु व्यञ्जना होती है ।[6] सांख्य दर्शन के अनुसार भी शब्द नित्य ही हैं ।[7]

---

१. कणाद रहस्यम् पृ० १३०

२. (क) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १४४ (ख) भाषा परिच्छेद १६८

३. कणादरहस्यम् पृ० १४९

४. वाक्यपदीयम् १. १.

५. व्याकरण महाभाष्य १.१.२. ।

६. जैमिनीय न्याय माला १.१.५०.

७. सांख्यदर्शन ५.६०

नैयायिकों के अनुसार उत्पन्न शब्द का विनाश द्वितीय क्षण में कार्य शब्द के द्वारा हो जाता है, किन्तु अन्तिम शब्द का नाश उपान्त्य शब्द द्वारा अथवा उपान्त्य शब्द के नाश द्वारा होता है।[1] शब्द दो प्रकार के हैं—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैयाकरणों और नैयायिकों में प्राय: समान विचार है। वैयाकरणों के अनुसार 'विवक्षा होने पर आत्मा बुद्धि के साथ बाह्य अर्थों का अवधारण कर मन को प्रेरित करता है। मन शरीराग्नि को प्रेरणा देता है, तथा शरीराग्नि वायु को प्रेरित करती है, हृदय में विचरणशील वह वायु गतिशील होकर मन्द्र स्वर को जन्म देता है, तथा वह स्वर कण्ठ तालु आदि विभिन्न उच्चारण स्थानों में विभक्त होकर अवर्ण आदि विविध वर्णों के रूप में उत्पन्न होता है।[2] नैयायिकों के अनुसार वर्ण स्मृति विशिष्ट आत्मा और मन के सयोग से वर्णोच्चारण की इच्छा उत्पन्न होती है, तदनन्तर कोष्ठस्थ वायु और आत्मा का सयोग होता है फलस्वरूप वायु ऊपर को उठता हुआ कण्ठ तालु आदि स्थानों पर अभिघात करता है। फलत: कण्ठ में वायु के अभिघातरूप निमित्त से कण्ठ और आकाश में संयोग उत्पन्न होता है, तथा इसी कण्ठ और आकाश के सयोगरूप असमवायिकारण से **अकार कवर्ग हकार** और **विसर्जनीय** वर्णों की उत्पत्ति होती है,[3] इसी प्रकार अन्य स्थानों में वायु का अभिघात होने पर अन्य वर्णों की उत्पत्ति होती है। ध्वन्यात्मक (अवर्णात्मक) शब्दों की उत्पत्ति भेरी दण्ड आदि के सयोग से अथवा वश आदि में दलद्वय में विभाग होने से होती है।

यह प्रकार तो आदि शब्द की उत्पत्ति का है। चूंकि शब्द अनित्य है, इसलिए उत्पन्न आदि शब्द ही श्रवणेन्द्रिय तक नहीं पहुंच सकते, अत: नैयायिकों की मान्यता है कि **आदि शब्द** प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय शब्द को उत्पन्न करता है, तथा वह द्वितीय शब्द तृतीय शब्द को इस प्रकार उत्पन्न और नष्ट होते हुए शब्दों की एक धारा प्रवाहित हो उठती है उस प्रवाहमान धारा के शब्द ही श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत होते है। इन उत्पन्न शब्दों में प्रथम शब्द का नाश कार्यशब्द से, तथा उसके बाद के शब्दों का कभी कार्यशब्द से और कभी, जब वह उत्पादक नहीं बनता ऐसी स्थिति में, अन्य निमित्त न होने पर

१. दिनकरी पृ० ५३९. २. पाणिनीय शिक्षा ६-७

३. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १४५

उसका नाश कारण शब्द से ही होता है। अतः शब्दज शब्द के नाश का कोई एक नियम नहीं है।[१] इस प्रक्रिया में शब्दों द्वारा उत्पन्न शब्द को शब्दज शब्द कहा जाता है। इस प्रकार ध्वन्यात्मक (अवर्णात्मक) और वर्णात्मक शब्द संयोगज, विभागज और शब्दज भेद से त्रिधा विभक्त होकर छः प्रकार का हो जाता है।

शब्दज शब्द की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में नैयायिकों में अनेक सम्प्रदाय हैं; जिनमें मुख्य दो हैं: कुछ लोग इस उत्पत्ति को **कदम्बमुकुल न्याय** से मानते हैं, तथा अन्यलोग वीचीतरङ्ग न्याय से।

कदम्ब मुकुलन्यायः—कदम्बमुकुलन्याय का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार कदम्बकलिका केन्द्र से सभी दिशाओं मे विकसित होती है, उसी प्रकार एक शब्द अपने विनाश से पूर्व द्वितीय क्षण मे दसो दिशाओ में दस शब्द उत्पादन करता है। यह क्रम श्रोत्राकाश पर्यन्त अबाध रूप से चलता रहता है।[२] चूंकि इस प्रक्रिया में स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक शब्द कदम्बमुकुल के समान प्रत्येक दिशाओ मे शब्दज शब्दों को जन्म देता है, अतः इसे **कदम्ब-मुकुलन्याय** करते हैं।

वीचितरङ्गन्यायः इस प्रक्रिया में स्वीकार किया गया है कि जिसप्रकार प्रशान्त सरोवर के जल में किसी प्रकार भी आघात उत्पन्न होने पर सर्व प्रथम केन्द्र से चारों दिशाओं एवं चारों उपदिशाओं मे एक एक तरङ्ग उत्पन्न होती है एवं प्रत्येक तरङ्ग अपने विनाश से पूर्वक्षण मे अन्य तरङ्ग को उत्पन्न कर देती है, किन्तु तरङ्ग से उत्पन्न तरङ्गें एक दिशा में ही होती है एव एक दिशा मे ही गति शील होती है, उसी प्रकार प्रथम आघात से सभी दिशाओं में शब्द उत्पन्न होता है तदनन्तर केन्द्र से बाहर की ओर से बढते हुए अन्य शब्दज शब्दो की उत्पत्ति होती है। शब्द की उत्पत्ति की इस प्रक्रिया में वीचितरङ्ग को उपमान मानने के कारण ही इसे वीचितरङ्ग न्याय कहते हैं।

पूर्व पृष्ठ में दिये गये शब्द के छः प्रकार के विभाजन के अतिरिक्त निम्न-लिखित आठ प्रकार का विभाजन भी किया जासकता है।

---

१. कणाद रहस्यम् पृ० १५१ २. वही १४६
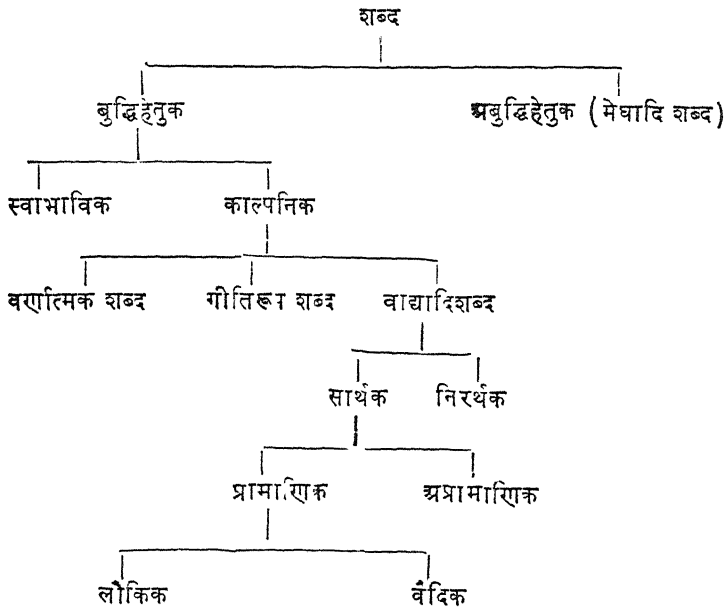
शब्द की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विचार शब्द प्रमाण प्रकरण में किया जाएगा।

——: ० :——

४

बुद्धि विमर्श

बुद्धि :—

ज्ञान के बिना शब्द प्रयोग या अन्य कोई भी लौकिक अथवा पारलौकिक व्यवहार नहीं हो सकते, इसे ध्यान में रखते हुए बुद्धि की यह परिभाषा की गयी ,है, 'शब्द प्रयोग आदि सभी व्यवहारों का हेतु गुण बुद्धि है। बुद्धि को ही ज्ञान कहते हैं। इसके सामान्यतः दो भेद किये जाते हैं: स्मृति और अनुभव। जो ज्ञान केवल भावनारूप संस्कार से उत्पन्न होता है, उस ज्ञान को **स्मृति** या **स्मरण** कहते हैं। स्मरण से भिन्न ज्ञान **अनुभव** कहा जाता है।

न्याय शास्त्र में प्रयुक्त होने वाले बुद्धि शब्द का पारिभाषिक अर्थ ज्ञान रूप गुण है, जोकि आत्मा का गुण है, पाश्चात्य दार्शनिकों के शब्दों में इसे Cognition कह सकते हैं। Ballantine ने बुद्धि का अर्थ 'समझना (Understanding)' लिया है। Roer ने इससे 'समझ' (ज्ञान का साधन अर्थात् Intellect) माना है, किन्तु इसे उचित नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञान के साधन को बुद्धि मानने पर उस साधन के साध्य भूत ज्ञान को क्या कहेंगे ? सामान्यतया बुद्धि के तीन भेद हो सकते हैं—(१) सामान्य **ज्ञान की क्रिया**, जिसे हम 'समझना' कह सकते है ; (२) **ज्ञान का साधन**, जिसे 'समझ' (Intellect) कह सकते हैं; (२) **ज्ञान का फल**, जिसे 'प्रतीति' 'उपलब्धि' या ज्ञान (Cognition) कह सकते हैं। न्याय शास्त्र में यह तृतीय अर्थ ही ग्रहीत है, इसलिए सूत्रकार गौतम तथा वैशेषिक भाष्यकार प्रशस्तपाद ने **बुद्धि उपलब्धि और ज्ञान** को पर्यायवाची स्वीकार किया है।[१] यह बुद्धि आत्मा का गुण है; जबकि 'समझना एक क्रिया है. धर्म

---

१. न्याय सूत्र १. १. १५

नहीं। इसी प्रकार 'समझ' भी साधन है, जिसे न्याय के ग्रन्थों में मन कहा गया है।[१]

सांख्य और वेदान्त में बुद्धि को कार्य अर्थात् क्रमशः प्रकृति और ब्रह्म का कार्य माना गया है, तथा उसके अनेक भेद स्वीकार किये गये हैं। सांख्य के अनुसार बुद्धि को महत्व कहा जाता है, तथा उसके कार्य में 'अहंकार' को भी अन्तःकरण चतुष्टय में अन्यतम माना जाता है, तात्पर्य यह है कि सांख्य के अनुसार बुद्धि ज्ञान का साधन है, स्वयं ज्ञान गुण नहीं।[२] जबकि न्याय उसे गुण मानता है। ज्ञान के साधन के रूप में न्याय ने मनको स्वीकार किया है,[३] जो कि अप्रत्यक्ष एवं अणु है।

तर्कसंग्रहगत बुद्धि लक्षण में प्रयुक्त 'व्यवहार' शब्द का अर्थ, वाक्यवृत्तिकार मेरुशास्त्री तथा न्यायबोधनीकार गोवर्धन के अनुसार, 'वह वाक्य व्यवहार या शब्द प्रयोग है, जो कि दूसरों को समझाने के लिए प्रयुक्त किया गया हो,[४] न कि आहार विहार आदि है। सिद्धान्त चन्द्रोदयकार ने व्यवहार का तात्पर्य आहार विहार आदि माना है, किन्तु वह उचित प्रतीत नहीं होता, कारण यह कि स्वप्नगत भ्रमण आदि अनेक क्रियाएं ऐसी हैं, जोकि बुद्धि पूर्वक नही होती। उनके कारण को भी बुद्धि मानने में लक्षण में अतिव्याप्ति दोष होगा।

'शब्द प्रयोग का हेतु बुद्धि है' ऐसा मानने पर बुद्धि की परिभाषा इतनी संकुचित हो जाती है, कि निर्विकल्पकज्ञान में भी वह अव्याप्त होती है। इसके समाधान के लिए वाक्यवृत्तिकार ने जाति घटित लक्षण माना है, उसके अनुसार 'शब्द व्यवहार के हेतु में विद्यमान जाति से विशिष्ट गुण को बुद्धि कहते हैं।[५] इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान भी बुद्धित्व जाति से युक्त होने के कारण बुद्धि कहा जाता है।

तर्क दीपिका के अनुसार 'मैं जानता हूँ इस प्रकार अनुव्यवसाय गम्य ज्ञान को बुद्धि कहते है।[६] अनुव्यवसायात्मक ज्ञान की तीन श्रेणियाँ हैं। सर्व प्रथम

---

१. तर्कसंग्रह पृ० ५२ २. सांख्यकारिका ३५ ३. न्याय दर्शन १.१.१६
४. (क) वाक्यवृत्ति बुद्धिखण्ड (ख) न्यायबोधिनी पृ० २२
५. वाक्य वृत्ति बुद्धिखण्ड ६. तर्क दीपिका पृ० ६८

आत्मा और मन के संयोग से युक्त इन्द्रिय के साथ विषय का संयोग होता है, तदनन्तर ज्ञान की उत्पत्ति एव अन्त में अनुव्यवसाय उत्पन्न होता है, जब सर्व प्रथम घट आदि कोई वस्तु हमारे समक्ष आती है तो पहले वस्तु का इन्द्रियो से (रूपयुक्त वस्तु का चक्षु से, गन्धयुक्त का घ्राण से, इसी प्रकार रसादि से युक्त का रसन आदि से) सन्निकर्ष होता है, तत्पश्चात् इन्द्रियाँ मन से, मन आत्मा से संयुक्त होता है, इस प्रकार प्रत्यक्षप्रमाणभूत चक्षु आदि इन्द्रियो से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, तदनन्तर 'यह घट है' यह प्रत्यक्ष ज्ञान चेतन आत्मा के साथ विषय रूप से सबद्ध हो जाता है, जिसके फलस्वरूप 'मै घट ज्ञानवान् हूँ' या 'मैं घटज्ञानयुक्त हूँ' यह प्रतीति उत्पन्न होती है, यही अनुव्यवसाय है 'मैं घट को जानता हूँ' इस ज्ञान को अनुव्यवसाय इस लिए कहाजाता है, कि इसकी उत्पत्ति 'यह घट है' इस व्यवसायगम्य ज्ञान से होती है। अनुव्यवसाय की यह मान्यता न्यायशास्त्र मे ही स्वीकृत है । साख्य में 'मै घट को जानता हूं' इस ज्ञान को अनुव्यवसाय कहा जाता है, और वेदान्त के अनुसार 'मै घट को जानता हूँ' इस ज्ञान के स्थान पर 'यह घट है' इस ज्ञान को ही अनुव्यवसाय कहा जाता है।

शिवादित्य की सप्तपदार्थी में बुद्धि की एक अन्य परिभाषा दी गयी है, 'आत्माश्रय प्रकाश बुद्धि है' सप्तपदार्थी के टीकाकार जिनवर्धन ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'अज्ञान रूप अन्धकार को तिरस्कृत कर सम्पूर्ण अर्थो को प्रकाशित करने वाला दीपतुल्य जो प्रकाश है वही बुद्धि है ।[1]

प्रस्तुत लक्षण में 'आत्माश्रय, पद का तात्पर्य आत्मा में समवाय सम्बन्ध में रहने वाला गुण है। इसी तथ्य को कणादरहस्यकार शकरमिश्र तथा तर्कसग्रहकार अन्नंभट्ट आदि ने आत्मा की परिभाषा में 'ज्ञानाधिकरण' विशेषण देते हुए स्वीकार किया है ।[2] इस प्रसंग में स्मरणीय है कि न्याय शास्त्र मे ज्ञान और बुद्धि को पर्यायवाची पद के रूप में स्वीकार किया गया है ।[3]

सांख्य दर्शन में महत्तत्व को बुद्धि कहा गया है, जो कि प्रकृति का कार्य है, साथ ही उसे अन्य समस्त कार्यों का उपादान कारण भी माना गया है।

न्याय शास्त्र में बुद्धि के सर्व प्रथम दो भेद स्वीकार किये गये हैं : अविद्या और विद्या। अविद्या के चार प्रकार हैं: सशय विपर्यय, अनध्यवसाय, तथा स्वप्न[3]

---

१. सप्तपदार्थी जिनवर्धनटीका

२. (क) कणाद रहस्यम् पृ० ३६ (ख) तर्कसंग्रह पृ० ४८

३. (क) न्याय दर्शन १.१.१५ (ख) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८३

आचार्य प्रशस्त पाद एवं शंकरमिश्र और के अनुसार विद्या भी प्रत्यक्ष लैंगिक स्मृति एवं आर्ष भेद से चार प्रकार की है।[1]

परवर्त्ती नैयायिकों ने (विश्वनाथ अन्नभट्ट आदि ने) बुद्धि को सर्वप्रथम स्मृति और और अनुभव भेद से दो प्रकार का माना है। इनके अनुसार स्मृति और अनुभव दोनों ही यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो-दो प्रकार के है। उनके मत में यथार्थ अनुभव प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति और शाब्द भेद से चार प्रकार का है। अयथार्थ अनुभव भी संशय विपर्यय और तर्क भेद से तीन प्रकार का है। उपर्युक्त दोनों परम्पराओ का वर्गीकरण एक दृष्टि में इस प्रकार है :—

प्रशस्तपाद आदि:—

१. प्रशस्त पाद भाष्य पृ० ८५
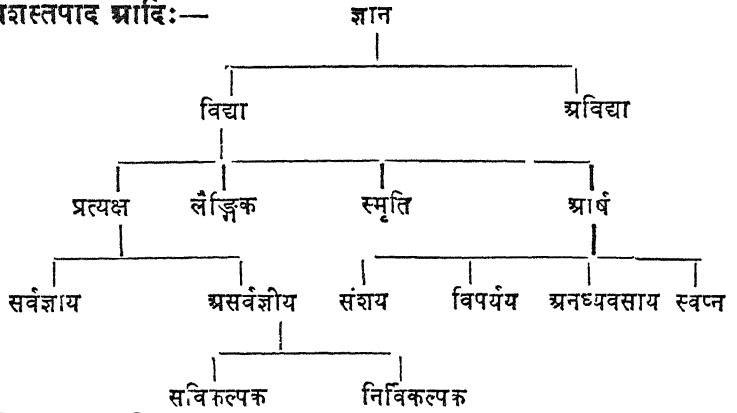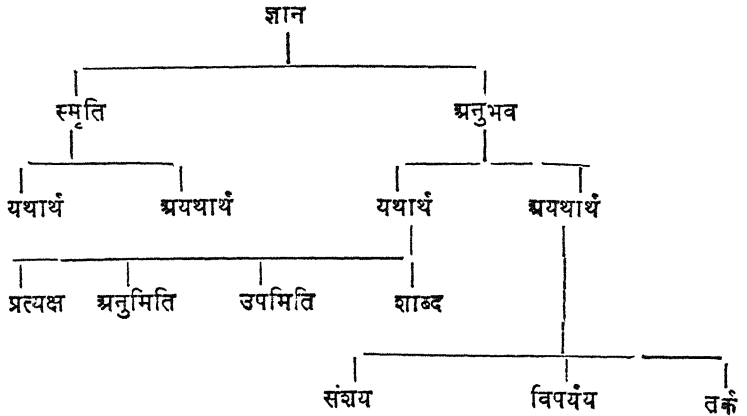
न्याय सूत्रकार गौतम ने चूंकि समस्त विश्व की बौद्धिक सत्ता का ही विश्लेषण किया है, अतः उन्होंने प्रत्यक्षादि प्रमाण, संशय, तर्क, सिद्धान्त आदि ज्ञान के भेदों को स्वतन्त्र पदार्थों के रूप में स्वीकार किया है, तथा बुद्धि का विश्लेषण प्रमेय के मध्य किया है, अतः उनकी सम्मति उपर्युक्त किसी भी वर्गीकरण से नहीं है।

उपर्युक्त दोनों वर्गीकरणों में अन्तर बहुत कुछ प्रमाणों की मान्यता के कारण है। कणाद ने चूंकि प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण ही स्वीकार किये थे, अतः उनके अनुयायियों के द्वारा भी उपमिति और शाब्द ज्ञान को पृथक् स्वीकार किया जाना संभव न था। आर्ष ज्ञान, जिसे परवर्त्ती नैयायिकों ने प्रत्यक्ष का ही एक भेद माना था, प्रशस्तपाद आदि के अनुसार विद्या का स्वतन्त्र भेद मान लिया गया है। उनके वर्गीकरण को देखकर उसका कारण यह प्रतीत होता है, कि उन्होंने विद्या के इस वर्गीकरण के मूल में इन्द्रियग्राह्यता को आधार माना होगा। प्रत्यक्ष चूंकि इन्द्रियग्राह्य है, एव आर्षज्ञान अनिन्द्रियग्राह्य, अतः दोनों का पृथक् परिगन उनके लिए आवश्यक हो गया। यथार्थ भी इसी कारण स्मृति के रूप में पृथक् विद्या भेद माना गया है। विद्या और अविद्या के रूप में दो भेद भी ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता के आधार पर ही हैं। अयथार्थ स्मृति को ही इस वर्गीकरण में स्वप्न कहा गया है।

परवर्त्ती आचार्यों ने वर्गीकरण का मूल आधार सम्भवतः काल को स्वीकार किया था। इसीलिए उनके अनुसार वर्त्तमान मे उत्पन्न ज्ञान को **अनुभव** एवं भूतकाल में उत्पन्न ज्ञान के स्मरण को **स्मृति** कहा गया। अनुभव अर्थात् उत्पन्न होता हुआ ज्ञान तो वास्तविक और अवास्तविक होता ही है। स्मृति भी कभी वास्तविक और कभी अवास्तविक हुआ करती है; इसलिए उन्होंने ज्ञान के अनुभव एवं स्मृतिरूप भेद करते हुए दोनों को ही यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार का माना है। इसके अतिरिक्त यथार्थ स्मृति एवं अनुभव को, जिसे पूर्ववर्त्तियों के अनुसार विद्या के समानन्तर रखा जा सकता है, **प्रत्यक्ष अनुमान उपमान** और **शब्द** प्रमाण पर आधारित होने के कारण उन्होंने चार प्रकार का मानते हुए इस प्रसंग में गौतम का अनुसरण किया है।[1] चूंकि समस्त लौकिकज्ञान इच्छा एवं प्रयत्न मूलक है, तथा स्वप्न

---

१. न्याय सूत्र १,१.३

इच्छा और प्रयत्न पर आश्रित नहीं होता, उसकी उत्पत्ति सुप्त चेतना में केवल मानसिक स्मरण से बिना इच्छा और प्रयत्न के होती है, अतः परवर्त्ती आचार्यो ने उसे ज्ञान की कोटि में रखना आवश्यक नही समझा। चूंकि परवर्त्ती वर्गीकरण पूर्व वर्गीकरण को ध्यान में रखकर अपेक्षित सशोधन के साथ किया गया है, अतः उसका अधिक वैज्ञानिक होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में भी इसे ही विवेचन को आधार मान लिया गया है।

स्मृतिः—

जो ज्ञान केवल संस्कार से उत्पन्न होता है, उसे **स्मृति** कहते हैं।[१] संस्कार तीन प्रकार का है—**वेग भावना** और **स्थितिस्थापक**। स्मृति के प्रति भावना नामक संस्कार ही कारण है, **भावना** की उत्पत्ति अनुभव से होती है। यह **भावना** नामक संस्कार अनुभव और स्मृति के बीच व्यापार के रूप में अवस्थित रहता है। यही कारण है कि पूर्वानुभूत विषय का चिरकाल के व्यवधान के अनन्तर भी स्मरण होता है। स्मरण पूर्व अनुभूत विषय का ही होता है, अननुभूत विषय का नही, अतः इसके लिए **शेषानुव्यवसाय, इच्छा और द्वेष** का होना भी कारण के रूप में आवश्यक होता है।[२] स्मृति के लक्षण में उसे केवल संस्कार से उत्पन्न (संस्कार-मात्रजन्य) कहा गया है। तर्क दीपिका एवं न्याय बोधिनी के अनुसार इसका कारण **प्रत्यभिज्ञा** को स्मृति से भिन्न करना है। प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति भी संस्कार द्वारा ही होती है, किन्तु केवल संस्कार द्वारा नहीं। उसके लिए संस्कार के अतिरिक्त प्रत्यक्ष की भी अपेक्षा रहती है। जबकि स्मृति में स्मृति हेतु लिङ्ग आदि के लिए प्रत्यक्ष कारण हो सकता है, साक्षात् स्मृति के लिए नहीं। उदाहरणार्थ एक समय हमने घोड़ा और सवार को एक साथ देखा है। किसी अन्य समय पुनः उसी घोड़े या सवार में से अन्यतम का अथवा तत्सदृश का दर्शन होता है, उस समय तत्काल दृष्ट से भिन्न सवार या घोड़े की, अथवा सदृशका दर्शन होने पर दोनों की ज्ञान के विषय के रूप में मस्तिष्क में उप-स्थिति होती है, इसे ही स्मृति कहते हैं; किन्तु पूर्वदृष्ट घोड़ा या सवार अथवा दोनों का प्रत्यक्ष होने पर संस्कार रूप में स्थित घोड़ा आदि का स्मरण

---

१. तर्क संग्रह पृ० ६८ २. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १२८।

होता है, तदनन्तर प्रत्यक्ष और स्मरण के आधार पर 'यह वही है' (यथा अव-सर वही घोड़ा, वही सवार अथवा वही घोड़ा और सवार है) यह ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान को **प्रत्यभिज्ञा** कहते हैं । चूंकि इस **प्रत्यभिज्ञा** में संस्कार के साथ ही प्रत्यक्ष भी आवश्यक है, अतः इसे स्मृति नहीं कहा जा सकेगा ।

राधामोहन के अनुसार सूत्रकार गौतम प्रत्यभिज्ञा को संस्कारजन्य मानते है।[1] किन्तु न्याय सूत्र के उपलब्ध भाष्यों में किसी में भी प्रत्यभिज्ञालक्षण सूत्र का भाष्य उपलब्ध नही है, अतः उक्तमत प्रमाणिक नही कहा जा सकता ।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि प्रत्यभिज्ञा संस्कारजन्य नहीं है । उसकी उत्पत्ति प्रत्यय (पहचान या Identity) से होती है । अर्थात् प्रत्यभिज्ञा के प्रति संस्कार साक्षात्कारण नही है, संस्कार से प्रत्यय की उत्पत्ति होती है, एवं प्रत्यय से प्रत्यभिज्ञा । इसलिए स्मृति के लक्षण में **केवल** (अथवा मात्र विशेषण) की आवश्यकता नही रह जाती । नीलकण्ठ के अनुसार चक्षु आदि से उत्पन्न न होते हुए संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को **स्मृति** कहा जाता है। स्मृति की परिभाषाओं में '**ज्ञान**' विशेषण का प्रयोग अनिवार्य है, अन्यथा संस्कार ध्वंस में भी केवल संस्कार से उत्पन्न होने के कारण उसमें अति व्याप्ति होगी ।

अनुभवः—

स्मृति से भिन्न ज्ञान को **अनुभव** कहते हैं। यथार्थ ज्ञान दो प्रकार का ही हो सकता है: पूर्वकाल में उत्पन्न ज्ञान की संस्कार द्वारा उपस्थिति एवं नवीन उत्पन्न ज्ञान । अनुभव इस नवीन उत्पन्न ज्ञान को ही कहते हैं । अनुभव की इस परम्परागत परिभाषा को **व्यतिरेकि परिभाषा** कहा जा सकता है, क्योंकि अनुभव को स्मृति से भिन्न ज्ञान कहा गया है एवं स्मृति का परिचय दिया गया है । इस प्रकार यहां भिन्न का परिचय होने पर प्रकृत का परिचय अनायास हो जाता है । अनेक विचारक अनुभव की परिभाषा अनावश्यक मानते हैं, उनका तर्क है कि स्मृति को पृथक् करने से ही अनुभव की परिभाषा अनायास हो जाएगी, किन्तु प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति होने से इसे उचित नहीं माना जा सकता । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पूर्वदृष्ट पदार्थों का संस्कार द्वारा ज्ञान होना **स्मृति**, संस्कार तथा अनु-

१. न्याय सूत्रोद्धार टिप्पणी पृ० १

भव दोनों के सहकार से उत्पन्न ज्ञान **प्रत्यभिज्ञा** एवं विषय के सम्बन्ध में उत्पन्न ज्ञान '**अनुभव**' है।

इस सामान्य अनुभव को दो भागों में विभाजित किया जाता है:- **निर्विकल्पक** और **सविकल्पक**। यद्यपि न्याय में दी गयी परिभाषा के अनुसार इन्हें '**अनुभव**' नही कहा जा सकता, फिर भी ये दोनों ही ज्ञान अनुभव के अत्यधिक निकट है।

पाश्चात्य दार्शनिकों के Cognition Apprehension तथा Remembrance भारतीय दार्शनिको के बुद्धि अनुभव और स्मृति के समानान्तर हैं। उनके अनुसार Remembrance वह ज्ञान है, जो उस क्षण वस्तु और इन्द्रियो के सन्निकर्ष के अभाव मे उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष से भिन्न होता है, क्योकि वह पूर्व अनुभव के स्मरण पर आश्रित होता है।[1] Apprehension विषय वस्तु का सामान्य ज्ञान है। यह ज्ञान की वह क्रिया या स्थिति है, जिसमें वस्तु की सत्ता का अनुभव किया जा रहा हो। यह सामान्य ज्ञान (Apprehensien) दो प्रकार का है Incomplex एवं complex[2] भारतीय दार्शनिकों के निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान इनके ही समानान्तर हैं। अंग्रेजी का cognition शब्द इस दृष्टि से व्यापक भाव युक्त है। काण्ट के अनुसार cognition शब्द उपस्थित वस्तु के सम्बन्ध में परिचय देता है' तथा वह परिचय वस्तु के प्रत्यक्ष पर आश्रित रहता है। गौ अपने स्वामी को पहचानती है, किन्तु उसे Cognition नहीं कह सकते, क्योंकि वह प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता।[3] यहां महाभारत के गन्धेन गावः पश्यन्ति' इत्यादि वचन के अनुसार गन्ध द्वारा किये गये प्रत्यय को भी प्रत्यक्ष क्यों न माना जाय यह शंका हो सकती हैं, किन्तु नैयायिक इसे प्रत्यक्ष नही मानते, क्योंकि उनके अनुसार द्रव्य सम्बन्धी वही ज्ञान '**प्रत्यक्ष**' कहा जा सकता है, जो रूप अथवा स्पर्श के गुण के प्रत्यक्ष पर आश्रित प्रत्यक्ष ज्ञान हो।[4] इसी प्रकार एक पागल व्यक्ति किसी वस्तु को देखता है उसके इस ज्ञान को प्रत्यक्ष या cognition

---

1. P. B. Ben. ed. P. 172.
2. Whately. Logic, Bk. IIch. I sec. 1.
3. Critique of Pure Reason P. 593. Haywood
४. भाषा परिच्छेद ५४, ५६, पृ० २४२

नही कह सकते, क्योंकि उसकी बुद्धि अस्थिरता के कारण कार्य नही कर रही है ।[1] इसके अतिरिक्त पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत ज्ञान भेद Sensation, Perception, Conception तथा Notion भी cognetienमे समाहित हो जाते है। न्याय मे स्वीकृत अनुभव भी इसके अन्तर्गत ही है, इस प्रकार हम कह सकते है कि cognition और बुद्धि दोनों समानान्तर है ।

अनुभव

अनुभव की परिभाषा पहले दी जा चुकी है, वह अनुभव दो प्रकार का है : **'यथार्थ'** और **'अयथार्थ'।** जो वस्तु जैसी है, उसको वैसा ही समझना **यथार्थ अनुभव** कहाता है । जैसे चादी को चादी समझना । इस अनुभव को ही **प्रमा** कहते हैं ।[2] जो वस्तु जिन धर्मों से रहित है उसे उन धर्मों से युक्त समझना **'अयथार्थ अनुभव'** कहाता है, जैसे चांदी के धर्म से रहित 'शुक्ति' को चांदी समझना । इस अयथार्थ अनुभव को ही **अप्रमा** कहते हैं ।[3]

अनुभव के न्याय शास्त्र में दिये गये परम्परागत लक्षणों के प्रसङ्ग में यह स्मरणीय है कि प्रत्येक शास्त्र की एक अपनी विशिष्ट भाषा होती है, अपनी परिभाषाएं तथा अपनी शैली होती है । परम्परागत अनुभव लक्षण में न्याय शास्त्र की उस विशिष्ट शैली के अनुसार **विशेषण विशेष्य** और **प्रकार** तीन शब्दो का प्रयोग किया जाता है। न्याय शास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है, कि वह इन शब्दों का परिचय प्राप्त कर ले । **विशेष्य:** जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो दृश्यमान वस्तु हमारे ज्ञान की 'विशेष्य' होती है । वह क्या है ? इसे ही प्रकार कहते हैं । जैसे: घट का प्रत्यक्ष होने पर घटत्व ज्ञान में घट **विशेष्य** होगा, एवं घट का 'धर्म' 'घटत्व' उस ज्ञान का **प्रकार** कहा जाएगा । इमी प्रकार तद्वत् अर्थात् घटत्ववत् का अर्थ हुआ घट **विशेष्यक** घटत्व **प्रकारक**, यही घट का परिभाषित अर्थ होगा । इस प्रकार दो खण्डो में विभाजित इस ज्ञान में **विशेष्य** केवल वस्तु के स्वरूप को प्रकट करता है, एवं **प्रकार** उस वस्तु को अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है ।

जब हम नीलघट का प्रत्यक्ष करते है, तो नील गुण **प्रकार** कहाता है, तथा नीलत्व '**विशेषण**' । इसी प्रकार 'अयं घटः (यह घट है) इस प्रत्यक्ष मे

---

1 Critique of Pure Reason. P. 593

२. न्याय बोधिनी पृ० २४ ३. वही पृ० २४

'घटत्व' 'विशेषण' एवं 'घट' प्रकार है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं, कि विशेषण वस्तु का धर्म है, एवं प्रकार ज्ञान का धर्म।

प्रमा और अप्रमा:—

विश्वनाथ ने 'तद्वत् विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारत्वं ज्ञानं प्रमा' यह प्रमा का लक्षण दिया है।[1] इसका तात्पर्य है 'घट ज्ञान' के विषय का घटत्व युक्त होना। सामान्य भाषा में हम कह सकते हैं कि 'यथार्थ ज्ञान' अर्थात् 'किसी पदार्थ को उसके विशिष्ट धर्म से युक्त समझना' ही प्रमा है। तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट' द्वारा दी गयी परिभाषा मे[2] 'तद्वति' शब्द पर टिप्पणी करते हुए वाक्यवृत्तिकार ने लिखा है कि यहां 'सप्तमी विभक्ति का तात्पर्य तत् अर्थात् 'घटत्व' से युक्त 'घट' अनुभव का विशेष्य होना है।[3] इस प्रकार वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान प्रमा सिद्ध होता है।

अप्रमा प्रमा से पूर्णतः विपरीत है, अर्थात् जो वस्तु जिन धर्मों से युक्त नहीं है, उसे उन धर्मो से युक्त समझना।[4] फलतः रजत को रजतत्व युक्त समझना प्रमा; तथा शुक्ति को जो कि रजत नहीं है, रजतत्व युक्त समझना अप्रमा है।

प्रमा और अप्रमा के लक्षणों में समूहालम्बन के प्रसङ्ग में एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। (समूहालम्बन अनेक विषयों के सहज्ञान को कहते हैं।) जैसे घट और पट विषय के सामूहिक ज्ञान में यद्यपि घट को घटत्वयुक्त तथा पट को पटत्वयुक्त समझा जा रहा है, फिर भी चूंकि ज्ञान का विषय घट एवं पट दोनों है, अतः घटप्रकारक ज्ञान पट अंश में एवं पटप्रकारक ज्ञान घट-अंश में भी माना जा रहा है; फलतः इसे प्रमा (यथार्थ-ज्ञान) नही कहना चाहिए, यद्यपि समूह की दृष्टि से यह ज्ञान प्रमा (यथार्थ अनुभव) प्रतीत होता है, क्योकि घट एव पट सयुक्त विशेष्य में घटत्व-पटत्व प्रकारक ज्ञान है। इसलिए लक्षण में 'तद्वति' शब्द से तात्यर्य यह है कि 'जिस अश में जो

---

१. न्याय मुक्तावली पृ० ४८१ २. तर्क संग्रह पृ० ६९

३. वाक्यवृत्ति बुद्धि खण्ड

४. (क) न्याय मुक्तावली पृ० ४७६ (ख) तर्क संग्रह पृ० ७१

धर्म है' तथा 'तत्प्रकारक' शब्द से उस अंश को उस धर्म से (केवल उसी धर्म से) युक्त समझना चाहिए।

उपर्युक्त लक्षण का स्पष्टीकरण करते हुए तर्क दीपिका में एक आशंका उपस्थित की गयी है कि 'तद्वति' पद का अर्थ यदि घटत्व आदि का अधिकरण लिया जाएगा तो यह लक्षण 'घटत्व' ज्ञान में अव्याप्त होगा, क्योंकि घटत्व घट मे रहने वाला धर्म है। घटत्व विशेष्यक ज्ञान में घटत्व या घट आदि कोई धर्म नहीं हो सकता क्योकि यह स्वयं ही धर्म है। अन्नंभट्ट ने इस आशका का समाधान 'तद्वति' का अर्थ 'तत्सम्बन्धवति, करके किया है;[1] अर्थात् घटत्व यद्यपि घटाधिकरण या अन्य धर्म का अधिकरण नहीं है, किन्तु जिस प्रकार 'घट' घटत्व से संबद्ध है, उसी प्रकार 'घटत्व' भी घट से सम्बद्ध है ही। फलत: अतिव्याप्ति दोष न होगा।

अप्रमा के उपर्युक्त लक्षण में भी दोष की (अतिव्याप्ति की) आशंका हो सकती है। जैसे एक वृक्ष पर बन्दर है, उसे देख कर हमें ज्ञान होता है कि 'वृक्ष बन्दर से संयुक्त है; चूंकि यह ज्ञान यथार्थ है, अत: इसे प्रमा कहा जाना चाहिए; किन्तु अप्रमा का लक्षण इसमें अतिव्याप्त हो रहा है, कारण कि वृक्ष से बन्दर का संयोग शाखा अंश में है, मूल अंश में नही, अत: मूलांश में वृक्ष बन्दर-संयोग से रहित है। इस प्रकार यहां अतिव्याप्ति प्रतीत होती है। वस्तुत: यहां अतिव्याप्ति न होकर अतिव्याप्ति का भ्रम है, क्योंकि संयोगाभाव एक अंश में है एवं अन्य अंश में संयोगाभाव का अभाव अर्थात् संयोग विद्यमान है, इसलिए एक अंश में संयोग रहने के कारण वृक्ष को संयोगाभाव युक्त नहीं कह सकते। इसी प्रकार कोई धर्म किसी में 'समवाय' सम्वन्ध में विद्यमान है, उसी धर्म को उसमें संयोग सम्बन्ध से अविद्यमान, अथवा संयोग सम्बन्ध से विद्यमान को समवाय सम्बन्ध से अविद्यमान नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'तत्' शब्द के द्वारा अभीष्ट अर्थ तक पहुंचने में अनेक असुविधाएं है। उपर्युक्त असुविधाओं के अतिरिक्त सबसे बड़ी असुविधा यह है कि घट या पट के प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना घटत्व और पटत्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं है, जबकि परिभाषा में घटत्व के ज्ञान के आधार पर घट का ज्ञान होना कहा गया है। इस प्रकार घटत्व का ज्ञान घट ज्ञान पर

---

१. तर्क दीपिका पृ० ७०

एवं घट का ज्ञान घटत्व ज्ञान पर आश्रित होने से अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है, जिसे पार कर सकना सरल नहीं है।

सांख्य दर्शन में 'यह घट है' इत्यादि अनुभव को प्रमाण न मान कर 'मैं घट को जानता हूं' अथवा 'मैं घटज्ञानवान् हूं' इत्यादि पुरुषगत ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा स्वीकार किया गया है।[१] न्याय शास्त्र में इस ज्ञान को प्रमा न कह कर अनुव्यवसाय कहा जाता है।

वेदान्त में 'कभी बाधित न होने वाले अपूर्व अन्तः करणावच्छिन्न चैतन्य को प्रमा कहा गया है।[२] न्याय के अनुसार प्रमा ज्ञान है, जो बुद्धि से अभिन्न है; अत एव आत्मा का गुण है, जबकि वेदान्त के अनुसार प्रमा या ज्ञान चेतन ब्रह्म का ही एक प्रकार है।[३]

न्याय शास्त्र में प्रमा (यथार्थ अनुभव) को प्रत्यक्ष, अनुमिति उपमिति और शाब्द भेद से चार प्रकार का माना गया है, जिनका विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा। 'अप्रमा' **संशय विपर्यय** (मिथ्या ज्ञान) और तर्क भेद से तीन प्रकार की है।

संशयः —

आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार प्रसिद्ध अनेक असाधारण धर्मों (विशेषो) वाले दो पदार्थों को देखकर सादृश्यमात्र का साक्षात्कार करते हुए दोनो पदार्थों की भेदक विशेषता को न स्मरण कर 'यह कौन पदार्थ है ? इस प्रकार का विमर्श संशय कहा जाता है।[४] अन्नंभट्ट ने इसे ही दूसरे शब्दों में 'एक धर्मी में विरोधी नाना धर्मों से युक्त होने के ज्ञान को संशय कहा है।[५] गौतम के अनुसार संशय के पांच कारण है।[६] **समान धर्मोपपत्तिः**—स्थाणु और पुरुष आदि किन्हीं दो पदार्थों मे आरोह (लम्बाई) परिणाह (चौड़ाई) आदि समान धर्मों को देखकर विशेष धर्म की अपेक्षा होने पर संशय होता है। **अनेक धर्मोपपत्ति**—एक धर्मी में समानजातीय और असमानजातीय अनेक धर्मो को देखकर विशेष धर्म की अपेक्षा होने पर संशय उत्पन्न होता है। **एक**

---

१. विद्वत्तोषिणी, सांख्य कारिका ५ २. वेदान्त परिभाषा पृ० १०
३. वही पृ० १५-१६ ४. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८५-८६,
५. तर्क संग्रह पृ० १५६ ६. न्याय दर्शन १.१.२३

धर्मी में विरोधी अनेक धर्मों को देखकर भी संशय उत्पन्न होता है। उपलब्धि व्यवस्था भी संशय का कारण है। उपलब्धि व्यवस्था का अर्थ है, उपलब्धि के सम्बन्ध मे व्यवस्था, अर्थात् सत् (विद्यमान) की उपलब्धि होती है, जैसे तडाग में जल, किन्तु मृग मरीचिका आदि में अविद्यमान जल भी उपलब्ध होता है; अतः निर्णायक प्रमाण के उपलब्ध न होने पर उपलब्धि व्यवस्था के सम्बन्ध में संशय होता है, कि सत् की उपलब्धि होती है, या असत् की ?' अनुपलब्धि अव्यवस्था भी संशय का हेतु है। गड़ी हुई कील का मूल सत् विद्यमान होते हुए भी अनुपलब्ध रहता है। इसी प्रकार असत् अर्थात् अनुत्पन्न या विनष्ट भी उपलब्ध नहीं होता; अतः निर्णायक प्रमाण के न होने पर अनुपलब्धि व्यवस्था के सम्बन्ध में संशय होता है कि 'असत् ही अनुपलब्ध है, अथवा सत् भी अनुपलब्ध रहता है। वात्स्यायन के अनुसार उपर्युक्त पाच कारणों से उत्पन्न संशय को ज्ञेयस्थ एवं ज्ञातृस्थ भेद से दो भागों में विभक्त कहा जा सकता है। इनमें से समान धर्म एवं अनेक धर्मो को देख कर उत्पन्न होने वाला सशय ज्ञेयस्थ तथा उपलब्धि और अनुपलब्धि की व्यवस्था या अव्यवस्था से उत्पन्न संशय 'ज्ञातृस्थ' होता है।[1]

आचार्य प्रशस्तपाद संशय को आन्तर और बाह्य भेद से दो प्रकार का मानते हैं। इनके अनुसार बाह्य संशय भी प्रत्यक्ष विषय और अप्रत्यक्ष विषय भेद से पुनः दो प्रकार का है। ग्रहगति आदि के सम्बन्ध मे ज्योतिर्विदों का संशय आन्तर, समान धर्म ऊर्ध्वता मात्र के दर्शन से 'यह स्थाणु है या पुरुष' इत्यादि प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्षविषयक बाह्य सशय तथा साधारण लिङ्ग के दर्शन से, विशेष के अनुस्मरण से अथवा वन मे केवल विषाण मात्र का दर्शन होने पर गौ के सदृश ही गवय होता है' इस आप्तवाक्य के स्मरण के साथ 'यह गौ है अथवा गवय' इत्यादि संशय अप्रत्यक्ष विषयक बाह्य सशय कहा जाता है।[2]

कणादरहस्यकार शंकर मिश्र के अनुसार संशय की उत्पत्ति केवल समान

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८६

२. न्याय दर्शन वात्स्यायन भाष्य १.१.२३

धर्म दर्शन तथा **विप्रतिपत्ति*** अर्थात् विविधकोटि ज्ञान से ही उत्पन्न होता है, अत: वह केवल दो प्रकार का है।[१] संशय यद्यपि इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों के सम्बन्ध मे होता है, फिर भी यह केवल मानस में ही है, चाक्षुष आदि नही; क्योकि सघन अन्धकार में बिजली के चमकने पर धर्मी का दर्शन यद्यपि अवश्य हो जाता है, फिर भी उसे चाक्षुष नही कह सकते, क्योकि केवल धर्मी के दर्शन मात्र से संशय नहीं होता, (प्रत्यक्ष भले ही हो सकता है) अपितु उस दर्शन के बाद मानस में अनेक धर्मो का (अथवा परस्पर विरोधी धर्मो का) स्मरण होता है, तब सशय की उत्पत्ति होती है; इस प्रकार यह स्मरण की प्रक्रिया मानस में ही होती है, अत: स्मरण को केवल मानस कहना ही उपयुक्त होगा ।[२]

विश्वनाथ के अनुसार एक पदार्थ में भावात्मक एवं अभावात्मक (अर्थात् विविध कोटिका) ज्ञान संशय है, तथा उसकी उत्पत्ति उभयसाधारणधर्म आदि के दर्शन से होती है।[3] वे गौतम तथा शकर मिश्र के इस मत से सहमत नहीं है कि विप्रतिपत्ति भी **संशय** का कारण है', वे कहते है कि 'शब्द नित्य है, अथवा नही' इत्यादि विप्रतिपत्ति तो केवल शब्दात्मिका है, जबकि सशय केवल मानस होता है; अत: विप्रतिपत्ति **संशय** का कारण नहीं हैं ।[४] इसके अतिरिक्त शब्द आदि प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान प्रमाणजन्य होने के कारण निश्चयात्मक होगा संशयात्मक नही ।

संशय चूंकि जिज्ञासा को उत्पन्न करता है, अत: इसे न्याय का अङ्ग अथवा मोक्ष के प्रति सहायक कहा जा सकता है। इसी दृष्टि से गौतम ने न्याय दर्शन मे प्रमाण आदि† सोलह तत्त्रों में इसकी भी गणना की है।[५]

---

* अनेक कोटि युक्त ज्ञान को विप्रतिपत्ति कहते है जैसे—शब्द नित्य है, अनित्य नहीं, वह अनित्य है, नित्य नही इत्यादि विरोधि कोटि-युक्त ज्ञान से सशय उत्पन्न होता है।

† प्रमाण, प्रमेय, संशय प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान गौतम के अनुसार ये सोलह तत्व हैं।

१. कणाद रहस्यम् पृ० ११५-१६ २. वही पृ० ११६

३. भाषा परिच्छेद १३० ४. न्याय मुक्तावली पृ० ४७८

५. न्याय दर्शन १.१.१

विपर्यय

विपर्यय निश्चयात्मक अयथार्थ ज्ञान है, अन्नंभट्ट ने इसे मिथ्या ज्ञान कहा है।[१] मिथ्या ज्ञान की व्याख्या करते हुए उन्होंने ही कहा है कि जिसमें जिसका अभाव है, उसे उससे युक्त समझना मिथ्या ज्ञान है।[२] अन्नंभट्ट का यह विपर्यय लक्षण योग दर्शन के विपर्यय लक्षण से शब्दत. साम्य रखता है।[3] विज्ञान भिक्षु ने विपर्यय की व्याख्या 'जो विषय तद्रूप अर्थात् स्वसमान आकार वाला नहीं है, उसे उससे युक्त समझना' की है, इनके अनुसार यह विपर्यय साख्य की अपेक्षा न्याय के विपर्यय से अधिक निकट है।[४]

विपर्यय के प्रसङ्ग में विभिन्न दार्शनिको के अनेक मत है। न्याय की भाषा में इसे भ्रान्ति भी कहा जाता है। भ्रान्ति विषय मूलक है, विषयी मूलक नहीं। भ्रान्ति में पदार्थ का मिथ्या ज्ञान होता है, किन्तु इससे पदार्थ की यथार्थता में कोई अन्तर नही आता। भ्रान्ति विषयगत न होकर ज्ञानगत है, अत: उसका कारण ज्ञानगत दोष में है; इसीलिए न्यायशास्त्र में इसे **अन्यथा-ख्याति** कहा गया है। इसकी उत्पत्ति इन्द्रियगत दोष के कारण, सामान्य लक्षणों (धर्मो) के बीच विशिष्ट लक्षणों (धर्मों) के ग्रहण न होने से अथवा विवेक में दोष आ जाने के कारण होती है। शुक्ति और रजत में विद्यमान कान्ति धर्म के समान सामान्य धर्म एक से अधिक पदार्थों में पाये जाते है, अत: एक पदार्थ को देखकर अन्य पदार्थ का स्मरण होता है, किन्तु यह स्मरण एक विशेष प्रकार का होता है, जिसमें वास्तविक पदार्थ की प्रतीति अन्य पदार्थ के रूप में होती है, इसलिए शुक्ति में रजत की यह प्रतीति स्मृति नहीं किन्तु भ्रान्ति कही जाती है। उसकी प्रक्रिया यह है कि जिसने रजत का प्रत्यक्ष अनुभव किया है, उसे कान्तिमान शुक्ति को देखकर स्मृति का उदय होता है, फलत· ज्ञान और रजत लक्षण का सन्निकर्ष होता है, और उससे उत्पन्न अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा रजत का अनुभव होता है। इस प्रक्रिया में रजत धर्म का मानसिक उदय होते ही, जहां जहां रजत का अनुभव प्रत्यक्ष द्वारा हुआ था, वहां वहां की रजत का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। चूंकि गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध है, दोनों का नित्य सम्बन्ध है, इसलिए रजत के गुणों का मानसिक उदय पहले देखे हुए रजत के प्रत्यक्ष का कारण

---

१. तर्क संग्रह पृ० १५७ २. तर्क दीपिका पृ० १५७

३. योग दर्शन १.८ ४. योगवार्त्तिक पृ० ३३

हो जाता है। इस अलौकिक प्रत्यक्ष से अनुभूत रजत के गुणों का आरोप समीपवर्ती शुक्ति मे कर दिया जाता है, जिससे मिथ्या ज्ञान या भ्रम उत्पन्न होता है। भ्रम में एक पदार्थ का स्वरूपत: बाध न होकर अन्यथा ज्ञान होता है; इसीलिए इसे **अन्यथाख्याति** कहते है ।[१] अन्यथाख्याति शब्द का शाब्दिक अर्थ अन्य वस्तुओं के गुणो का अन्य वस्तु में प्रतीत होना है। न्याय शास्त्र की भ्रान्ति की यह व्याख्या कुमारिल रामानुज तथा जैनियों ने भी स्वीकार की है।

बौद्धों की शाखा योगाचार में विज्ञान मात्र ही सत्य माना जाता है, विज्ञान से अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थ की सता इस मत मे स्वीकार्य नही है; फलत: जब कोई बाह्य विषय ही नही, तो भ्रान्ति का कारण विषयगत नही हो सकता, वह केवल ज्ञानगत है, अत: योगाचार के अनुसार इस भ्रान्ति का नाम **आत्मख्याति या ज्ञानकारक ख्याति** है। उनके मत मे इसे आत्मख्याति कहना इसलिए भी उचित है कि शुक्ति में होने वाली रजत प्रतीति बाह्य प्रतीति नही है, क्योकि रजत और इन्द्रिय का सन्निकर्ष नही है; जबकि रजत के बाह्यप्रत्यक्ष मे रजत और इन्द्रिय का सन्निकर्ष आवश्यक है। इसलिए इस रजत प्रतीति को ज्ञानाकार अर्थात् आत्मख्याति मानना ही अधिक उचित है।[२] इस सिद्धान्त के प्रसङ्ग में नैयायिकों का कथन है कि यदि विज्ञानमात्र ही सत्य है, तो फिर विभिन्न विज्ञानों में विवेक का आधार क्या है ? विज्ञान मात्र के आधार पर यथार्थ और अयथार्थ विज्ञान का विवेक नही हो सकता।

माध्यमिक बौद्ध अखिल विश्व की सत्ता का निषेध करते हैं,[३] उनके अनुसार भ्रम में असत् की सत् के समान प्रतीति होती है; अत: उनका सिद्धान्त **असत्ख्याति** कहलाता है। इस पक्ष के प्रसङ्ग मे नैयायिकों का कथन है कि यदि अखिल विश्व के समान असत रजत की प्रतीति होती है, तो प्रतीयमान विश्व की उपलब्धि के समान शुक्ति में रजत की भी उपलब्धि भी होती। अत: परमार्थत: एवं व्यवहारत: असत् रजत की प्रतीति सभव नही है।[४] अनादि वासना को प्रतीति का कारण मानना भी उचित न होगा, क्योंकि ज्ञान के

---

१. न्याय निर्णय पृ० २२
२. माध्यमिक कारिका
३. न्याय मञ्जरी पृ० १६४
४. वही पृ० १६४

असत् होने पर प्रवृत्ति न हो सकेगी। यह असत् प्रतीति असत् के रूप में प्रतीत नहीं होती किन्तु सत् रूप में होती है, अतः प्रवृत्ति तो होगी ही, यह मानना उचित न होगा, क्योंकि ऐसी स्थिति मे, अर्थात् यदि असत् सत् के रूप मे अवभासित होता है तो इसे **असत् ख्याति** न न कह कर **अन्यथा ख्याति** कहना ही अधिक उचित होगा।

वेदान्त में इसी भ्रान्ति को **अनिर्वचनीय ख्याति** कहा गया है। इन्द्रिय दोष के कारण तथा अविद्या और पूर्व सस्कार के कारण एक अनिर्वचनीय रजत की प्रतीति होती है। यह प्रतीति सत् तो है ही नहीं इसे असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि असत् का अनुभव नही होता। इसे सदसत् भी नही कह सकते क्योंकि सदसत् प्रतीति परस्पर स्वतः विरुद्ध है, अतः इस प्रतीति को अनिर्वचनीय कहना ही उन्हे उचित लगता है।[1] किन्तु इस भ्रान्त ज्ञान का भ्रान्ति की निवृत्ति होने पर शुक्ति के रूप से तथा भ्रान्ति की स्थिति मे रजत के रूप में निर्वचन तो होता ही है, अतः नैयायिक इसे **अनिर्वचनीयख्याति** मानने को प्रस्तुत नही हैं।[2]

प्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकर और उनके अनुयायी उपर्युक्त सभी पक्षों से भिन्न स्वतन्त्र मत रखते हैं, उनके अनुसार विपर्यय ज्ञान-'**अख्याति**' अर्थात् **विवेकाख्याति** है। इनके मतमें प्रत्यक्ष अनुभव और स्मृति के बीच विवेक का अभाव रहता है। अर्थात् शुक्ति में विशेष लक्षणों का ज्ञान न होने से उसमें रजतत्व की अथवा रजत से अभेद की प्रतीति नही होती, अपितु दोषवश रजत का स्मरण होता है, अतः भ्रम की कल्पना गौरव दोष पूर्ण है, उसे तो स्मृति ही कहना चाहिए।[3] इसके स्पष्टीकरण के लिए एक उदाहरण देखना अनुचित न होगा: शुक्ति के प्रति यह रजत है (शुक्ताविदं रजतम्)' इस भ्रमात्मक ज्ञान को नैयायिक एक ज्ञान मानता है; परन्तु प्रभाकर के अनुसार इसमें दो ज्ञान हैं, 'इदम्' यह **प्रत्यक्षात्मक** ज्ञान है, और 'रजतम्' यह **स्मरणात्मक** ज्ञान है; चूंकि ये दोनों ही ज्ञान यथार्थ हैं, अतः प्रभाकर इन्हें भ्रम मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। पुरोवर्त्ती (शुक्ति) पदार्थ का ज्ञान **प्रत्यक्षात्मक** है और रजत का **स्मरणात्मक** है। इस प्रकार शुक्ति तथा रजत इन दोनों पदार्थो के प्रत्यक्षात्मक एवं स्मरणात्मक दोनों ज्ञानों का परस्पर भेद सिद्ध हो जाने पर रजतार्थी मनुष्य

---

१. भामती पृ० २१. २. कणादरहस्यम् पृ० ११८

३. वही पृ० ११८

की रजत के आनयन में प्रवृत्ति नहीं होती; क्योंकि भेद ज्ञान प्रवृत्ति का प्रतिबन्धक हो जाता है, और जिस समय उन दोनों पदार्थों के परस्पर अभेद प्रयुक्त दोनों ज्ञानों का भेद प्रतीत नहीं होता, उस समय रजतार्थी पुरुष की शुक्ति में रजत आनयन के लिए प्रवृत्ति होती है। अतः प्रभाकर के अनुसार भ्रमस्थल में अन्यथाख्याति न होकर **अख्याति** अर्थात् **विवेकाख्याति** रहती है।

नैयायिक इस विवेकाख्याति को मानने को प्रस्तुतः नहीं है, क्योंकि इस मत में कार्य कारण भाव दो मानने होंगे, अतः गौरव होगा। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार अख्याति स्थल में प्रवृत्ति में भेद ग्रहण का अभाव कारण है, उसी प्रकार सत्य रजत स्थल में रजत का अभेदग्रह निवृत्ति में प्रतिबन्धक है, अर्थात् सत्य रजत को जबकि हम रजत ही समझे हुए है, उसमें रजत के भेद का निश्चय नहीं है, तब **अभेदग्रह** के कारण रजतार्थी की उससे निवृत्ति नही होगी; अतः अभेदग्रह रजतनिवृत्ति में प्रतिबन्धक है तथा प्रतिबन्धक के अभाव के रूप में अभेद के अग्रहण का अभाव निवृत्ति में कारण है, यह मानना होगा। इस प्रकार शुक्ति से रजत के भेद का अग्रहण प्रवृत्ति में कारण एवं रजत के अभेद का अग्रहण निवृत्ति में कारण है, यह निष्कर्ष हुआ; जिसके फलस्वरूप शुक्ति में 'यह रजत' है, यह ज्ञान होने पर एक समय में ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त नैयायिक प्रभाकर के अनुसार भ्रम को स्मृति मानने को इसलिए भी प्रस्तुत नहीं, क्योंकि भ्रम निवारण होने पर हम यही कहते हैं, कि 'जो हमने देखा है वह रजत नहीं है, न कि जिसका हमने स्मरण किया है, वह रजत नहीं है', अत एव नैयायिक भ्रान्ति को विवेकाख्याति न मानकर उसे अनुभव ही मानते है।

ख्याति के सम्बन्ध में उपर्युक्त मान्यताओं के अतिरिक्त विशिष्टाद्वैतवादियों का **अख्यातिसंवलित ख्यातिवाद**, जो प्रभाकर के विवेकाख्याति से अधिक निकट है, भाट्ट मीमांसकों का **विपरीताख्यातिवाद**, जो नैयायिकों के **अन्यथाख्याति** वाद से पर्याप्त साम्य रखता है, तथा रामानुज का **सत्ख्याति** वाद, जिसमें सत् का अधिक सूक्ष्म ज्ञान अर्थात् साम्य दर्शन भ्रम का कारण माना जाता है, भी प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि विपर्यय के पांचों

सिद्धान्तों[1] की अपेक्षा न्यायशास्त्र का **अन्यथाख्यातिवाद** भ्रम की अधिक तर्क संगत व्याख्या है । किसी न किसी रूप में यह अन्य सिद्धान्तों को भी प्रभावित करता ही है ।

भ्रान्ति वस्तुत: प्रत्यक्ष ज्ञान है, केवल प्रतीयमान वस्तु में एक असंगत सम्बन्ध की कल्पना से वहां भ्रम हो जाता है। **ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति** द्वारा पूर्वानुभूत रजत का वर्त्तमान में अलौकिक प्रत्यक्ष होता है । अन्यथाख्याति के आलोचको का कथन है कि भ्रम मे **अलौकिक प्रत्यक्ष** मानना संगत नहीं है, क्योकि यदि अलौकिक प्रत्यक्ष को मान लिया जाए, तो प्रत्येक समय प्रत्येक पदार्थ का प्रत्यक्ष होना चाहिए। इस प्रकार अलौकिक प्रत्यक्ष के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को सर्वज्ञ होना चाहिए, जो अनुभव के विरुद्ध है ।

वस्तुतः भ्रान्ति के प्रसंग में विद्यमान अलौकिक प्रत्यक्ष सर्वस्वीकृत अलौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न है। अलौकिक प्रत्यक्ष में प्रमेय वस्तु और इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं हुआ करता, जबकि भ्रान्ति के अवसर पर रजत आदि के कान्ति आदि अनेक धर्मों से युक्त शुक्ति आदि का चक्षु आदि इन्द्रियों से सन्निकर्ष होता है अतः इसे पूर्णतः अलौकिक प्रत्यक्ष नही कह सकते । जिस समय भ्रान्तिजनक प्रत्यक्ष को अलौकिक प्रत्यक्ष कहा जाता है, तो उसका तात्पर्य केवल इतना है कि वह सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न है, जिसमें प्रमेय वस्तु का इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा तद्‌गत समस्त धर्मों के सहित ज्ञान होता है ।

न्याय शास्त्र में विपर्यय दो प्रकार का माना गया है: स्मर्यमाणआरोप और अनुभूयमानआरोप । स्मर्यमाणआरोप में आरोप्य की उपस्थापना सारूप्यग्रह द्वारा होती है। अनुभूयमान आरोप में भी यद्यपि सारूप्यग्रह का संसर्ग रहता है, किन्तु प्रधानतया वहां इन्द्रियगत दोषरूपी **उपाधि** का आरोप हुआ करता है, जैसे पीलिया रोग में नेत्र में विद्यमान पीतिमा के कारण शुभ्र शंख भी पीला प्रतीत होता है, इसीप्रकार रसना पर पित्तका प्रभाव होने के कारण मधुर शर्करा में भी तिक्तता की प्रतीति होती है; यह प्रतीति इन्द्रियगत दोष का वस्तु पर आरोप होने से विपरीत प्रतीति होती है ।[2] प्रस्तुत शुक्ति में रजत प्रतीति भी अनुभूयमान आरोप है, जहां इन्द्रियगत रजत संस्कार का शुक्ति पर आरोप होता है ।

---

१. सर्वदर्शन संग्रह संग्रह श्लोक ।

२. कणादरहस्यम् पृ० १२०

तर्क

अविज्ञात तत्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा होने के कारण अर्थात् हेतु की उपपत्ति से तत्व ज्ञान के लिए किया गया वितर्क तर्क कहा जाता है।[१] इस वितर्क में चूंकि निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता, अतः इसे तत्वज्ञान अथवा प्रमा नहीं कहते।[२] निश्चयात्मक ज्ञान का अभाव यद्यपि संशय मे भी रहता है किन्तु फिर भी दोनों में अन्तर है। संशय में निश्चय नही रहता, साथ ही निश्चय के लिए प्रयत्न भी नही होता, जबकि तर्क में निश्चय न रहने पर भी निश्चयोन्मुख प्रयत्न रहता है, और उसके फलस्वरूप तर्क के उत्तर क्षण में ही निश्चयात्मक ज्ञान की कोटि तक प्रमाता पहुंच जाता है अथवा यों कह सकते है कि तर्क का प्रयोजन ही तत्व ज्ञान है। इसीलिए गौतम ने तर्क की परिभाषा में 'ऊह' तथा ज्ञानार्थ' शब्द का समावेश किया है। उत्तर कालीन न्यायाचार्य विश्वनाथ आदि ने तर्क की अनुमानगत व्याप्ति के सहायक के रूप में ही चर्चा की है।[३] सम्भवतः इसीलिए अन्नभट्ट ने तर्क की परिभाषा भी 'व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है' कहते हुए की है,[४] जो तर्क के अनुमान का साधक रहने पर ही समुचित कही जा सकती है। अप्रमा के अन्य भेदो (संशय विपर्यय) से तर्क को पृथक् करने वाले तत्वों में सर्व प्रमुख इसमें विद्यमान अनध्यवसाय है, जैसाकि ऊपर की पक्तियों मे स्पष्ट किया जा चुका है, इसीलिए आचार्य प्रशस्तपाद,[५] एव कणादरहस्यकार शकर मिश्र ने[६] इसका उल्लेख अनध्यवसाय नाम से ही किया है।

आचार्य प्रशस्तपाद ने तर्क (अनध्यवसाय) के दो भेद किये हैं, प्रत्यक्ष विषयक और अनुमान विषयक[७]। जैसे वाहीक देशवासी को कटहल देखकर उसकी सत्ता द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, वृक्षत्व, रूपवत्व आदि को देखते हुए अध्यवसाय होता है, साथ ही आम्रत्व आदि से भिन्न पनसत्व धर्म, जो कि कटहल का नित्य धर्म है, के सम्बन्ध में जानकारी न होने के कारण अनध्यवसाय रूप (तर्क रूप) ज्ञान होता है यह तर्क प्रत्यक्ष के विषयभूत कटहल (पनस) आदि के सम्बन्ध में होने के कारण प्रत्यक्ष विषयक तर्क है। इसी प्रकार

---

१. न्याय दर्शन १.१.४०　　२. वात्स्यायन भाष्य पृ० ३५
३. भाषा परिच्छेद १३७　　४. तर्क संग्रह पृ० १५८
५. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८४,९०　　६. कणाद रहस्यम् पृ० ११५,१२१
७. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ९०-९१

जिसने कभी गौ को नही देखा, उसे सास्ना आदि से विशिष्ट प्राणी को देख कर यह कौन पशु है ? इत्यादि अनध्यवसायात्मक ज्ञान होता है, चूंकि यह ज्ञान अनुमान विषयक है, अतः इस अनध्यवसायात्मक ज्ञान को **अनुमान विषयक** तर्क कह सकते हैं।

न्याय दर्शन के टीकाकार विश्वनाथ ने **आत्माश्रय**, **अन्योन्याश्रय**, **चक्रक**, **अनवस्था**, **तदन्यबाधितार्थप्रसङ्ग** भेद से तर्क के पांच भेद किये हैं। इनमें भी प्रथम तीन **उत्पत्ति**, **स्थिति** और **ज्ञप्ति** भेद से तीन-तीन प्रकार के हो जाते हैं।[१] तर्क के सामान्यतः दो कार्य है : स्वपक्ष का समर्थन एवं परपक्ष मे दोष का उद्भावन। चूंकि तर्क का विभाजन करते हुए परपक्ष के खण्डन में उठाये गये दोषों को ही आधार माना गया है, अतः तर्क के इन उपर्युक्त भेदों के लक्षण एक प्रकार से दोषों के ही लक्षण हैं। जब परिभाषा में लक्षण करने के लिए भी स्वलक्षण की अपेक्षा हो तो उस परिभाषा को निर्दुष्ट परिभाषा नही कह सकते तथा उसमें विद्यमान दोष को **आत्माश्रय** दोष कहते है।[२] जैसे यदि यह घट इस घट के ज्ञान से अभिन्न होता तो यह ज्ञान सामग्री से उत्पन्न होता। चूंकि घट का ज्ञान घट बिना सभव नही अतः घट ज्ञान के प्रति घट को कारण माना जाता है, इस प्रकार ज्ञान सामग्री है, घट स्वयं है। यदि घट और ज्ञान को अभिन्न माना जायेगा तो चूंकि घट ज्ञान घट से उत्पन्न है, अतः घट को भी उसी घट से उत्पन्न मानना होगा। इस प्रकार घट को घटाश्रित या ज्ञान को ज्ञानाश्रित होना पड़ता है, फलतः यह दोष आत्माश्रय कहा जायेगा, तथा उस दोष पर आश्रित तर्क भी **आत्माश्रय** कहा जाएगा।

जब दो तर्क अथवा दो परिभाषाएं परस्पर एक दूसरे पर आश्रित होते हैं, तो वहां **अन्योन्याश्रय** दोष होता है, तथा उस दोष पर आश्रित **तर्क** को **अन्योन्याश्रय तर्क** कहा जाएगा।

जब एक तर्क अथवा परिभाषा किसी अन्य तर्क अथवा परिभाषा पर आश्रित हो, तथा वह उत्तर तर्क या परिभाषा किसी अन्य तर्क या परिभाषा पर तथा यह तृतीय तर्क आदि पूर्व तर्क आदि पर आश्रित हो तो वहां **चक्रक** दोष माना जाता है।

अव्यवस्थित परम्परा के आरोप से युक्त दोष को **अनवस्था** कहते है।

---

१. न्याय दर्शन विश्वनाथ वृत्ति १. १.४० २. वही पृ० २१

उस पर आश्रित तर्क भी अनवस्था कहाता है। जाति बाधक दोषों में भी **अनवस्था** एक दोष है, इसकी चर्चा प्रथम विमर्श मे की जा चुकी है।[1]

प्रमाण बाधितार्थ प्रसंग—वह दोष है जहां तर्क द्वारा सिद्ध अर्थ का प्रमाण विशेष द्वारा बाधन होता है। अनेक बार अनुमान की यथार्थता की परीक्षा के लिए जानकर विपरीत प्रतिज्ञा की जाती है, जो कि यथार्थ निर्णय के विपरीत सिद्ध होती है, फलतः यथार्थ और अयथार्थ दोनों अनुमानों की परीक्षा हो जाती है, इस परीक्षा के लिए आश्रित तर्क को **प्रमाण बाधितार्थ प्रसङ्ग** कहते है, जैसे—"पर्वत अग्नि वाला है, क्योंकि वह धूम वाला है, जो-जो धूमवाला होता है, वह रसोई घर के समान अग्नि वाला होता है तथा जो अग्नि वाला नही होता, वह धूम युक्त भी नही होताः जैसे जलाशय। चूंकि पर्वत धूमवाला है, अतः वह अग्नि वाला है' इस अनुमान में 'पर्वत अग्नि वाला है' इस निगमन को को यदि प्रति पक्षी मानने को प्रस्तुत नही होता तो प्रति पक्षी के कथन को अयथार्थ सिद्ध करने के लिए **प्रतिज्ञा** को निगमन के विपरीत लेकर चलते हैं, अर्थात् विरोधी के कथन के अनुकूल तर्क प्रारम्भ करते हैं, जैसे उपर्युक्त अनुमान के निगमन वाक्य 'इसलिए पर्वत अग्नि वाला है' के विपरीत पर्वत पर अग्नि नही है, इस प्रतिज्ञा से तर्क प्रारम्भ करते हैं। सामान्य नियम के अनुसार (व्याप्ति के अनुसार) जहां-जहां अग्नि नही है, वहां-वहा धूम भी नही होगा; इसलिए हम कह सकते है कि 'पर्वत पर धूम नहीं है । इस प्रकार विपरीत, अनुमान द्वारा 'पर्वत पर धूम का अभाव है' यह ज्ञान अनुमान से प्राप्त होता है; किन्तु हम पर्वत पर धूम का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा करते हैं; अतः प्रत्यक्ष द्वारा बाधित होने से इस विपरीत अनुमान का हेतु **बाधित हेत्वाभासः सिद्ध** होगा, हेतु नही; फलतः पर्वत पर धूम नहीं है, यह ज्ञान यथार्थ सिद्ध नही सकेगा। इस क्रम में जिसके द्वारा हम को इस निगमन का ज्ञान प्राप्त होता है, वह भी निश्चित रूप से अयुक्त सिद्ध हुआ, अर्थात् यह कहना कि 'पर्वत पर अग्नि नही है', अनुचित सिद्ध हुआ और इसके द्वारा ही इसके विपरीत पूर्व अनुमान 'पर्वत पर अग्नि है' की सत्यता भी सिद्ध हो जाती है। इस प्रक्रिया में आश्रित तर्क को **बाधितार्थ प्रसंग** तर्क कहते है।

---

१. इसी ग्रन्थ में पृ० २६ द्रष्टव्य है।

इसे ही पाश्चात्य तर्क शास्त्र में Indirect Reduction या Proof by reduction and absurdum कहा जाता है। यूनान के प्रसिद्ध गणितज्ञ **यूक्लिड ने** इसका प्रयोग रेखागणित में कई साध्यों के सिद्ध करने के लिए किया है।

स्वप्न

प्राचीन आचार्यो ने अविद्या (अप्रमा) के भेदो में सशय विपर्यय और तर्क के अतिरिक्त स्वप्न का भी परिगणन किया था।[1] आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार इन्द्रिय समूह जब मन में विलीन हो जाता है, उस समय इन्द्रिय द्वारा मैं देखता हूं, मै सुनता हूं इत्यादि प्रतीति के साथ जो मानस अनुभव होता है, उसे **स्वप्न ज्ञान** कहते है।[2] अर्थात् जब प्राणिवर्ग बुद्धि पूर्वक आत्मा के प्रेरित शरीर की क्रियाओं से थक कर रात्रि में विश्राम के लिए अथवा आहार के पाचन के लिए शयन करता है, उस समय अदृष्ट विशेष से उत्पन्न आत्मा और अन्त: करण का सम्बन्ध होने पर इन्द्रियो से सर्वथा पृथग्भूत अन्त-र्हृदयस्थ आत्म प्रदेश में मन निश्चल होकर स्थित होता है, इस स्थिति में समस्त इन्द्रिया मन में विलीन रहती है किन्तु प्राण और अपान की क्रिया प्रबन्ध पूर्वक विद्यमान रहती है; इस स्थिति में स्वापनामक संस्कार विशेष से अथवा इन्द्रियों द्वारा ही विषयों के बिना ही जो प्रत्यक्षाकार ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे स्वप्न कहते है।

यह स्वप्न ज्ञान तीन कारणो से उत्पन्न होता है : संस्कार पाटव से, धातु दोष से, तथा अदृष्ट विशेष से। जैसे कामी या क्रोधी आदि व्यक्ति जब किसी विशेष विषय का चिन्तन करता हुआ सोता है, तो उसकी वह चिन्ता ही प्रत्यक्ष रूप से स्वप्न में प्रगट होती है। शरीर को धारण करने वाले वात पित्त कफ आदि तत्वो को धातु कहते है। इनमें से वात प्रकृति वाला व्यक्ति, अथवा वात के कुपित होने पर कोई भी व्यक्ति आकाशगमन आदि देखता है। इसी प्रकार पित्तप्रकृति अथवा जिसका पित्त कुपित है वह व्यक्ति, अग्नि प्रवेश स्वर्ण पर्वत आदि देखता है। इसी प्रकार कफप्रकृति व्यक्ति, या जिसका कफ कुपित है वह व्यक्ति नदी समुद्र आदि का सन्तरण, हिम पर्वत

---

१. (क) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८५ (ख) कणाद रहस्य पृ० ११५
२. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ९१

आदि देखता है। कभी-कभी स्वयं अनुभूत अथवा अननुभूत, प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध शुभसूचक गजारोहण, छत्रलाभ आदि का भी दर्शन करता है यह दर्शन संस्कार और धर्म के कारण होता है। इसके विपरीत तेल मालिश गदहा अथवा ऊंट की सवारी आदि अशुभ सूचक स्वप्न संस्कार और अधर्म के कारण दिखाई पडते है। अत्यन्त अप्रसिद्ध विषय का स्वप्न केवल अदृष्ट के कारण ही होता है।

कभी कभी स्वप्न में ही पूर्व दृष्ट स्वप्न का अनुदर्शन भी होता है इसे अनुभव न कह कर स्मृति ही कहा जाएगा। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार स्वप्न चूंकि अविद्या है, अतः वह तत्व ज्ञान का प्रतिपक्षी कहा जा सकता है, किन्तु योग दर्शन में चित्त की स्थिरता के लिए स्वप्न ज्ञान के आश्रय को भी साधन माना गया है,[1] अतः इसे योग मत में तत्वज्ञान का अंग भी कहा जा सकता है।

यथार्थ अनुभवः

प्रमा अथवा यथार्थ अनुभव चार प्रकार का है : **प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति** और **शाब्द**। इन अनुभवों के अन्यतम कारण (करण) भी चार है : **प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान** और **शब्द**। चूंकि किसी प्रमेय के सम्बन्ध में ज्ञान अर्थात् प्रमा प्रमाण के बिना सम्भव नही है, अतः प्रमा और प्रमाण नित्य सम्बद्ध कहे जा सकते हैं, इसीकारण प्रमा का विभाजन भी प्रमाणों के आधार पर ही किया गया है; यही कारण है कि प्रमाण और प्रमा दोनो के ही चार चार भेद किये गये हैं। भारतीय विचारको में प्रमाण की संख्या के सम्बन्ध में अत्यधिक मत भेद हैं; चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है, जबकि साहित्य शास्त्र में यह सख्या सर्वाधिक अर्थात् अठारह है। किन्तु नैयायिक केवल चार प्रमाण ही मानता है। न्याय शास्त्र मे प्रमाणों की सख्या चार ही क्यों स्वीकार की गयी है इस पर विचार आगे किया जाएगा।

न्याय शास्त्र में 'प्रमीयते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमा के प्रति असाधारण कारण को **प्रमाण** माना गया है।[2] सर्वदर्शनसंग्रहकारके अनुसार 'साध-

---

१. (क) योग दर्शन २. ३८. (ख) योग भाष्य पृ० १०५

२. (क) न्याय भाष्य पृ० ११ (ख) न्याय सूत्रवृत्ति पृ० ६

नाश्रय से भिन्न न होते हुए भी जो प्रमा व्याप्त है, उसे **प्रमाण** कहते है ।[1] माधवाचार्य की इस परिभाषा के अनुसार प्रमा की पूर्व स्थिति ही **प्रमाण** है, न कि प्रमा का कारण, जैसाकि नैयायिक मानते है । चूंकि **प्रमाण** का कार्य केवल **प्रमा** अर्थात् यथार्थ अनुभव को उत्पन्न करना ही नहीं, अपितु कभी कभी यथार्थ की परीक्षा करना भी होता है अतः न्याय शास्त्र की परम्परागत परिभाषा की अपेक्षा माधवाचार्य कृत परिभाषा को अधिक उपयुक्त कहा जा सकता है ।

चूंकि नैयायिक प्रमा के प्रति असाधारण कारण को **प्रमाण** मानते हैं, अतः इनके मत में प्रमाण न तो आत्मा है, और न मन और नहीं ही ज्ञाने-, न्द्रिया; क्योंकि ये कोई भी ज्ञान के प्रति असाधारण कारण नही है । मीमांसकों के अनुसार 'अज्ञात विषय का ज्ञाता ही प्रमाण है' किन्तु मीमासकों का यह प्रमाण लक्षण किसी वस्तु के क्रमिक ज्ञान के बोधक प्रमाण में अव्याप्त होता है, अतः इसे ग्राह्य नही मान सकते ।

नैयायिकों के चतुर्विध अनुभव मे पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत Intution (बिना सोचे विचारे ही प्राप्त ज्ञान) तथा Belief (विश्वास) समाविष्ट नही हो पाते; क्योंकि Intution की उत्पत्ति के लिए इन्द्रिय आदि किसी करण (असाधारण कारण) की आवश्यकता नहीं होती, अतः वह अनुभव प्रत्यक्ष आदि किसी भेद में समाहित नही हो पाता ।

प्रमाण की परिभाषा के प्रसंग में प्रमा के प्रति असाधारण कारण को प्रमाण कहा गया है । चूंकि कारण और असाधारण कारण के परिचय के बिना प्रमाणों को परिभाषा समझने में सुविधा न होगी अत. प्रमाणो के विवेचन से पूर्व कारण और असाधारणकारण (करण) आदि का विवेवन कर लना अधिक प्रासंगिक होगा ।

---

१. सर्वदर्शन संग्रह पृ० ६०

करण

व्यापार युक्त असाधारण कारण को करण कहते है।[१] नैयायिको में प्रयुक्त यह करण शब्द वैयाकरणों के करण शब्द के समान ही है, व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'किसी क्रिया के प्रति साधक को अथवा वाक्य व्यवहार के अनुसार क्रियान्वयी शब्द को कारक कहते है,[२] जो नैयायिकों के कारण शब्द के समानान्तर है। जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र में 'मुख्यतम साधक को करण कहा गया है,[३] उसी प्रकार इस शास्त्र में असाधारण कारण को करण कहा गया है। करण की अन्नभट्ट कृत उपर्युक्त परिभाषा मे असाधारण पद का प्रयोग दिशा और काल में अतिव्याप्ति निवारण के लिए है, किन्तु इससे उद्देश्य की पूर्ण सिद्धि नही हो पाती; क्योकि निमित्तकारण काल और दिशा में अतिव्याप्ति का निवारण होने पर भी समवायिकारण और असमवायिकारणों में अतिव्याप्ति का निवारण नही हो पाता। नीलकण्ठ ने 'असाधारण' पद के स्थान पर 'जिस कारण के विलम्ब से अन्य कारणों के रहने पर भी कार्य न हो, यह विशेषण वाक्य जोड़ने की सम्मति दी है। किन्तु यह विशेषण 'असाधारण' पद की अपेक्षा उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी भी एक कारण के अभाव में अन्य कारणो के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

पूर्व परिभाषा के अनुसार दण्ड को असाधारण निमित्तकारण माना जाता है, किन्तु गृहकोण में विद्यमान, कार्य में अप्रवृत्त दण्ड को क्या असाधारण कारण मानना उचित होगा ? नही, इसलिए न्यायबोधिनीकार ने करण की इस परिभाषा में विद्यमान असाधारण पद का अर्थ 'व्यापारवत्त्व' करना आवश्यक माना है।[४] कार्यविरत दण्ड घटोत्पादन की शक्ति रहने पर भी व्यापार न होने पर घट का उत्पादन नहीं कर सकता। यहां व्यापार का

---

१. तर्क सग्रह पृ० ७४। २. (क) पातञ्जल महाभाष्य १.४.३.२३
(ख) विभक्त्यर्थ निर्णय पृ० ८ (ग) व्याकरण सुधानिधि १.४.२२
३. अष्टाध्यायी–१.४.४२ ४. न्यायबोधिनी पृ० २५

अर्थ है 'जो जिससे उत्पन्न हो उसके कार्य का कारण भी हो।'[1] सिद्धान्त चन्द्रोयकार श्रीकृष्ण धूर्जटि **व्यापार** की इस परिभाषा में 'द्रव्य से भिन्न होना' विशेषण का जोड़ना भी आवश्यक मानते हैं, अन्यथा मध्यमावयवी 'कपाल' मे अतिव्याप्ति होगी।

नव्य नैयायिकों तथा मीमासकों ने **करण** की इस परिभाषा के स्थान पर 'फलयोग से व्यवच्छिन्न कारण **करण** है'[2] यह परिभाषा की है। इसके अनुसार कार्य की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व विद्यमान कारण को **करण** कहा जाता है। इस प्रकार प्राचीन मत में जिसे **व्यापार** कहा गया था उसे ही नवीन मत मे **करण** स्वीकार किया गया है; फलतः प्राचीनो का करण नवीन मत में साधारण कारण मात्र रह जाता है। संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्षानुभव के प्रति जहां प्राचीन नैयायिक **इन्द्रियों** को **करण** मानते हैं वही नव्य इन्द्रिय को साधारण कारण तथा **इन्द्रियार्थ सन्किर्ष** को **करण** स्वीकार करते है।

नव्यनैयायिकों के अनुसार प्राचीन मत मे दो दोष हैं :—१. प्राचीन मत मे अनुमान गत व्याप्तिज्ञान को करण तथा परामर्श को व्यापार माना जाता है, किन्तु **व्याप्तिज्ञान** ज्ञान होने के कारण गुण है, तथा गुण व्यापार युक्त या कर्मयुक्त नहीं हो सकता, २. यदि इस दोष से बचने के लिए मन को अनुमिति ज्ञान का करण मानें तो **मानसप्रत्यक्ष** एवं **अनुमिति** दोनों में **मन** के ही **करण** होने के कारण दोनों की भिन्नता पर व्याघात होगा।

कार्य :—

कार्य का अर्थ है **'प्रागभाव** का प्रतियोगी[3] (counter entity) अर्थात् जिसका आदि हो वही कार्य है'। किसी भी वस्तु के उत्पन्न होने से पूर्व उस वस्तु के अभाव को उस वस्तु का **प्रागभाव** कहते हैं, तथा जिस वस्तु का अभाव हो उसे **प्रतियोगी** कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु जिसका प्रागभाव हो : जिसका आदि हो, **कार्य** है। कार्य नित्य नहीं हो सकना। वस्तु की यह अनित्यता दोनों ओर हो सकती है, उसकी स्थितिकाल

---

१. भाषा रत्न पृ० ७१

२. भाषारत्न पृ० ७२

३. तर्क संग्रह पृ० ७७

से पूर्व (भूतकाल में) तथा उसके विनाश काल के अनन्तर अर्थात् भविष्यत्काल में। इस प्रकार **प्रागभाव** और **प्रध्वंसाभाव** दोनो अनित्य हैं, किन्तु प्रागभाव का केवल **अन्त** है, जब कि प्रध्वसाभाव का केवल **आदि**।[1] आदि होने से प्रध्वसाभाव कार्य हो सकता है, किन्तु प्रागभाव कार्य नही हो सकता ; और इसीलिए प्रागभाव अपने प्राग-भाव का प्रतियोगी नही हो सकता। इस प्रकार कार्य आदि होने से प्राग-भाव का प्रतियोगी एव अन्त होने से ध्वंसाभाव का प्रतियोगी सिद्ध होता है।

प्रतियोगिता एक सम्बन्ध है, जो किसी वस्तु और उसके अभाव के मध्य स्थित है। यद्यपि यहां एक प्रश्न हो सकता है कि 'अभाव एव भाव के बीच सम्बन्ध कैसे सम्भव है'? उसका समाधान यह है कि यह प्रतियोगिता-सम्बन्ध किन्ही बाह्य वस्तुओं के बीच भावात्मक सम्बन्ध नही है, यह दो पदार्थो के बीच विद्यमान कल्पनात्मक सम्बन्ध है।

यह प्रतियोगिता सम्बन्ध दो प्रकार का होता है : **विरुद्ध** और **वित्तिवेद्य**। **विरुद्ध सम्बन्ध** में दो पदाथो में एक का भावात्मक और दूसरे का अभावात्मक होना आवश्यक है, जैसे : घटाभाव मे प्रतियोगी **घट** है। प्रतियोगिता सम्बन्ध घट और उसके अभाव के मध्य रहता है, इनमे घट भावात्मक है एवं उसका अभाव अभावात्मक। **वित्तिवेद्य सम्बन्ध** में दोनों सम्बद्ध्य पदार्थों का भावात्मक होना आवश्यक है, जैसे : 'मुख चन्द्रसदृश है' इस प्रतीति मे मुख और चन्द्र के मध्य विद्यमान सादृश्य सम्बन्ध वित्तिवेद्य सम्बन्ध है। यह सादृश्य मुख और चन्द्र मे विद्यमान गुणों का है, जिनकी कि भावात्मक सत्ता है। इसप्रकार जिस वस्तु का अभाव होता है, या जिस वस्तु से किसी वस्तु को सदृश कहा जाता है, उसे **प्रतियोगी** कहते है जैसे. घटाभाव में **घट** को एवं 'चन्द्र सदृश मुख है' में **मुख** को प्रतियोगी कहा जाता है। अभाव या सादृश्य के आश्रय को **अनुयोगी** कहते है। जैसे : 'भूतल मे घट का अभाव है' घटाभाव के आश्रयभूत **भूतल** को एव 'चन्द्रसदृश्य मुख है' मे चन्द्रसादृश्य के आश्रयभूत मुख को सादृश्य का **अनुयोगी** कहा जाएगा।

इस प्रकार घटप्रागभाव का प्रतियोगी होने से **घट** को, एव पट प्रागभाव का प्रतियोगी होने से **पट** को **कार्य** कहा जाएगा।

---

१. तर्क संग्रह पृ० १६६

कारण वाद

कार्य की उपर्युक्त परिभाषा ने चिन्तन की परम्परा मे एक विशेष सिद्धान्त को जन्म दिया है, जिसको कारणवाद कहते हैं। इसके आधार पर ही न्याय वैशेषिक दर्शन को अन्य दर्शनो से पृथक् किया जाता है। नैयायिको के वस्तुवाद की यही कुञ्जी है।

कारणवाद के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिको में मुख्यत चारमत हैं। बौद्धो की मान्यता है, कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है। शाकर वेदान्त में इसके विपरीत सद्ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानी जाती है जो स्वय न सत् है, न असत् और न सदसदात्मक; अपितु वह अज्ञानवश कल्पित विवर्त्तमात्र है। साख्य दर्शन के अनुसार सत् प्रकृति से विकृतिरूप सद् विश्व की अभिव्यक्ति मानी जाती है। न्याय दर्शन मे सत् अर्थात् पूर्वत: विद्यमान एव भावरूप नित्य परमाणुओ से असत् अर्थात् पूर्वत अविद्यमान घटादि ब्रह्माण्ड पर्यन्त सृष्टि स्वीकार की जाती है।[1]

बौद्धो का कथन है कि बीज आदि के नष्ट होने पर ही वृक्ष आदि उत्पन्न होते है। अत: बीज आदि वृक्ष आदि के कारण नही है, अपितु वृक्ष आदि का कारण बीज आदि का अभाव है। फलत: अभाव से कार्य की उत्पत्ति होती है यह उनका विचार है।

वेदान्त मत में एक सद्रूप ब्रह्म के अज्ञान से कल्पित यह जगत् सत् नही है, न असत् और न सद सत्, किन्तु मिथ्या है। इस मत मे उपादान और उपादेय अर्थात् कारण और कार्य का सम्बन्ध वास्तविक नहीं, किन्तु कल्पना-मात्र माना जाता है।

सांख्यवादी कारण और कार्य दोनो को सत् मानते है, साथ ही इनकी मान्यता है कि कार्य में कारण अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। कारण व्यापार से उसकी अभिव्यक्ति होती है।

न्यायमत में रूप रस आदि गुणो से युक्त नित्य परमाणु मे अविद्यमान द्व्यणुकादि कार्य की उत्पत्ति मानी जाती है, इस द्व्यणुक मे भी उत्पत्ति के क्षण में अविद्यमान रूप रस आदि कार्य गुणों की उत्पत्ति होती है। इसी

---

१. दर्शन संग्रह पृ० ११८

प्रकार क्रमशः असत् कारण से त्रसरेणु से लेकर महाभूत पर्यन्त सृष्टि उत्पन्न होती है। ये कार्य कारण से सर्वथा भिन्न होते है।

इनमे से **नैयायिक** और **सांख्यवादी** दोनो ही कार्य और कारण दोनो को को ही वास्तव मानते है किन्तु **सांख्य** उत्पत्ति से पूर्व भी कारण में कार्य की सत्ता स्वीकार करता है, जब कि न्याय मत मे कार्य की पूर्व सत्ता अमान्य है।

न्याय के इस कारणवाद को **असत्कार्यवाद** एव सांख्य की कारण सम्बन्धी विचारधारा को **सत्कार्यवाद** कहते है। इन नामों के द्वारा ही सांख्य और न्याय का परस्पर विरोध स्पष्ट हो जाता है। पूर्व पृष्ठो मे दी गयी कार्य की परिभाषा के द्वारा भी उत्पत्ति से पूर्व कार्य का पूर्णत. न होना ही सिद्ध होता है।

सांख्यशास्त्र मे कार्य की कारण मे पूर्वसत्ता सिद्ध करने के लिए निम्न-लिखित पांच युक्तियां दी जाती हैं, (१) असत् या अविद्यमान होने पर कार्य की उत्पत्ति हो ही नही सकती। (२) कार्य की उत्पत्ति के लिए उसके उपादान कारण का ग्रहण अवश्य करना पड़ता है, अर्थात् कार्य सभी कारणों से नियत रूप सम्बद्ध होता है। (३) सभी कार्य सभी कारणो से उत्पन्न नही होते। (४) जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ है, उससे उसी कार्य की उत्पति होती है और (५) कार्य कारण से अभिन्न या उसी के स्वरूप का होता।[१]

सांख्यकार का उपर्युक्त युक्तियो से अभिप्राय यह है 'यद्यपि बीज और मृत्तिका पिण्ड इत्यादि के नष्ट हो जाने पर ही उनसे क्रमशः अंकुर और घट इत्यादि की उत्पत्ति पायी जाती है, तथापि अंकुर इत्यादि की उत्पत्ति का कारण बीज इत्यादि का विनाश या अभाव नही, अपितु उनके भावरूप अवयव ही हैं। अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने पर अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से सर्वत्र सभी कार्यो के उत्पन्न होने का दोष उपस्थित होगा। निष्कर्ष यह है कि 'जो जिससे सम्बद्ध होता है, वह उसी का कार्य होता है और जिससे सम्बद्ध नहीं होता, उसका कदापि कार्य नही होता, फलतः जिस प्रकार तिलो के पेरे जाने पर उनमें पहले से ही अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान तेल, धान के कूटे जाने पर उनमें पूर्वतः विद्यमान चावल, एव

१. (क) सांख्यकारिका ९ (ख) तत्व कौमुदी पृ० ४२

गौओं के दुहने पर उनमें पूर्वत: विद्यमान दूध की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार प्रधान में पूर्वत: अव्यक्तरूप मे विद्यमान कार्य-विश्व की उत्पत्ति होती है ।

कारण व्यापार से पूर्व ही कार्य के विद्यमान होने का एक यह भी हेतु है : कारण और कार्य के बीच परस्पर सम्बन्ध है, अर्थात कार्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित कारण ही कार्य को उत्प न करता है, और यदि कार्य पूर्वत: असत् है, तो उसका कारण के साथ सम्बन्ध भी असम्भव है । अत. वह कार्य कारण व्यापार के पूर्व भी अवश्य ही सत् होगा । यदि यह माना जायगा कि कारण से असम्बद्ध कार्य की ही उत्पत्ति होती है, तो सभी कारणो से सभी कार्यो की उत्पत्ति सम्भव माननी होगी, जब कि हम नियत कार्य की नियत कारण से ही उत्पत्ति देखते हैं, अत: यह मानना ही होगा कि असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति असम्बद्ध कारण से नहीं होती । जो कारण जिस कार्य की उत्पत्ति में समर्थ है, उस समर्थ कारण से उसी शक्य कार्य की उत्पत्ति होने से कारण और कार्य को असम्बद्ध नही कहा जासकता; क्योंकि यदि यह माने कि प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, अपितु कोई-कोई कार्य ही उत्पन्न होता है, तो प्रश्न होता है कि वह कार्य कारण से सम्बद्ध है या असम्बद्ध ? असम्बद्ध मानने पर फिर वही अव्यवस्था हो जायेगी, एवं सम्बद्ध मानने पर सत्कार्य वाद ही सिद्ध होता है । कार्य इसलिए भी उत्पत्ति के पूर्व सत् सिद्ध होता है, क्योंकि वह कारण रूप ही होता है । कार्य कारण से भिन्न नही होता और कारण तो सत् है, तो उससे अभिन्न कार्य को भी सत् ही होना चाहिए असत् नहीं ।

उपर्युक्त सभी युक्तियाँ न्याय के असत्कार्यवाद का खण्डन करती हैं, साथ ही बौद्धों के असत्कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति का भी पूर्णत: खण्डन करती हैं । उपर्युक्त विरोध सांख्यवादियों से नैयायिको एवं वैनाशिक बौद्धों का समानरूप से है, इसी समानता के कारण (वैनाशिक बौद्धों से साम्य के कारण) नैयायिकों को अर्धवैनाशिक संज्ञा दी जाती है ।

साख्य शास्त्र की उपर्युक्त युक्तियों से रक्षा के लिए नैयायिकों का उत्तर यह है कि 'यदि कार्य को कारण से पृथक् न मानेंगे तो घट आदि का अस्तित्व ही सन्देह युक्त हो जायगा, क्योंकि घट का कारण मृत्तिका है, साथ ही मृत्तिका ही शराव का भी कारण है । यदि कारण और कार्य

अभिन्न माने जाएंगे तो एक ओर घट और मृत्तिका को अभिन्न होना चाहिए, एवं दूसरी ओर घट और शराव को अभिन्न होना चाहिए. और इस अभेद के कारण घट और शराव को भी गणित के समानान्तर सिद्धान्त के अनुसार अभिन्न होना चाहिए; किन्तु घट अपने कम्बुग्रीवादि आकार विशेष के कारण शराव से सर्वथा भिन्न है। फलत. कार्य भी कारण से सर्वथा भिन्न है, यह सिद्ध होता है।

नैयायिकों की दूसरी युक्ति है कि घट कार्य का आकार विशेष (कम्बु-ग्रीवादिमत्व) हमें कारण में नहीं दीखता, यह कहाँ से आया ? यह कम्बुग्रीवा-दिमत्व कारण में अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान था एव कार्य मे उसकी अभिव्यक्ति होती है' ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि अभिव्यक्ति के लिए यही प्रश्न पुन. उपस्थित होता है कि यह अभिव्यक्ति कारण मे विद्यमान थी ? अथवा कारण में अविद्यमान अभिव्यक्ति कार्य मे नवीन उत्पन्न हुई है ? यदि अभिव्यक्ति की नवीन उत्पत्ति माने तो असत्कारणवाद सिद्ध ही है, यदि पूर्व से कारण में विद्यमान अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति मानते हैं, तो इस अभिव्यक्ति में पुनः अनवस्था दोष उपस्थित होता है। निदान कार्य की कारण से अभिव्यक्ति नहीं किन्तु उत्पत्ति ही माननी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि यदि कार्य कारण से यथार्थतः अभिन्न है तो प्रश्न होता है कि कार्यगत विशेषताएं आकार विशेष आदि वास्तविक हैं, अथवा अवास्तविक ? यदि वास्तविक है, तो निश्चित ही उन्हे नवीन उत्पन्न होना चाहिए जैसाकि नैयायिक स्वीकार करते हैं, अथवा उन्हें अभिव्यक्त होना चाहिए जैसाकि सांख्यवादी स्वीकार करते है। यदि द्वितीय पक्ष अर्थात् अभिव्यक्ति मानी जाए तो वह अभिव्यक्ति भी कारण में नही थी, अतः उस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति माननी होगी, इस प्रकार अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति का अन्त न होने से अनवस्था दोष उपस्थित होगा। यदि कार्य गत विशेषताओं को अवास्तविक माना जाए तो उन्हे केवल प्रतीतिमात्र अर्थात् अध्यास या विपरीतख्यातिमात्र होना चाहिए जैसाकि वेदान्ती स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह विवाद अनिर्णीत ही रह जाता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि न्याय के असत्कार्यवाद का **आधार वस्तुवाद** अर्थात् यथार्थवाद (Realism) है, जबकि सत्कार्यवाद **मूल रूप से काल्पनिक मान्यताओं पर आधारित है। न्याय के परमाणु**

ईश्वर, जीव, सामान्य, विशेष और अभाव सभी का मूल आधार **असत्कार्यवाद** ही प्रतीत होता है। अतएव न्यायवैशेषिक के सिद्धान्तो को समझने के लिए इस कारणवाद को पूरी तरह समझना नितान्त आवश्यक है। न्याय-वैशेषिक में प्रत्येक वस्तु के तीन कारण स्वीकार किये जाते है : निमित्तकारण, असमवायि कारण और समवायि कारण।

न्यायवैशेषिक में स्वीकृत **निमित्त कारण** के सम्बन्ध में अन्य दार्शनिक मान्यताओं से कोई विरोध नही है। असमवायिकारण केवल नैयायिकों की अपनी ही मान्यता है, इसकी अन्यत्र कही चर्चा भी नही है, उपर्युक्त सम्पूर्ण विवाद समवायिकारण के सम्बन्ध में है।

सत्कार्यवाद के समर्थक मीमासकों द्वारा नैयायिको के असमवायि कारण पर मुख्यतः प्रहार किये गये हैं। दोनो ओर से दीजाने वाली अकाट्य युक्तियों के आधार पर यद्यपि यह निर्णय करना कठिन है कि भूल कहां है ? किन्तु इतना तो प्रत्येक पाठक अनुभव करता है कि दोनों पक्ष सत्य नही हो सकते। दोनों ही अपनी पूर्व निश्चित मान्यताओ से बिना हटे ही समस्या के समाधान में तत्पर होते है, यही उनका मौलिक दोष है। वस्तुत: किसी सिद्धान्त तक पहुंचने के लिए आवश्यक होता है कि सामान्य से विशेष की ओर बढते हुए सिद्धान्त का अन्वेषण किया जाए। अर्थात् सामान्य नियमो के आधार पर विशेष नियम निर्धारित किये जाएं। पाश्चात्य दार्शनिको तथा आधुनिक वैज्ञानिको ने इसी आगमनप्रणाली (Diductive method) को ही सिद्धान्त तक पहुंचने के लिए अपनाया है, किन्तु इन दार्शनिकों ने (मीमांसको) और नैयायिकों ने इसके विपरीत विशेष से सामान्य की ओर निगमन प्रणाणी (Inductive method) द्वारा पहुंचने का प्रयत्न किया है; फलतः इनकी मान्यताएं यद्यपि अति-व्याप्ति, और असम्भव नामक लक्षण दोषों से बचकर दार्शनिक परिभाषा के रूप मे स्थापित हो सकी है, किन्तु चूंकि इनकी प्रारम्भिक मान्यताए आधार हीन है, अत. इनके आधार पर मूल रहस्य तक पहुंच सकना कठिन है; यद्यपि सुन्दर शाब्दिक चयन के कारण इनमें दोषत्रय (अति-व्याप्ति अव्याप्ति और असम्भव) दिखासकना भी सरल नहीं है।

कर्त्ता—

कारण की परिभाषा मे कारण को **अन्यथासिद्ध** से भिन्न कहा गया है, किन्तु **अन्यथासिद्ध** की कोई सुन्दर परिभाषा नही की गई है[1], नहीं ही उसका विभाजन ही किसी सुदृढ आधार पर स्थापित है। वह विभाजन तो केवल उदाहरणों को दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है, मौलिक नही। फलत: न्यायशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को नैयायिको के कारण और अन्यथा-सिद्ध को पहचानने के लिए निस्सहाय हो जाना पड़ता है। न्यायशास्त्रीय परम्परा में घट कार्य के प्रति कुम्हार के पिता को अन्यथासिद्ध कहा है; किन्तु कुम्हार क्या है? न्यायशास्त्र के अनुसार दण्ड, चक्र आदि को निमित्तकारण माना गया है, क्या इनके मध्य ही कुम्हार को भी रखाजाए? एक ओर तो कोई क्रिया चेतना सम्पन्न कर्त्ता के बिना सम्पन्न नही हो सकती, अत. इसे कर्त्ता या कारण होना चाहिए। दूसरी ओर कारण को परिभाषा के अनुसार उसे नियतपूर्ववर्ती होना चाहिए, जबकि यह नियत-पूर्ववर्तित्व निमित्त कारण दण्ड चक्र आदि की गति में है, न कि कुम्हार में; अत: गति तो कारण हो सकती है, किन्तु निमित्त कारण दण्ड चक्र आदि में गति जनक सचेतन कुम्हार कर्ता भले हों, किन्तु नियत पूर्ववर्ती न होने से कारण नही हो सकता। किन्तु कोई भी दार्शनिक कुम्हार को अन्यथासिद्ध न मानना चाहेगा। यह तो दण्ड चक्र आदि की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण कारण है। यद्यपि नैयायिकों ने स्वीकृत कारणों मे इसे दण्ड चक्र आदि की अपेक्षा कोई अधिक महत्व नही दिया है। इस प्रकार हमे न्याय की परम्परा में सचेतन कर्ता एव अन्यनिमित्त कारणो में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता।

इसी प्रकार न्यायशास्त्र मे उपादान और निमित्त कारण मे अन्तर पूर्णत: स्पष्ट नही है। एक घड़े के निर्माण के लिए मिट्टी के कणो के पिण्डी भाव के लिए स्नेहगुण विशिष्ट जल की अपेक्षा होती है। अब प्रश्न यह है कि जल को क्या माना जाए, उपादान कारण या निमित्त कारण? न्यायशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'जो कारण कार्य की उत्पत्ति के बाद भी कार्य के साथ रहता हो उसे उपादान कारण कहते है; इस

---

१. इसी पुस्तक के पृ० १४५ देखें।

आधार पर जल को उपादान कारण मानना चाहिए; क्योंकि सामान्यतः घड़े का भार उसके न्यायशास्त्र स्वीकृत उपादान कारण मिट्टी से कुछ अधिक होता है एवं यह अधिक भार निश्चित रूप से जल का ही होना चाहिए। इस प्रकार जल घड़े का उपादान कारण सिद्ध होता है, जबकि नैयायिकों ने इसे निमित्त कारण ही स्वीकार किया है, यद्यपि उन्हें जल को निमित्त न मानकर उपादान कारण ही मानना चाहिए था। सत्कार्य-वादियो के लिए तो यथार्थतः उपादान कारण प्रतीत होने वाला जल एक और विकट समस्या उपस्थित करता है, वह यह कि सत्कार्य वाद के अनुसार कार्य कारण मे अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है, किन्तु पर्वत से ली गयी मिट्टी और यमुना से लिए गये जल मे (दोनो उपादान कारणों मे, जो बहुत दूर पर अवस्थित थे) कार्य किस रूपमें विद्यमान रह सकता है ? यदि इस घट कार्य को यान्त्रिक मिश्रण का परिमाण मानकर निर्वाह भी करना चाहे तो रासायनिक मिश्रण से उत्पन्न हो वाले कार्यो का सामाधान तो सम्भव ही न हो सकेगा, क्योकि रासायनिक मिश्रण के अवसर पर तो वे रसायन के साथ मिश्रित होने वाले द्रव्य स्वय ही परिवर्तित हो जाते है।

उपर्युक्त दोषो का हल चाहे कुछ विशेष चिन्तन एवं प्रयत्न द्वारा मिल भी जाए, किन्तु कुछ दोष तो ऐसे है, जो सत्कार्यवाद एवं असत्कार्यवाद दोनों में ही समान रूप से उपस्थित होते हैं, जिन्हे जे. एस. मिल (J. S. MILL) ने कारण बहुत्व एव कार्यो का मिश्रण (Plurality of causes Intermixture of effects) कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय दार्शनिको का ध्यान इधर गया ही नहीं है। जैसे एक औषधि का निर्माण अनेक वनस्पतियों एवं खनिजों के मिश्रण से किया गया है, अब यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि उन अनेक उपादानों में से किसे उस औषधि का उपादान कारण स्वीकार किया जाए ? क्या उन अनेक उपादानो को कारण माना जाए ? कभी कभी एक कार्य की उत्पत्ति अनेक कारणो में से किसी भी एक के द्वारा हो सकती है, वहां किसे कारण माना जाए ? जैसे : ताप की उत्पत्ति संघर्ष से भी होती है, विद्युत् से भी, एव अग्नि तथा सूर्य की किरणे भी ताप की जनक हैं। प्रत्येक ताप कार्य के नियत पूर्व में सघर्ष, विद्युत, अग्नि अथवा सूर्य की किरणों का होना सम्भव नहीं है, ऐसी स्थिति में ताप का

कारण किसे माना जाए ? नैयायिको की परिभाषा के अनुसार या तो सभी को **कारण** माना जाएगा अथवा सभी को **अन्यथासिद्ध**। यहा यद्यपि कणो की गतिशीलता वास्तविक सहकारी कारण हो सकती है, किन्तु इससे समस्या के समाधान में कोई विशेष अन्तर नही आता। चूंकि समस्त ताप सामान्य के प्रति इनमे से कोई भी कारण नही हो सकता, इसलिए व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धान्तिक असुविधा अधिक उपस्थित होती है। यही कारण है कि पाश्चात्य दार्शनिक बेकन (Bacon) ने भारतीय दार्शनिकों के कारणवाद की खुलकर आलोचना की है।

कार्य से नियत पूर्ववर्त्ती को **कारण** कहा जाता है,[१] जैसे . कार्य घट से पूर्व नियतरूप से रहनेवाले मिट्टी, चक्र, दण्ड, कुम्हार, आदि को कारण कहा जाता है। प्रस्तुत लक्षण मे **नियत** पद के प्रयोग के कारण उन साधनो को **कारण** न कहा जा सकेगा, जिनका कार्य अन्य साधनों से चल सकता है। उदाहरणार्थ घटरूप कार्य के लिए मिट्टी लाने का काम गदहा अथवा गाड़ी में से किसी एक के द्वारा ही होगा, अथवा स्वयं उठाकर कुम्हार भी मिट्टी ला सकता है, अत: घट सामान्य के प्रति अथवा घट विशेष के प्रति भी गदहा आदि मिट्टी ढोनेवाले उपकरण को **कारण** न कहा जा सकेगा।

घट रूप कार्य की उत्पत्ति से पूर्व घट के कारण भूत दण्ड के साथ नियमित रूप से **दण्डत्व** तथा **दण्ड का रूप** भी विद्यमान रहता है, वनमें अन्य दण्ड भी विद्यमान हैं, तो क्या दण्डत्व, दण्ड में विद्यमान रूप तथा वनस्थ दण्ड को घटके प्रति कारण माना जाएगा ? नैयायिक इन्हें **कारण** मानने को प्रस्तुत नही हैं। इन स्थलों मे अतिव्याप्ति के निवारण के लिए सिद्धान्त चन्द्रोदयकार ने **नियत पूर्ववृत्ति** का अर्थ 'कार्य से पूर्वक्षण में जिसका होना अवश्यम्भावी हो, वह कार्व है ; ऐसा माना है। इससे वन मे स्थित दण्ड में अतिव्याप्ति तो बच सकती है, किन्तु दण्डत्व और दण्डरूप में अतिव्याप्ति दूर नही हुई, अत: भाषा परिच्छेदकार विश्वनाथ एव न्यायबोधिनीकार गोवर्धन तथा वाक्यवृत्तिकार मेरुशास्त्री ने कारण की परिभाषा मे '**अन्यथासिद्ध से भिन्न**' विशेषण आवश्यक माना है।[२] इस प्रकार 'अन्यथासिद्ध से भिन्न कार्य से नियतपूर्व अर्थात् अवश्यमेव रहने वाले का कारण कहेंगे।

---

१. तर्क संग्रह पृ० ७४
२. (क) भाषा परिच्छेद १६
(ख) न्यायबोधिनी पृ० २६
(ग) वाक्यवृत्ति कारण प्रकरण।

अन्यथासिद्ध :—तर्कदीपिकाकार अन्नम्भट्ट ने **अन्यथासिद्ध** तीन प्रकार के स्वीकार किये हैं; उनके अनुसार 'कार्य के प्रति नियत पूर्ववर्ती किसी कारण विशेष के साथ नियत रूप से रहनेवाला **प्रथम अन्यथासिद्ध** है। जैसे: दण्डगत दण्डत्वजाति एव दण्डरूप। जो पदार्थ नियतपूर्ववर्त्ती होते हुए भी किसी अन्य कार्यविशेष का कारण सिद्ध हो चुका हो, वह **द्वितीय अन्यथासिद्ध** है। जैसे: घट उत्पत्ति से नियत पूर्ववर्त्ती होने पर भी आकाश घट कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध कहा जाएगा, **कारण** नहीं, क्योंकि वह अन्यकार्य शब्द के प्रति कारण स्वीकृत हो चुका है। कुछ नियत पूर्ववर्ती पदार्थों (कारणों) द्वारा कार्यसिद्ध सभव होनपर जो कार्य के प्रति निरपक्ष होते हुए भी कार्य से पूर्व नियत रूप से विद्यमान हो, वह भी अन्यथासिद्ध है। जैसे: पाकज गन्ध कार्य के प्रति रूप का प्रागभाव।[1]

भाषा परिच्छेदकार विश्वनाथ ने अन्यथा सिद्ध पांच स्वीकार किये है[2]
१. जो किसी कार्य के कारण का नियत सहचारी हो अर्थात् कारण जिससे अलग कभी नहीं रहता, तथा नियतसहचारी होने के कारण ही जो कार्य का नियतपूर्ववर्ती हो; जैसे: घट कार्य के प्रति कारण **दण्ड** के नियत सहचारी होने के कारण दण्डगत दण्डत्व जाति भी घट से नियत पूर्ववर्त्ती है, इसे प्रथम अन्यथा सिद्ध कहा जाएगा।

२. जो कार्य का पूर्ववर्त्ती तो हो, किन्तु अन्वयव्यतिरेक के आधार पर जो स्वतन्त्ररूप से कारण सिद्ध न हो सके; जैसे: दण्डगत रूप।

(उपर्युक्त दोनों अन्यथासिद्धों में अन्तर अत्यल्प है।)

३. जो कार्य विशेष के प्रति **कारण** सिद्ध हो चुका है, किन्तु कार्य सामान्य के प्रति भी पूर्ववर्त्ती सिद्ध हो, उसे तृतीय अन्यथासिद्ध कहते हैं। जैसे: शब्द के प्रति कारण आकाश अन्य कार्यसामान्य का भी पूर्ववर्त्ती है, किन्तु उन सभी कार्यों के प्रति वह अन्यथा सिद्ध कहा जाएगा, कारण नहीं।

४. कारण के पूर्ववर्त्ती होने से ही जो कार्य के प्रति पूर्ववर्त्ती सिद्ध हो; जैसे: कुम्हार का पिता: सचेतन निमित्त कारण कुम्हार से पूर्ववर्त्ती होने के

---

१ तर्क दीपिका पृ० ७५-७७। २ भाषा परिच्छेद १८—२१

कारण ही घट का भी पूर्ववर्त्ती सिद्ध है। चूंकि इसका पूर्ववर्त्तित्व कारण से पूर्ववर्त्ती होने के कारण ही सिद्ध होता है, स्वतः नही, अतः इसे (कुम्हारके पिता को) भी **अन्यथासिद्ध** माना जाएगा **कारण** नही।

५. जो किसी कार्य के प्रति तो नियत पूर्ववर्त्ती हो, किन्तु उस कार्य में विद्यमान जाति विशेष से युक्त अन्यकार्य के प्रति नियत पूर्ववर्त्ती न हो, वह भी **अन्यथा सिद्ध** है; जैसे : कुम्हार का गदहा। मिट्टी लाने के कारण किसी कार्य घट विशेष के प्रति नियतपूर्ववर्त्ती होने से इसे उसका कारण होना चाहिए, किन्तु उस कार्य घट में विद्यमान घटत्व जाति है, इस घटत्व जाति से युक्त अन्य घट है, जिनके लिए मिट्टी गाड़ी से लायी गयी है, अतः गदहा उनके प्रति नियत पूर्ववर्त्ती नहीं हो सकता, अतः घट सामान्य के प्रति गदहा को कारण न मान कर **अन्यथा सिद्ध** माना जाएगा।

चूंकि अन्यथासिद्ध के उपर्युक्त लक्षणो मे कारण के लक्षण का 'नियत पूर्ववर्त्ती' अश 'नियत' विशेषण के साथ उद्धृत किया गया है, अतः कारण लक्षण में भी उसका रहना नितान्त आवश्यक हो गया है, भले ही कारण लक्षण में 'अन्यथा सिद्ध रहित' यह विशेषण भी क्यों न सन्निविष्ट किया गया हो।

कारण भेद

न्याय शास्त्र में कारण तीन स्वीकार किये जाते हैं : समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्त कारण।

समवायिकारण :—जिस कारण में कार्य समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न हो, उसे **समवायिकारण** कहते है; जैसे: तन्तु में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध पट कार्य उत्पन्न होता है, अतः पट के प्रति तन्तु **समवायिकारण** है।

असमवायिकारण:—यह दो प्रकार का है, कार्यैकार्थ-प्रत्यासन्न, कारणैकार्थ प्रत्यासन्न। **कार्यैकार्थप्रत्यासन्नः** कार्य जिस अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है, उसी अधि-करण में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहने वाला। जैसे: पट-कार्य में तन्तुसंयोग। वह संयोग जिसके द्वारा अनेक तन्तु मिलकर पट का निर्माण करते है, एवं वह तन्तुसमूह तन्तुओं के गट्ठर से भिन्न होकर पट

के रूप में प्रतीत होता है । 'तन्तु' कारणों से उत्पन्न कार्य 'पट' समवाय सम्बन्ध से तन्तुओं में विद्यमान है, इन तन्तुओं में ही गुण होने के कारण संयोग भी समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है, इस प्रकार यहां समान अधिकरण 'तन्तु' में कार्य 'पट' एवं संयोग समान रूप से रहते हैं, अतः तन्तु संयोग पट के प्रति असमवायिकारण है।

कार्यैकार्थ प्रत्यासत्ति से असमवायिकारण
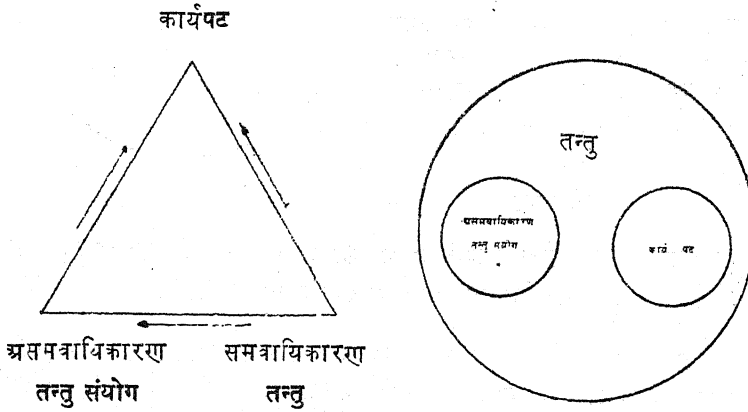
(**विवरण :—प्रत्यासत्ति** का अर्थ है, एक अधिकरण में दो वस्तुओं का रहना। इस प्रकार **कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति** का अर्थ हुआ '**कार्य के साथ रहने वाला कारण**।)

कारणैकार्थप्रत्यासन्न:—एक अधिकरण में समवायिकारण के साथ रहने वाला कारण **कारणैकार्थप्रत्यासन्न** असमवायिकारण है। जैसे: पट-रूप के प्रति तन्तु का रूप; यहां **पटगत रूप** समवाय सम्बन्ध से **पट** में विद्यमान रहता है, तथा कारण **पट** समवाय सम्बन्ध से तन्तुओं में विद्यमान रहता है, इन्हीं तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से तन्तुगत रूप भी विद्यमान रहता है, इस प्रकार पटगत रूप के **कारण** 'पट के साथ '**तन्तु**' में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान कारण तन्तुगत रूप पटगत रूप के प्रति **असमवायि-कारण** है।

कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति से असमवायिकारण
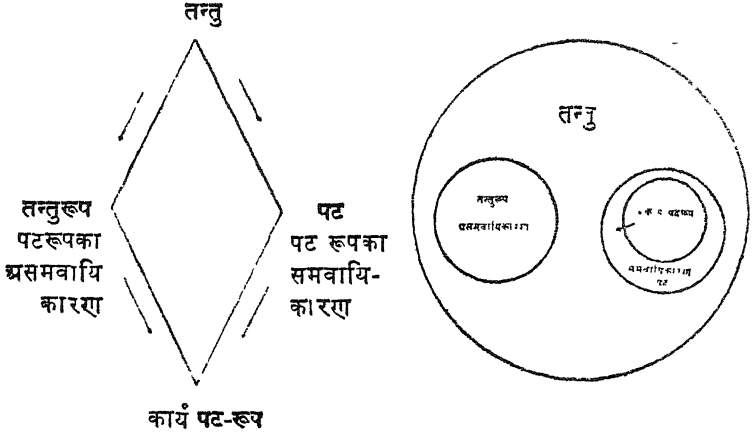
(**विवरण** :—कारणैकार्थप्रत्यासत्ति में कारण का अर्थ है, एक अधिकरण में समवायिकारण के साथ रहने वाला कारण ।)

इस प्रकार कारण के साथ अथवा कार्य के साथ एक अर्थ (विषय) में समवाय सम्बन्ध में विद्यमान कारण को असमवायिकारण कहते है ।[1] चूकि नैयायिक नित्यद्रव्य (पृथिवी आदि के परमाणुओ) मे विद्यमान विशेष तथा आत्मा में विद्यमान ज्ञान आदि विशेष गुणो को किसी के प्रति कारण नहीं मानते, अतः असमवायिकारण के लक्षण में **ज्ञानादि भिन्न** विशेषण का अथवा **कारणताशालि** एवं **आत्मगत विशेषगुणो से भिन्न** विशेषणों का भी नैयायिकों के अनुसार समावेश किया जाता है ।

निमित्त कारण—समवायि एवं असमवायिकारण से भिन्न कारण को **निमित्त कारण** कहते हैं । जैसे : पट के प्रति तुरी, वेम, तन्तुवाय आदि, घट के प्रति दण्ड, चक्र, कुम्हार आदि ।

नैयायिक कारण तथा कार्य के बीच सम्बन्ध के रूप में असमवायिकारण को स्वीकार करते है, जो प्रायः संयोग रहता है । सत्कार्यवादी (सांख्य,)

१. (क) तर्क संग्रह पृ० ७६, (ख) तर्क किरणावली पृ० ७६, (ग) न्याय मुक्तावली ११४-११५ (घ) सिद्धान्तचन्द्रिका कारणखण्ड

मीमांसक एवं वेदान्ती इस असमवायिकारण को न मानकर दोनों के बीच में तादात्म्य सम्बन्ध को स्वीकार करते है, अतः उनके अनुसार कारण के दो भेद ही होंगे ।

पाश्चात्य दर्शन शास्त्र के जन्म दाता अरस्तू (Aristotle) कारणों के चार भेद करते है । (i) Causa formalis (Formal couse) इसे ही Schovlmen के शब्दों में Quiddity कहते है। (ii) Causa materialis (Material cause) (iii) Causa efficiens (Instrumental cause) तथा (iv) Causa finalis (Final cause) ।

अरस्तू स्वीकृत प्रथम कारण Causa formalis नैयायिकों द्वारा स्वीकृत असमवायिकारण के लगभग समानान्तर है । चूंकि कुम्हार घड़ा बनाने के पूर्व घडे की मानसिक कल्पना करता है, मकान बनाने के पूर्व मकान का काल्पनिक चित्र (नक्शा) कागज पर अथवा मानस पटल पर अवश्य ही बना लिया जाता है, यही कल्पना अरस्तू के अनुसार Cousa formalis कहाती है, जो कि उनके अनुसार प्रत्येक कार्य के प्रति अनिवार्य कारण है । मुख्यतः कार्य की आकृति की उत्पत्ति इसी कारण से होती है । नैयायिकों के अनुसार **जाति** का समावेश भी ही इसमें होता है. क्योंकि उनके अनुसार **जाति** प्रत्येक कार्य से पूर्व नियत रूप से विद्यमान रहती है । असमवायिकारणभूत उपादानकारणगत संयोग विशेष भी इसमें ही समाहित हो सकता है, जिसके द्वारा **कार्य** की आकृति का निर्माण होता है ।

अरस्तू स्वीकृत द्वितीय कारण Cousa materialis है, जो नैयायिकों के **उपादान कारण** के पूर्ण समानान्तर है । इसी प्रकार अरस्तू का Cousa efficiens नैयायिको के **निमित्त कारण** का स्थानीय है ।

अरस्तू स्वीकृत चतुर्थ कारण Causa finalis कार्य वस्तु का प्रयोजन अथवा उसकी अच्छाई है । उनके अनुसार घड़े से जल लाया जाता है, यह घड़ा बनाने का प्रयोजन है; यदि यह प्रयोजन न होता, तो घड़े का निर्माण भी न होता । नैयायिक लोग इस प्रकार का कोई कारण नही मानते, उनके अनुसार इसे अदृष्ट कहा जा सकता है । बेकन (Becon) ने अरस्तू के इस चतुर्थ कारण का स्पष्ट विरोध किया है । भारतीय दार्शनिकों ने भी इस अदृष्ट की, जो कि सकल विश्व का साधारण कारण कहा जा सकता है, उपेक्षा ही की है ।

पैथोगोरस (Pyathogorus) तथा प्लैटो (Plato) और उनके अनुयायियो ने अरस्तू के प्रथम कारण Causa formalis को भिन्न रूप से स्वीकार किया है। पैथोगोरस इसे (Model को) सख्याओ (Numbers) के रूप में स्वीकार करते है; एवं प्लैटो ने इसे Idia के रूप में माना है। नैयायिक एतदर्थ घटत्व, गोत्व आदि जातियों को मान्यता देते हैं, जो कि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व से ही विद्यमान रहती है, एव कार्य के उत्पन्न होते ही उससे संबद्ध हो जाती हैं।

सेनेसा (Seneca) ने समय (काल) दिशा और कर्म को भी कारण के रूप में स्वीकार किया है, जबकि नैयायिक सेनेसा के प्रथम दो : काल और दिशा को साधारण कारण (Universal Cause) के रूप में मानते हैं तथा कर्म को कारण न मानकर व्यापार कहते हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार कारणों की परिभाषा के क्षेत्र से उन सभी को बाहर रखने का प्रयत्न किया जाता है, जब तक कि उनका छोड़ सकना असंभव न हो।

गीता में एक प्रसंग में किसी कार्य के पाच कारण स्वीकार किये गये हैं : अधिष्ठान, कर्त्ता, करण (अनेक प्रकार के साधन), चेष्टा तथा दैव (अदृष्ट)।[१] नैयायिकों के अनुमार अधिष्ठान साधारण कारण है; कर्त्ता निमित्त कारण है, करण अर्थात् विविध साधनो में से, जिसमें चक्र दण्ड एवं कपाल आदि समाहित होते है, कुछ को नैयायिकों के अनुसार निमित्त कारण तथा कुछ को उपादन कारण कहा जाता है। चेष्टा (व्यापार) उनके अनुसार कारण नहीं है, अपितु कारण का व्यापार है। पांचवां कारण दैव नैयायिकों द्वारा स्वीकार नही किया जाता।

इस कारण विभाजन में चूंकि उपादान और निमित्त दोनों को एक करण नाम से ही स्मरण किया गया है, जो कि किसी भी दार्शनिक द्वारा स्वीकृत नहीं है, अतः हम कह सकते हैं कि कारणों का यह विभाजन दार्शनिक चिन्तन के आदि काल का है। जबकि अन्य विभाजन अधिक परिष्कृत हैं।

सबसे उचित विभाजन तो केवल दो भागों में कारण को विभक्त करना है: उपादान कारण (Material cause) एवं अनुपादान कारण (Nonmaterial cause) अथवा निमित्त कारण (Instrumental

---

१. गीता १८. १४

cause) । वेदान्त में भी कारण केवल दो ही माने जाते हैं : निमित्त और उपादान, जो कि अधिक उचित प्रतीत होता है ।

उपर्युक्त समस्त कारण विवेचन को हम संक्षेप में निम्नलिखित रेखा चित्र मे देख सकते है ।

—: भारतीय दार्शनिकों के अनुसार :—
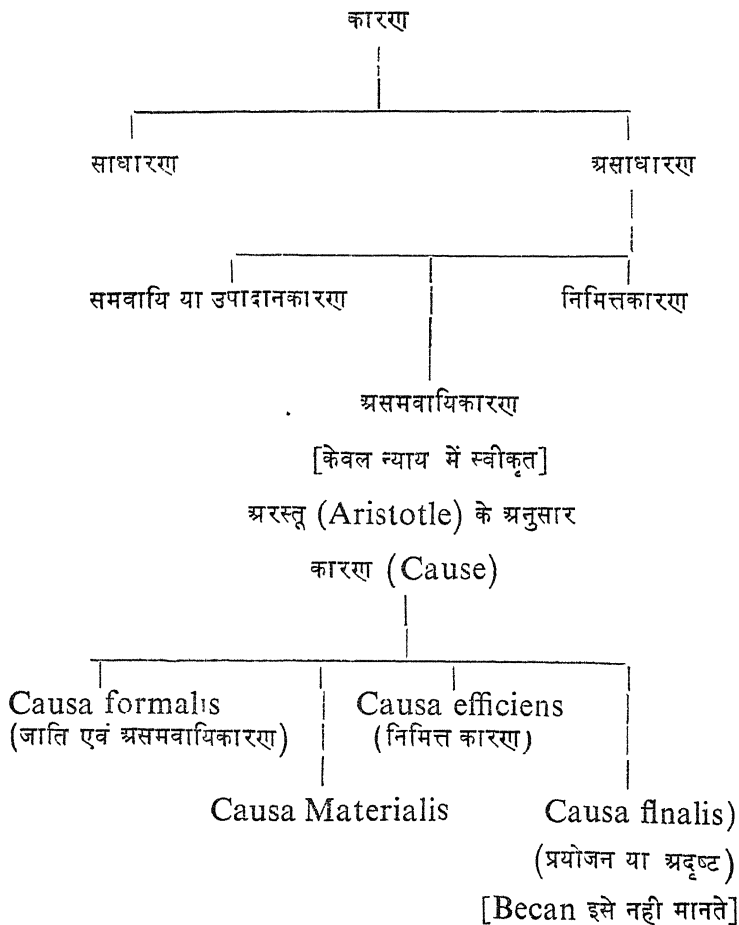
प्रत्यक्ष

प्रासगिक रूप से करण, कारण एव कार्य का परिचय प्राप्त करने के अनन्तर हम प्रमाणो की ओर दृष्टिपात करें। जैसा कि पहले कहा जा चुका है नैयायिको के अनुसार यथार्थ ज्ञान चार प्रकार का स्वीकार किया जाता है : **प्रत्यक्ष, अनुमिति उपमिति और शाब्द**। इन चारों प्रकार के ज्ञान के उत्पत्ति के कारण भी चार हैं . **प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द**। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि प्रमाणों की सख्या के सम्बन्ध मे विविध दार्शनिकों मे परस्पर अत्यधिक मतभेद है; उदाहरणार्थ : चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमा को ही स्वीकार करते हैं, वैशेषिक (कणाद और उनके अनुयायी) तथा बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमिति केवल दो प्रमाभेद मानते हैं। कुछ नैयायिक **उपमिति** को, मानकर सख्या चार कर देते हैं। प्रभाकर के अनुयायी मीमासक **अर्थापत्ति** को कुमारिलभट्ट एव वेदान्त के अनुयायी अनुपलब्धि को जोड़कर सख्या छः कर देते हैं। पुराणों में संभव और ऐतिह्य को भी माना गया है, इस प्रकार **करण** भेद से प्रमा के अन्ततः आठ भेद हो जाते है।[1] न्यायशास्त्र में प्रमा और प्रमाणो की सख्या चार ही क्यों स्वीकार की गयी है; इस प्रश्न पर विचार यथा स्थान किया जाएगा।

न्यायशास्त्र के आदिकाल में न्याय और वैशेषिक दर्शन स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए हैं, उसकाल में न्याय में चार प्रमाण स्वीकार किये जाते रहे हैं, एवं वैशेषिक मे केवल दो : प्रत्यक्ष और अनुमान। किन्तु नव्य न्याय का उदय होने पर उस में वैशेषिक के पदार्थवाद (परमाणुवाद) को अविकल स्वीकृति देते हुए प्रमा और प्रमाणों के प्रसंग में न्याय के सिद्धान्तो को ही स्वीकार किया गया है। इस प्रकार वर्त्तमान न्याय शास्त्र में प्रमाण प्रकरण के अतिरिक्त सभी सिद्धान्त वैशेषिक दर्शन के स्वीकार किये जाते हैं एवं प्रमाण प्रकरण मे न्याय दर्शन का अनुगमन किया जाता है; किन्तु प्रमाण प्रकरण में भी अनुमान का विभाजन प्राचीन न्याय दर्शन के अनुसार न होकर नवीन रूप से किया जाता है।

नैयायिकों के साथ ही कुछ अन्य दार्शनिकों ने (वेदान्त, योग, सांख्यवादियों तथा बौद्ध आदि ने) प्रत्यक्ष ज्ञान और उसके करण भूत प्रमाण दोनो के

---

१ दिनकरी पृ० २३३

लिए ही प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु केशवमिश्र आदि ने 'प्रत्यक्ष ज्ञान के स्थान पर 'साक्षात्कार' शब्द को अधिक उचित माना है, जो अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। साक्षात्कार के करण को उन्होंने भी 'प्रत्यक्ष' ही कहा है। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि नैयायिकों ने साक्षात्कार रूप प्रत्यक्ष की परिभाषा करते हुए विशेष्य के रूप में ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है।[1] जिसके फलस्वरूप प्रमा और अप्रमा तथा उनके करणों के पृथक् विवेचन की आवश्यकता नही रह जाती। उनके विभाजन के लिए यही जानना रहता है कि 'वह ज्ञान सदोष है या अदोष ?' एतदर्थ किसी अन्य साधन की भी आवश्यकता नहीं रहती। प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति 'अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्'[2] (अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियों से द्रव्यादि विषयक उत्पन्न ज्ञान') के अनुसार भी प्रत्यक्ष शब्द इन्द्रियजन्य ज्ञान सामान्य का वाचक होता है, चाहे वह प्रमा (यथार्थ) कोटि का हो, चाहे अप्रमा (अयथार्थ) कोटि का। सांख्य दर्शन के अनुसार केवल **यथार्थ ज्ञान** ही **प्रत्यक्ष** हो सकता है, अयथार्थ नहीं; इसीलिए वहां प्रत्यक्ष की परिभाषा में अध्यवसाय (निश्चयात्मक ज्ञान) पद का प्रयोग किया गया है[3], अतः सांख्यमत में प्रत्यक्षज्ञान प्रमा रूप ही होगा। वेदान्त के अनुसार चूंकि ज्ञान चैतन्य ब्रह्म रूप ही है[4] अतः प्रत्यक्ष ज्ञान **प्रमा** ही होगा, **अप्रमा** नही। वात्स्यायन के अनुसार यदि प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पति '**अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः** करें[5] तो इन्द्रियों का विषय सम्बन्धी व्यापार प्रत्यक्ष कहा जायेगा, और यह लक्षण प्रत्यक्ष प्रमा का न होकर प्रत्यक्ष प्रमाण का होगा। इस प्रकार प्रत्यक्ष शब्द प्रमा और प्रमाण, ज्ञान और व्यापार दोनों का वाचक है।

प्रत्यक्षज्ञान के लिए किया गया व्यापार **प्रत्यक्ष प्रमाण** कहा जाता है, वह व्यापार केवल इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष ही नही है, जैसा कि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन स्वयं स्वीकार करते है[6] कि सर्व प्रथम आत्मा मन से संयुक्त होती है, मन इन्द्रिय से एवं इन्द्रियां विषय से, तब कही प्रत्यक्ष ज्ञान

---

१. (क) न्याय सूत्र १.१.५.
   (ख) न्यायमुक्तावली—पृ० २३३ (ग) तर्क संग्रह पृ० ८०
२. प्रशस्त पाद भाष्य पृ० ६४ ३. सांख्यकारिका ५
४. वेदान्त परिभाषा टिप्पणी पृ० १५ ५. वात्स्यायनभाष्य पृ० १८
६. वात्स्यायन भाष्य पृ० १२

उत्पन्न होता है, इसप्रकार समष्टिरूप से (परम्परा से ही सही) आत्मा और विषयों के सन्निकर्ष से प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है, केवल इन्द्रियों और विषयों के सन्निकर्ष से नहीं; फिर भी इन्द्रिय सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है, इसका कारण यह है कि आत्मा और विषय का सन्निकर्ष केवल प्रत्यक्ष में ही नहीं होता, अपितु अनुमिति उपमिति और शाब्द ज्ञान में भी उसका होना उतना ही अनिवार्य है, जितना कि प्रत्यक्ष में, अतः अनिवार्य होने पर भी उसे प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि न्यायसूत्रकार गौतम से लेकर अन्नंभट्ट अथवा उनके टीकाकारों तक सभी ने इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार किया है। सूत्रकार ने प्रत्यक्षज्ञान के लक्षण में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहते हुए अव्यपदेश्य अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक तीन और विशेषण प्रयुक्त किये हैं।[१] चूंकि 'शब्द' श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है, अतः श्रोत्र से शब्द का सन्निकर्ष होने पर उसका ज्ञान होता है, साथ ही शब्द से नित्य सम्बद्ध उसके अर्थ की भी प्रतीति होती है, यदि शब्द का श्रोत्र इन्द्रिय से सन्निकर्ष न हो तो शब्द ज्ञान के अभाव में शब्दार्थ ज्ञान का भी अभाव होगा, दूसरे शब्दों में शब्दार्थ ज्ञान के पूर्व शब्द ज्ञान के कारणभूत शब्द और श्रोत्र इन्द्रिय का होना अनिवार्य है, अतः शब्दार्थ ज्ञान के प्रति शब्द और श्रोत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष को नियत पूर्ववर्त्ती अथवा कारण कहा जा सकता है, अतः इस शब्द ज्ञान के भी इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण इसमें प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है, इसीलिए सूत्रकार ने अव्यपदेश्य अर्थात् शब्द द्वारा अकथनीय यह विशेषण प्रत्यक्ष लक्षण में रखा है। परवर्त्ती नैयायिक विश्वनाथ और अन्नंभट्ट इस विशेषण का प्रयोग आवश्यक नहीं मानते, जैसाकि उनके लक्षणों से ही स्पष्ट है, इस विशेषण के प्रति उनकी अरुचि का कारण यह है कि श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द का सन्निकर्ष शब्द के ज्ञान के प्रति कारण तो है, किन्तु शब्द द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ के ज्ञान के प्रति साक्षात् नहीं। इसके प्रति श्रोत्रेन्द्रिय का सन्निकर्ष तो परम्परया कारण है. अतः वह अन्यथासिद्ध है, कारण नहीं। जैसाकि कारण का परिचय देते हुए स्पष्ट किया जा चुका है कि जिसका पूर्ववर्त्तित्व कारण के पूर्ववर्त्ती होने के कारण ही माना जाये उसे द्वितीय

१. न्याय सूत्र १. १. ४

अन्यथासिद्ध कहते हैं। फलतः शाब्द ज्ञान के प्रति श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द का सन्निकर्ष कारण न होने से शाब्द ज्ञान में प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति न होगी, अतः अव्यपदेश्य विशेषण अनावश्यक है। सूत्रकार गौतम ने प्रत्यक्ष के लक्षण में अव्यभिचारि (परिवर्त्तित न होने वाले) विशेषण मिथ्याज्ञान में, तथा व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) विशेषण सन्देह मे प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति के निराकरण के लिए दिया है। इस प्रसग में स्मरणीय है कि गौतम का यह प्रत्यक्ष लक्षण केवल प्रत्यक्ष प्रमा को ही लक्ष्य करके लिखा गया है, प्रमा और अप्रमा सामान्य को लक्ष्य करके नही।

इस प्रसंग में एक बात विचारणीय है यह वह कि गौतम ने निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए जिन सोलह तत्वों के ज्ञान को आवश्यक माना है, उनमें सशय भी एक है।[१] यदि प्रमाण लक्षण में प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रत्यक्ष ज्ञान का ही जनक माना जाएगा, जो कि प्रमा है, तो संशयात्मक ज्ञान की उत्पत्ति के लिए कारण की खोज करनी अनिवार्य होगी और उसका लक्षण भी करना होगा। इसके अतिरिक्त एक ज्ञान साधन से संशयात्मक अयथार्थ ज्ञान की एव अन्य से व्यवसायात्मक यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होने पर किसे ग्राह्य माना जाए, एतदर्थ बाध्य बाधक भाव की व्यवस्था अनिवार्य होगी। इसके अतिरिक्त निर्विकल्पक ज्ञान निश्चय कोटि तक नही पहुचता, अतः अव्याप्ति की भी सभावना होगी।

इन दोषों से बचने के लिए परवर्त्ती नैयायिकों ने जिनमें आचार्य प्रशस्तपाद भी सम्मिलित हैं,[२] इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष का लक्षण स्वीकार किया है, जिसके फलस्वरूप प्रत्यक्ष प्रमा और अप्रमा दोनो प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जा सकेगा। किन्तु प्रमाणिकता की दृष्टि से उभयकोटि होने के कारण सशय को ग्राह्य न माना जाएगा। इसके साथ ही इस प्रत्यक्ष लक्षण से निर्विकल्पकज्ञान सविकल्पकज्ञान तथा प्रत्यभिज्ञा तीनो को ही प्रत्यक्ष कहा जा सकेगा।

प्रत्यक्ष की उपर्युक्त परिभाषा में एक दोष और उठाया जाता है, वह यह कि 'ईश्वर प्रत्यक्ष' जो कि नित्य है, इन्द्रियसन्निकर्षजन्य नही हो सकता,

---

१. न्याय सूत्र १. १. १. २. (क) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ९४
(ख) न्याय मुक्तावली पृ० २०३

अत वह प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नही आता।'[1] नव्य नैयायिकों ने इसके दो समाधान दिये है:— प्रथम यह कि 'जो ज्ञान अन्य ज्ञान से उत्पन्न नही है, वह प्रत्यक्ष है,' ऐसा लक्षण किया जाए। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नही होती, जबकि अनुमिति के लिए हेतु का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान एव व्याप्ति का स्मरण, उपमिति के लिए सादृश्य ज्ञान, शाब्द ज्ञान के लिए शब्द का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान आवश्यक होता है। यह लक्षण लौकिक और अलौकिक प्रत्यक्ष के साथ ही ईश्वर प्रत्यक्ष मे भी समान रूप से व्याप्त होता है।[2] किन्तु इस लक्षण को भी पूर्णत· निर्दुष्ट नही कहा जा सकता है, क्योंकि यह सविकल्पक प्रत्यक्ष मे अव्याप्त होता है; कारण यह है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष से पूर्व निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का होना अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, अतः इस स्थल पर अव्याप्ति दोष का होना अनिवार्य है। ईश्वर प्रत्यक्ष में अव्याप्ति निवारण हेतु न्यायबोधिनीकार के अनुसार दूसरा समाधान यह है कि प्रस्तुत प्रत्यक्ष लक्षणो मे अनित्य प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में ही विचार किया गया है;[2] ईश्वर प्रत्यक्ष चूकि नित्य प्रत्यक्ष है, अतः उनमे प्रत्यक्ष लक्षण की अव्याप्ति दोप रूप मे नही अपितु साभिप्राय है, जबकि नित्य प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष के लक्षण का लक्ष्य ही नही है, तो उसमें लक्षण का न पहुंचना दोष नहीं, अपितु गुण है, क्योंकि न्यायशास्त्र के प्रवर्त्तक गौतम तथा उनके अनुयायियों को नित्य प्रत्यक्ष (ईश्वर प्रत्यक्ष) को प्रत्यक्ष लक्षण द्वारा परिभाषित करना अभिप्रेत न था। इस प्रकार प्रत्यक्ष लक्षण में कोई दोष नही रह जाता।

प्रत्यक्ष भेद—जैसा कि ऊपर की पक्तियों में प्रासगिक रूप से स्पष्ट हो चुका है कि प्रत्यक्ष के प्रथमतः दो भेद हैं **नित्यप्रत्यक्ष एवं अनित्य** अर्थात् जन्य प्रत्यक्ष। जन्य प्रत्यक्ष के भी प्रथम दो भेद किये जाते है: **सविकल्पक एवं निर्विकल्पक**। सविकल्पक प्रत्यक्ष के भी आरम्भ में दो भेद किये जाते है: **लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष**। लौकिक प्रत्यक्ष के पुनः साधनों के भेद से छः उपविभाग किये गये है: चाक्षुष, स्पार्शन, घ्राणज. रासन, श्रौत्र एवं **मानस**। अलौकिक प्रत्यक्ष जिसे प्रत्यासत्ति कहते हैं, तीन प्रकार का है: **सामान्यलक्षण, ज्ञान लक्षण एवं योगज**।

---

१. न्याय मुक्तावली पृ० २३४-२३५ २. न्याय बोधिनी पृ० ३०

चक्षुरिन्द्रिय (नेत्र इन्द्रिय) एवं विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष को चाक्षुष प्रत्यक्ष कहते हैं, स्पर्श इन्द्रिय (त्वचा) एवं विषयों के सन्निकर्ष के द्वारा उत्पन्न प्रत्यक्ष को स्पार्शन तथा इसी प्रकार घ्राण (नासिका) रसना (जिह्वा) एव श्रोत्र (कान) इन्द्रियो के साथ सन्निकर्ष होने से उत्पन्न प्रत्यक्ष को क्रमशः घ्राणज, रासन एव श्रौत्र प्रत्यक्ष कहते हैं। बाह्य इन्द्रियों की सहायता के बिना भी योगिजनों को केवल मन का विषय के साथ सन्निधान होने पर विषय और मनस् के सन्निकर्ष द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, उसे मानस प्रत्यक्ष कहते हैं।

अलौकिक प्रत्यक्षों मे किसी वस्तु के विशेषणों से रहित सामान्य परिचयात्मक ज्ञान को **सामान्य लक्षण** कहते है। इसमें किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होते ही उस वस्तु मे विद्यमान धर्म अथवा जाति का भी सामान्य ज्ञान होता है, किन्तु जाति का यह ज्ञान विशेषण ज्ञान रहित सामान्य ज्ञान होता है। जैसेः घट का प्रत्यक्ष होते ही घट मे विद्यमान घटत्व का प्रत्यक्ष तत्काल ही होता है, जो कि प्रत्यक्ष किये जाने वाले घट से अतिरिक्त अन्य घटो में भी सामान्य रूप से विद्यमान है। इसी प्रकार सयोग सम्बन्ध से भूतल में एव समवाय सम्बन्ध से कपाल मे विद्यमान एक घट का प्रत्यक्ष होते ही घट मात्र के सम्बन्ध में जो एक सामान्य ज्ञान या धारणा होती है, वह भी सामान्यलक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान है। सामान्य लक्षण पद मे लक्षण शब्द का तात्पर्य विषय (अर्थ) है, इस प्रकार सामान्य लक्षण का अर्थ सामान्य विषयक ज्ञान हुआ।[1]

ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति. जब दर्शक किसी वस्तु को देखकर देखने के साथ ही अपने संस्कारवश उस वस्तु में विद्यमान धर्म का ज्ञान करता है तो उस ज्ञान को **ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति** अथवा **ज्ञानलक्षणज्ञान** कहते हैं। जैसेः चन्दन का दूर से चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर घ्राण का आश्रय लिये बिना ही चन्दनगत सौरभ का ज्ञान हो जाता है, इसी प्रकार जब इमली आदि अम्ल पदार्थो का चाक्षुष प्रत्यक्ष करते हैं, तो उसमें विद्यमान अम्लता की भी प्रतीति हो जाती है, जिसके फलस्वरूप दन्तोदक (लार) उत्पन्न हो जाता है, अम्लता की यह प्रतीति ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति नामक द्वितीय अलौकिक प्रत्यक्ष है।

१. न्याय मुक्तावली पृ० २७७

योगज प्रत्यक्ष: योगिजनों को अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान अलौकिक योगज प्रत्यक्ष है। इनमें से प्रथम दो का सम्बन्ध सामान्य मानव से है, किन्तु योगज प्रत्यक्ष का सम्बन्ध केवल विशिष्ट शक्ति सम्पन्न योगियों से ही है, सामान्य मानव से नहीं। इसीलिए कुछ विद्वान् इस अलौकिक योगज प्रत्यक्ष को काल्पनिक कहते हैं। लौकिक षड्विध प्रत्यक्षों में द्रव्य का ज्ञान प्राचीन नैयायिकों के अनुसार केवल **चाक्षुष** प्रत्यक्ष से होता है, जब कि नव्यनैयायिकों के अनुसार उसका ज्ञान **चाक्षुष** और **स्पार्शन** दोनों ही प्रत्यक्षों से सम्भव है। इसका कारण प्राचीन नैयायिकों द्वारा द्रव्य प्रत्यक्ष के लिए उद्भूत रूप को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना है, जबकि नव्य नैयायिक उद्भूत रूप के साथ ही उद्भूत स्पर्श को भी द्रव्य प्रत्यक्ष के प्रति कारण स्वीकार करते हैं।

करण के सम्बन्ध में पूर्व पृष्ठों में विचार किया जा चुका है। प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति करण क्या है, इस प्रसंग में प्राचीन ग्रन्थों मे कोई स्पष्ट निर्देश नही किया गया था। तर्कसंग्रहकार अन्नभट्ट ने 'प्रत्यक्ष ज्ञान का करण इन्द्रिय है' ऐसा स्पष्टत: स्वीकार किया है,[१] अत: उनके अनुसार इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, किन्तु उन्होंने अनुमिति के अव्यवहित पूर्ववर्ती लिङ्ग परामर्श को करण माना है, व्याप्ति ज्ञान को नही।[२] जबकि व्याप्ति ज्ञान ही अनुमिति का असाधारण कारण है, परामर्श तो व्यापार है। यदि व्यापार को ही कारण मानना है, तो प्रत्यक्ष के प्रसङ्ग में भी सन्निकर्ष को, जो कि इन्द्रिय आश्रित व्यापार है, करण मानना चाहिए। नव्य नैयायिकों को यही अभिप्रेत है। प्राचीन नैयायिक चूंकि व्यापार को करण न मानकर व्यापार युक्त असाधारण कारण को करण मानते हैं, अत: उनके अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान का करण इन्द्रिय तथा अनुमिति ज्ञान का करण व्याप्ति ज्ञान माना जायेगा।

---

१. तर्क संग्रह पृ० ८६

२. वही पृ० ९८

प्रत्यक्ष के वर्गीकृत विभाग के लिए निम्नलिखित रेखा चित्र द्रष्टव्य है :---
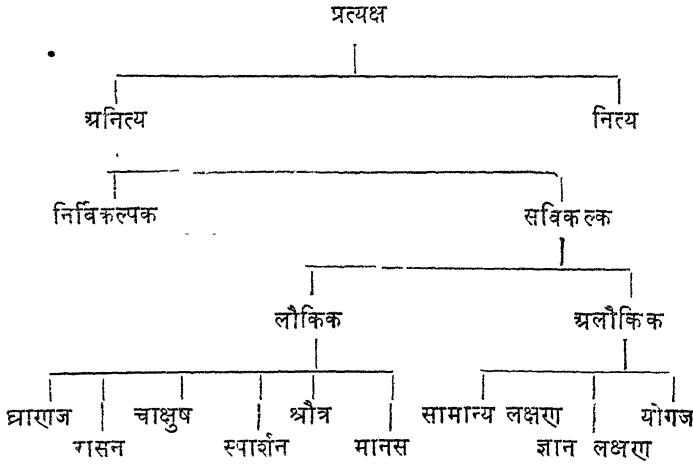
निर्विकल्पक-सविकल्पक

प्रत्यक्ष ज्ञान के मुख्यतः दो भेद हैं : निर्विकल्पक और सविकल्पक । वाटले (whately) के शब्दों में इन्हें क्रमशः Incomplex तथा Complex कह सकते हैं । जब कोई वस्तु हमारे इन्द्रियपथ में आती है, तो सर्व प्रथम यह प्रतीति होती है कि 'यह कुछ है', उसके अनन्तर जब वह वस्तु निकट और स्पष्ट होती है, तब वस्तु की विशेषताओं का परिचय होता है । प्रथम में केवल वस्तु की 'सत्ता' या **सद्भाव** मात्र की प्रतीति होती है, परवर्त्ती ज्ञान (सविकल्पक) में हमें उस वस्तु के विविध विशेषणों से विशिष्ट होने का भान होता है । प्रथम सत्तात्मक ज्ञान विशिष्ट बुद्धि से रहित ज्ञान **निष्प्रकारक या निर्विकल्पक**[1] तथा घटत्व आदि से विशिष्ट घट आदि का ज्ञान, जिसमें कि नाम जाति आदि विशेषणों की प्रतीति भी सम्मिलित है, **सप्रकारक या सविकल्पक ज्ञान** कहाता है ।[2]

सविकल्पक ज्ञान में सामान्यतः चार प्रकार के विशेषणों (उपाधियों) का ज्ञान होता है : **जाति, गुण, क्रिया और नाम** । गौर ब्राह्मण देवदत्त

१. कणाद रहस्यम् पृ० ६१. २. तर्क दीपिका पृ० ८२

पढ़ता है (ब्राह्मणो गौरो देवदत्तः पठति) इस ज्ञान को हम पूर्ण **सविकल्पक** कह सकते हैं; इसमें सभी उपाधियों या विशेषणों की चर्चा की गयी है।' '**गौर**' शब्द उसके गुणों का प्रतिनिधित्व करता है, '**ब्राह्मण**' शब्द जाति का, **पढ़ना**' (पठति) क्रिया का बोधक है तथा **देवदत्त**' नाम है। सविकल्पक ज्ञान से पूर्व 'यह कुछ है' यह भान अनिवार्यतः होता है, तदनन्तर 'यह गौर है' 'यह ब्राह्मण या मनुष्य है,' उसके बाद उसमे विद्यमान 'पठन क्रिया' का पता चलता है, साथ ही उसके नाम की प्रतीति होती है, एव अन्त में सब का सम्मलित ज्ञान होता है; इस प्रकार **निर्विकल्पक** ज्ञान ही विशेषणों (उपाधियों) के ज्ञान से विशिष्ट होने पर **सविकल्पक** बन जाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान की इन दोनों कोटियो के सम्बन्ध में सन्देह हो सकता है, कि इन दोनों को पृथक् पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है? यह सन्देह मुख्यतः निर्विकल्पक ज्ञान की सत्ता के सम्बन्ध में है; किन्तु नैयायिकों के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान ही सविकल्पक ज्ञान के प्रति कारण है।[१] कारण यह है कि सविकल्पक ज्ञान असीम होता है। किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष करने पर क्रमशः उसकी अधिकाधिक विशेषताओं की प्रतीति होती है, इसलिए मानना पड़ता है कि प्रथम विशेषण ज्ञान से पूर्व भी एक विशेषण रहित ज्ञान हुआ होगा, क्योकि विशेषण ज्ञान के बिना विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तथा 'विशेषण' विद्यमान वस्तु में ही वैशिष्ट उत्पन्न करता है, अविद्यमान में नहीं। इस प्रकार जाति, गुण, क्रिया और नाम से युक्त 'गौ का ज्ञान विशेषण के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान है, क्योकि वह विशिष्ट ज्ञान है, जैसे अनुमिति आदि का ज्ञान।[२] इस अनुमान के द्वारा निर्विकल्पक ज्ञान को मानना अनिवार्य हो जाता है।

चूंकि निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है, इस प्रत्यक्ष ज्ञान की सिद्धि के लिए अनुमान का आश्रय लेना पड़ता है, जबकि अनुमिति ज्ञान स्वतः प्रत्यक्ष के आश्रित होता है। अतः यदि किसी विचारक को निर्विकल्पक का स्वतन्त्र ज्ञान मानने में आपत्ति हो, तो भी उन्हें उसे (निर्विकल्पक को) सविकल्पक की एक पूर्व अवस्था विशेष के रूप में तो स्वीकार करना ही होगा।

---

१. कणाद रहस्यम् पृ० ६१।

२. (क) वही पृ० ६१ (ख) तर्क दीपिका पृ० ८१

नैयायिको के निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान को बौद्धों के अतिरिक्त प्राय: सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है । बौद्धों के अनुसार 'केवल निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष कोटिक ज्ञान है; सविकल्पक ज्ञान न तो वास्तविक है और न प्रत्यक्ष । उनके अनुसार गुणों की सत्ता वास्तविक न होकर 'बन्ध्या पुत्र' के समान केवल काल्पनिक है; जबकि निर्विकल्पक ज्ञान वास्तविक होने के कारण ही प्रत्यक्ष भी है । बौद्धों की यह मान्यता संभवत: उनके शून्यवाद पर आधारित है ।

निर्विकल्पक ज्ञान पूर्णत: इन्द्रिय सन्निकर्ष जन्य है, अत: उसको प्रत्यक्ष स्वीकार करने में कोई आपत्ति किसी को भी नही है, किन्तु सविकल्पक ज्ञान अंशत: निर्विकल्पक पर एवं अंशत: पूर्व ज्ञान पर आश्रित है : जैसे समुद्र में आते हुए जहाज को देखकर सर्व प्रथम हमें कुछ काला-सा प्रतीत होता है, जिसके फलस्वरूप 'यह कुछ (वस्तु) है' यह ज्ञान होता है, यह निर्विकल्पक ज्ञान है । उसके अनन्तर जहाज के मस्तूल आदि का साक्षात्कार होता है, साथ ही जहाज के लक्षणों का स्मरण होता है, तदनन्तर 'यह जहाज है' यह ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) उत्पन्न होता है । इसी प्रकार घट के साक्षात्कार के समय सर्व प्रथम 'यह कुछ है' यह निर्विकल्पक प्रतीति होती है, तदनन्तर उसकी आकृति विशेष गोलाई और शंख के समान ग्रीवा आदि का साक्षात्कार होने पर 'इस आकृति का पदार्थ घट होता है' यह स्मरण होता है, तत्पश्चात् 'यह घट है, इस प्रकार का सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है ।

यदि विचार कर देखा जाए, तो यह सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञान उपमिति के बहुत निकट है । उपमिति में वस्तु के प्रत्यक्ष के बाद सादृश्य एवं शाब्द ज्ञान का स्मरण आदि अनिवार्य होता है; इसी प्रकार यहां भी 'यह घट है' इस प्रत्यक्ष के पूर्व **घट सादृश्य** का स्मरण, तथा **घट नाम** का स्मरण आवश्यक होता है । इस प्रकार यह प्रत्यक्ष अनेक ज्ञानों का मिश्रित रूप है, जैसा कि अनुमिति और उपमिति है ।

पाश्चात्य दार्शनिक भी नैयायिकों की इस सविकल्पक प्रत्यक्ष की परिभाषा से सहमत नहीं हैं । वे भी इसे अनेक ज्ञानों का मिश्रण ही मानते हैं । उनका कथन है कि 'दशासूचक' (Compass) द्वारा दिशा का ज्ञान करते हुए दर्शक उसकी सुई को देखता है, अब जिधर सुई की नोक हुई उधर ही यह उत्तर दिशा है' यह ज्ञान उस को होता है; किन्तु क्या इस ज्ञान को प्रत्यक्ष

कहना उचित होगा ? क्योंकि यह ज्ञान तो निश्चित रूप से अनेक ज्ञानो का मिश्रण है; इसीलिए तो दिशा सूचक के सिद्धान्त से अपरिचित व्यक्ति उसे देखकर भी दिशा ज्ञान नही कर पाते। इस प्रकार यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि नैयायिको का सविकल्पक ज्ञान उनकी ही प्रथम परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष की कोटि में नही आ पाता।

किन्तु बौद्धों की मान्यता को भी हम सत्य के निकट स्वीकार नही कर सकते, क्योंकि वे सविकल्पक ज्ञान का खण्डन शून्यवाद के आधार पर करते है। शून्यवाद के अनुसार जगत् केवल मानसिक कल्पनामात्र है, इसलिए उनके निकट वास्तविक रूप से किसी वस्तु की प्रतीति स्वीकार करने के लिए कोई स्थान नही है। साथ ही उनकी मान्यता के अनुसार इस निर्विकल्पक ज्ञान में वस्तु की स्पष्ट सविशेषण प्रतीति संभव नहीं है, तथा सविशेषण प्रतीति न होने के कारण उनके मत में अनुमिति उपमिति या शाब्द ज्ञान की मान्यता भी सन्दिग्ध हो जायेगी; क्योकि बिना विशेषण ज्ञान के अनुमान के लिए व्याप्ति, उपमिति के लिए सादृश्य की प्रतीति संभव नही है।

इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि वास्तविक मे रूप सविकल्पक ज्ञान ही हमारे मानस में किसी वस्तु के ज्ञान को आरोपित करता है; अतः इसे अस्वीकार करना प्रकारान्तर से बाह्य जगत् के ज्ञान के मूलाधार को ही अस्वीकार करना है; फलस्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि से सविकल्पक को पृथक रख सकना भी संभव नहीं है।

यह एक ऐसी समस्या है, जिसका समाधान तर्क द्वारा संभव भी नही प्रतीत होता; क्योकि यह समस्या सभी तर्कों के मूल आधार प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में ही उठ खडी हुई है, एवं प्रत्यक्ष के बिना किसी भी तर्क की स्थिति सम्भव नहीं।

इसके अतिरिक्त एक प्रश्न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में भी है कि न्यायशास्त्र की परिभाषाओं के अनुसार निर्विकल्पक का कोई स्थान ही निश्चित हो पाता; चूंकि यह किसी भी व्यवहार का कारण नहीं होता, अतः इसे बुद्धि के अन्तर्गत स्थान नही मिलना चाहिए। विशेषणात्मक ज्ञान के अभाव में इसे **प्रमा** या **अप्रमा** नहीं कह सकते; इसे अनुभूति सामान्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसके द्वारा **विशेष्य, प्रकारता** तथा **संसर्ग** की प्रतीति होती

है, तथा **निर्विकल्पक** में यह सब कुछ नहीं है। इस प्रकार यह निःसन्दिग्ध रूप से ज्ञान होते हुए भी ज्ञान (अनुभव) के उन सभी प्रकारों से भिन्न है, जिन्हें न्यायशास्त्र की परम्परा में स्वीकार किया जाता है। इसलिए तर्क सग्रह के आधुनिक व्याख्याकार महादेव राजाराम बोडास ने न्याय शास्त्र के परम्परागत विभाजन की उपेक्षा करके अनुभव के प्रथम निर्विकल्पक और सविकल्पक रूप मे विभाग कर सविकल्पक मे प्रमा और अप्रमा नाम से दो भेद किये हैं।[1]
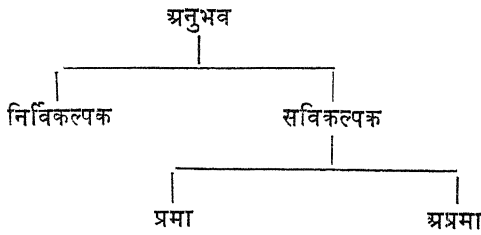
चूंकि निर्विकल्पक ज्ञान में प्रकारता (विशेषणता) ज्ञान नहीं होता, अतएव इसे किसी ज्ञान विशेष प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति अथवा शाब्द में नहीं रखा जा सकता; इसलिए इसे इन्द्रियबोध या संवेदना कहना अधिक उचित होगा। प्रत्यक्ष तो केवल सविकल्प ज्ञान को ही कहना उचित होगा। काण्ट ने भी अनुभव (Apprehension) के दो भेद स्वीकार किये हैं: Percept proper एवं Sensation proper जो क्रमशः सविकल्पक और निर्विकल्प के समानान्तर कहे जा सकते हैं। सवेदना को पृथक् करते हुए प्रत्यक्ष का यह संकुचित अर्थ अधिकांश पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी स्वीकार किया है,[2] उनके अनुसार **निर्विकल्प** संवेदना (Sensation) शान्त मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ एक परिवर्तन मात्र है, जिसमें मस्तिष्क को किसी बाह्य वस्तु का साक्षात्कार नहीं होता। जबकि प्रत्यक्ष (Perception) किसी बाह्य वस्तु के गुणो के सम्बन्ध में इन्द्रियों के माध्यम से उत्पन्न हुआ ज्ञान है। ये परिभाषाए रेड (Reid) तथा काण्ट (Kant) द्वारा स्थापित की गई हैं तथा सामान्यतः दार्शनिक समाज में स्वीकृत हैं। इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान को संवेदन तथा सविकल्पक को प्रत्यक्ष कहा जा सकता है।

---

1. Nates on Tarkasangraha by. M. R. Bodas P. 219
2. Vocabulary of Philosophy by Fleming P. 443.

किन्तु यह समाधान आंशिक ही कहा जाएगा; क्योंकि माध्यम के भेद से अनुभव के अनेक भेद हैं : यदि वह बाह्य वस्तु के सम्बन्ध में है साथ ही इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य है, तो उसे **प्रत्यक्ष** कहा जाता है, यदि वह दो पूर्व अनुभवों पर आधारित है तो **अनुमिति**, दो पदार्थों की तुलना पर आधारित होने पर **उपमिति** एवं शब्दार्थ सम्बन्ध पर आश्रित होने की स्थिति में उसे **शाब्द** ज्ञान कहते है; इस प्रकार **सविकल्पक** इन सभी से भिन्न सिद्ध होता है, क्योंकि '**इन्द्रियसन्निकर्षजन्य**' रूप लक्षण उसमें घटित नही होता। यदि कुछ अंशों में इन्द्रिय सन्निकर्ष **सविकल्पक प्रत्यक्ष** के प्रतिकारण है, तो वह **अनुमिति के** प्रति भी आंशिक रूप से कारण है। इतना अन्तर अवश्य है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष के लिए जिन अनेक अनुभवों (बोध) की आवश्यकता है, उनकी उपलब्धि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के द्वारा ही होती है, जबकि अनुमिति में उनकी उपलब्धि के लिए केवल इन्द्रिय सन्निकर्ष कारण नही हैं। वहां हेतु का साक्षात्कार प्रत्यक्ष द्वारा होता है, तो व्याप्ति का ज्ञान, जिसके बिना हेतु का हेतुत्व सिद्ध नहीं हो सकता, सन्निकर्ष द्वारा न होकर स्मरण द्वारा होता है। **सविकल्पक** प्रत्यक्ष की इस प्रक्रिया में निर्विकल्पक को विभिन्न अनुभवों के सम्बद्ध ज्ञान के प्रति अवान्तर व्यापार कह सकते हैं, क्योकि उसकी उत्पत्ति सन्निकर्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष के मध्य में होती है।[1]

इस प्रकार न्याय शास्त्र के सिद्धान्तों में परस्पर विरोध सामान्य अनुभवो पर आधारित कुछ संशोधनो के साथ दूर किये जा सकते हैं। केशवमिश्र ने सम्भवतः इस प्रत्यक्ष के प्रसङ्ग में आने वाली इन समस्याओं के समाधान के लिए **करण**, **व्यापार** और **फल** के कुछ वर्ग प्रस्तुत करते हुए समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, यद्यपि परवर्ती विद्वानों द्वारा उनका अनुगमन नहीं किया गया है। उनके अनुसार यदि निर्विकल्पक ज्ञान **फल** है, तो इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष **व्यापार** तथा इन्द्रिय **करण** होगा। यदि सविकल्पक ज्ञान **फल** हो तो निर्विकल्पक ज्ञान **व्यापार** एवं इन्द्रिय तथा विषय का सन्निकर्ष **करण** होगा तथा यदि ज्ञान से उत्पन्न इच्छा **फल** हो तो सविकल्पक ज्ञान **व्यापार** तथा निर्विकल्पक ज्ञान

---

१. तर्कभाषा पृ० २०।

करण होगा।* किन्तु इस प्रक्रिया में निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान को समान कोटि में रखा जाना सम्भव न होगा। साथ ही सविकल्पक के प्रति इन्द्रिय को प्रत्यक्ष प्रमाण न कह सकेंगे, जैसाकि अनेक नैयायिक स्वीकार करते है।[1]

पूर्व पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि न्यायशास्त्र में इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को **प्रत्यक्ष ज्ञान** माना जाता है। इन्द्रियों से तात्पर्य यहां ज्ञानेन्द्रियों से है। ज्ञानेन्द्रिया पांच हैं: **नेत्र, त्वचा, श्रोत्र, घ्राण** एवं **रसना**। इनके अतिरिक्त **मन** ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों ही है, उसे भी प्रत्यक्षज्ञान के प्रति हेतु माना जाता है। सन्निकर्ष भी छः प्रकार का है: **संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय** और **विशेषणविशेष्यभाव**।[2] इनमें से तीन संयोग समवाय और विशेषणविशेष्य-भाव को मूल (आधार भूत) सन्निकर्ष तथा शेष तीन को परम्परया सम्बन्ध कह सकते हैं। इनमें से संयोग द्वारा अर्थात् इन्द्रियों का विषय से संयोग होने पर घट का प्रत्यक्ष होता है। चक्षु से सयुक्त घट में घटगत गुण समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहते हैं, चूकि चक्षु स्वय द्रव्य है, एव उसका घट में विद्यमान रूप से साक्षातसम्बन्ध (संयोग सम्बन्ध) सम्भव नही है, अतः संयोग द्वारा उसका (घट रूप का) प्रत्यक्ष भी सभव नही है, फलतः रूप के प्रत्यक्ष में चक्षु और घट के बीच विद्यमान **संयोग** तथा घट और रूप के बीच में विद्यमान **समवाय** सम्बन्ध को समन्वित रूप से **संयुक्तसमवाय** सन्निकर्ष नाम से कारण माना जाता है। इसी प्रकार घट रूप में विद्यमान रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष के लिए, चूकि रूप और रूपत्व के मध्य एक **समवाय** सम्बन्ध और बढ़ जाता है, अतः **संयुक्त-समवाय** एवं **समवाय** को समन्वित रूप से, **संयुक्तसमवेतसमवाय** सन्निकर्ष के नाम से कारण स्वीकार किया जाता है। घट में विद्यमान **घटत्व जाति** तथा घटरूप में विद्यमान **रूपत्व** जाति का प्रत्यक्ष भी चक्षु द्वारा ही होता है, इसके सम्बन्ध में नैयायिकों का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि जिस द्रव्य

* **करण**	→ **व्यापार**	→ **फल**
(१) इन्द्रिय	→ सन्निकर्ष	→ निर्विकल्पक ज्ञान
(२) सन्निकर्ष	→ निर्विकल्पक ज्ञान	→ सविकल्पक ज्ञान
(३) निर्विकल्पक ज्ञान	→ सविकल्पक ज्ञान	→ इच्छा (ज्ञानजन्य इच्छा)

१. तर्क संग्रह पृ० ८४

२. कणाद रहस्यम् पृ० ८९।

अथवा गुण का जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, उस द्रव्य अथवा गुण में विद्यमान जाति समवाय और अभाव का भी उस इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता है ।[१] कर्ण कुहर में विद्यमान आकाश ही नैयायिकों के मत में श्रोत्र इन्द्रिय है, शब्द आकाश का गुण है, अतः दोनों के बीच समवाय सम्बन्ध है, फलतः श्रोत्र इन्द्रिय और शब्द के बीच भी **समवाय** सन्निकर्ष होगा, इस प्रकार शब्द के प्रत्यक्ष में श्रोत्र इन्द्रिय एवं विषय शब्द के मध्य मे विद्यमान समवाय सन्निकर्ष ही कारण है । शब्द में विद्यमान शब्दत्व जाति उसमें समवाय सम्बन्ध से रहती है, अतः श्रोत्र और शब्दत्व के बीच **समवेतसमवाय** (समवाय+समवाय) सम्बन्ध होगा ।

इस प्रसग में एक बात विचारणीय है कि ऊपर की पक्तियों में कहा गया है, 'श्रोत्र इन्द्रिय आकाशस्वरूप है', किन्तु क्या इसीप्रकार चक्षुको अग्नि, घ्राण को पृथिवी, त्वचा को वायु तथा रसना को जल नही माना जा सकता ? नैयायिकों की ओर से इसका उत्तर है नहीं । इसका कारण यह है कि इन चारों द्रव्यों में विद्यमान विशेषगुण अथवा प्रधान गुणों की सत्ता इन्द्रिय की स्थिति मे प्रत्यक्ष नही होती जबकि श्रोत्र मे शब्द की सत्ता रहती ही है, अतएव श्रोत्र को आकाशरूप ही माना जाता है, आकाश का विकार नहीं, किन्तु चक्षु आदि को अग्नि आदि न मानकर उनका विकार माना जाता है । इसीलिए कर्ण कुहर में विमान आकाश ही श्रोत्र है' ऐसी श्रोत्र की परिभाषा की जाती है ।[२]

प्रत्यक्ष के प्रसंग में एक बात स्मरणीय है कि नैयायिकों के मत में किसी द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिए उसमें उद्‌भूतरूप अथवा उद्‌भूतस्पर्श का होना अनिवार्य है, अन्यथा उस द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; इसके फलस्वरूप इस मत में त्वक् इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष की प्रक्रिया वही है, जो नेत्रजन्य प्रत्यक्ष की है; शेष तीन इन्द्रियां घ्राण रसना और श्रोत्र द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं करातीं, अपितु इनके द्वारा द्रव्य में विद्यमान गुणों का ही प्रत्यक्ष होता है । वशेषिकों अथवा प्राचीन नैयायिकों का मत इससे भिन्न है, वे केवल चक्षु द्वारा ही द्रव्य का प्रत्यक्ष मानते हैं, इनके अनुसार **त्वक्** इन्द्रिय भी घ्राण आदि के समान

---

१. तर्क कौमुदी पृ० १०   २. वही पृ० ८४

केवल गुण की ही ग्राहक है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय (नव्य नैयायिकों के अनुसार चक्षु और त्वक्-इन्द्रिय) द्वारा द्रव्य और उसमें विद्यमान गुण, क्रिया, जाति एवं अभाव का प्रत्यक्ष होता है, तथा शेष इन्द्रियों द्वारा केवल गुण, क्रिया, जाति एवं उसमें विद्यमान अभाव का प्रत्यक्ष होता है। 'द्रव्य का प्रत्यक्ष केवल चक्षु द्वारा अथवा चक्षु और त्वचा द्वारा ही होता है' इस मान्यता का कारण प्राचीन नैयायिकों द्वारा द्रव्य प्रत्यक्षमात्र के प्रति उद्भूत रूप तथा नव्यनैयायिकों द्वारा उद्भूतरूप एव उद्भूतस्पर्श को कारण स्वीकार करना है।

भाषा परिच्छेदकार विश्वनाथ ने दोनो के मध्य का मार्ग अपनाया है। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक उद्भूत रूपयुक्त द्रव्य का प्रत्यक्ष त्वक् इन्द्रिय एवं चक्षुइन्द्रिय दोनो से होता है, किन्तु इस प्रत्यक्ष में, भले ही वह त्वक् इन्द्रिय द्वारा किया जा रहा हो, उद्भूतरूप अवश्य ही कारण होता है[1] इसी प्रकार विश्वनाथ के मत में अन्य वाह्य इन्द्रियो से भी प्रत्यक्ष उसी स्थिति में होगा, जबकि उस द्रव्य में **उद्भूतरूप** विद्यमान हो। इस मान्यता के अनुसार परमाणुगत रूप रस गन्ध स्पर्श आदि का प्रत्यक्ष नही होगा, क्योंकि परमाणु में उद्भूतरूप विद्यमान नही है। किन्तु इसे उचित कहना तो उस स्थिति मे ठीक होगा, जब आकाश गत शब्द अथवा वायुगत स्पर्श को प्रत्यक्ष न माना जाता, क्योंकि आकाश एवं वायु मे उद्भूतरूप विद्यमान नही है। किन्तु आकाश गत शब्द आदि एवं वायु गत स्पर्श आदि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता यह उन्हें कथमपि मान्य नहीं है। यही कारण है विश्वनाथ उद्भूत रूप को प्रत्यक्षमात्र के प्रति कारण न मानकर केवल द्रव्य प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानते हैं। इस प्रकार इस मत में वायु को प्रत्यक्ष न मानकर स्पर्शाश्रय अनुमेय माना जाता है, किन्तु वायुगत स्पर्श गुण को त्वक् ग्राह्य माना जाता है, साथ ही त्वचा को प्रत्यक्ष जनक इन्द्रिय माना जाता है।

इस प्रसग में यह स्मरणीय है कि विश्वनाथ के अनुसार त्वक् इन्द्रिय केवल उन्ही द्रव्यो का प्रत्यक्ष करती है, जिन मे उद्भूत रूप विद्यमान हो, किन्तु द्रव्यों में विद्यमान उन गुणों के लिए जिनका कि त्वचा द्वारा प्रत्यक्ष किया जाना है; यह अनिवार्य नही है कि उनके आश्रय द्रव्य में रूप हो अथवा उनका प्रत्यक्ष होता हो इसीलिए इनके मत मे वायु में उद्भूत रूप न होने से उसका तो प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु तद्गत

---

१. (क) भाषा परिच्छेद ५६, (ख) न्याय मुक्तावली पृ० २४३

स्पर्श आदि गुणों का प्रत्यक्ष होता है। जबकि नव्यनैयायिक उद्भूतरूप अथवा उद्भूत स्पर्श में किसी की भी सत्ता रहने पर द्रव्य का प्रत्यक्ष स्वीकार करते है; अतः इनके मत में वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता ही है।

आकाश में न तो उद्भूत रूप है और न उद्भूत स्पर्श, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं होता; किन्तु उसमें विद्यमान शब्द के द्वारा जो कि प्रत्यक्ष का विषय है, उसका अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार मानस प्रत्यक्ष भी केवल सुख दुःख आदि गुणों का ही होगा, आत्मा का नही। आत्मा तो सदा अनुमेय है, प्रत्यक्ष का विषय नही, यह वैशेषिकों की मान्यता है। किन्तु उद्भूतरूप अथवा उद्भूतस्पर्श को द्रव्य प्रत्यक्ष में अनिवार्य रूप से आवश्यक मानते समय, नैयायिको का प्रत्यक्ष से तात्पर्य बाह्य प्रत्यक्ष से है, मानस प्रत्यक्ष से नहीं।[1] इसलिए उनके मत में आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता ही है।[2]

वैशेषिक मत में प्रत्यक्ष के हेतु के रूप में पहले गिनाये हुए छ सन्निकर्षों में प्रथम पांच (संयोग, सयुक्तसमवाय, सयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, और समवेत समवाय) केवल चार पदार्थो का (द्रव्य गुण कर्म और सामान्य का) ही प्रत्यक्ष कराते है। परमाणु का धर्म होने के कारण एवं परमाणु में उद्भूत रूप न होने के कारण, विशेष का प्रत्यक्ष नही होता। इसीप्रकार समवाय का भी वैशेषिकमत में प्रत्यक्ष नही हो पाता, क्योंकि द्रव्यगत रूप क्रिया एवं जाति आदि तो द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, अतः उनका प्रत्यक्ष तो सयुक्तसमवाय, अथवा संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष से हो जाता है, किन्तु द्रव्य में समवाय तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है, एवं तादात्म्य नामक कोई सन्निकर्ष है नहीं, अतः उनके मत में समवाय का प्रत्यक्ष सम्भव नही है।

अभाव का प्रत्यक्ष संयोग अथवा समवाय से सम्भव नहीं है, क्योंकि अभाव कोई द्रव्य नही है, जो किसी अधिकरण में स्वयं रहे, अतएव इसका इन्द्रिय से सयोग सम्भव नहीं है; चूंकि यह कोई गुण क्रिया अथवा जाति नही है, जो द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रह सके, अतः इसका परम्परया (संयुक्त समवाय और सयुक्तसमवेतसमवाय) सम्बन्ध भी सम्भव नहीं हो सकता। चूंकि नैयायिकों ने इसे एक धर्म माना है, जो किसी द्रव्य आदि अधिकरण

---

१. न्याय मुक्तावली पृ० २४३, २. (क) वही पृ० २५१
(ख) भाषा परिच्छेद ५०

में रहता है, इसलिए 'भूतल घट के अभाव से युक्त है' (घटाभाववद् भूत-लम्) इस प्रत्यभिज्ञा में घट का अभाव भूतल के एक विशेषण के रूप में संगृहीत होता है, तथा घट उस अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है । चूंकि अभावें के अधिकरण और अभाव के बीच संयोग समवाय अथवा इन दोनो के समन्वय से परम्परया कोई सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता (जैसा कि ऊपर की पक्ति में सिद्ध किया गया है) अतः अभाव के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया द्रव्य आदि पदार्थों के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के समान न होकर एक विशिष्ट प्रक्रिया सिद्ध होती है ।

अभाव के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया :—सर्व प्रथम भूतल आदि अधिकरण से जहां किसी वस्तु का अभाव प्रत्यक्ष करना होता है, नेत्र आदि इन्द्रियो का संयोग होता है, भूतल मे घटाभाव प्रत्यक्ष के समय भो नेत्र और भूतल संयुक्त होंगे; साथ ही भूतल और घटाभाव का सम्बन्ध विशेषणविशेष्य-भाव नेत्रेन्द्रिय से सम्बन्ध का माध्यम होगा, इस प्रकार नेत्र आदि इन्द्रिय एवं घटाभाव का सम्बन्ध मिलकर सयुक्तविशेषणता (संयोग+विशेषणता) अथवा संयुक्तविशेषणविशेष्यभाव (संयोग+विशेषणविशेष्यभाव) सम्बन्ध प्राप्त होता है । घटाभाव के साथ चक्षु के सम्बन्ध को ही दूसरे शब्दों में इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता अथवा इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यता भी कह सकते है । इस प्रकार 'घटाभाव युक्त भूतल है' (घटाभाववद् भूतलम्) इस प्रतीति में, जहां भूतल विशेष्य रूप से प्रतीत होता है, इन्द्रियसंयुक्तविशेष-णता; तथा 'भूतल में घटाभाव है' (भूतले घटाभावः), इस प्रतीति में, जहां घटाभाव विशेष्य एवं भूतल विशेषण के रूप मे प्रतीत होता है, संयुक्त-विशेष्यता सन्निकर्ष होगा । इसप्रकार अभाव प्रत्यक्ष में विशेषण विशेष्य-भाव सन्निकर्ष कारण होगा ।

पूर्व पंक्तियों में भूतल में विद्यमान घटाभाव के प्रत्यक्ष के सम्बन्ध पर विचार किया गया है । भूतल से चूकि नेत्र का संयोग होता है, अतः इस सम्बन्ध को **संयुक्तविशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध** कहा गया है । भूतल में विद्य-मान रूप में यदि घटाभाव अथवा रसाभाव का प्रत्यक्ष करें तो नेत्र और भूतल का संयोग सम्बन्ध, भूतल और रूप का समवाय सम्बन्ध, तथा रूप और अभाव (घटाभाव या रसाभाव) का **विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध** होने से समन्वित रूप में **संयुक्तसमवेतविशेषणविशेष्यभाव** सम्बन्ध होगा । इसी प्रकार भूतलगत रूप में विद्यमान रूपत्व जाति में क्रिया के अभाव का प्रत्यक्ष करते समय रूप और

रूपत्व के बीच सम्बन्ध के रूप में एक समवाय के और बढ़ जाने के कारण **संयुक्तसमवेतविशेषणविशेष्यभाव** सम्बन्ध माना जाएगा । शब्द में रूपाभाध प्रत्यक्ष के समय चूकि शब्द और श्रोत्र के बीच संयोग सम्बन्ध न होकर केवल समवाय सम्बन्ध है (क्योंकि कर्ण विवर मे विद्यमान आकाश को ही श्रोत्र कहते हैं) एवं शब्द और अभाव के मध्य विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है, अतः समष्टि रूप से **समवेतविशेषणविशेष्यभाव** सम्बन्ध होगा, इसी प्रकार शब्द में विद्यमान **शब्दत्व** जाति में क्रिया के अभाव का प्रत्यक्ष करने मे शब्द और आकाश, शब्द और शब्दत्व तथा शब्दत्व और क्रियाभाव के सम्बन्धों को समन्वित कर **समवेत-समवेतविशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध** होगा । इस प्रकार यद्यपि विशेषणविशेष्यभाव के अनेक भेद सभव हैं, किन्तु यहा समष्टि रूप से ही उस का संकेत किया गया है ।

इस अभाव प्रत्यक्ष के प्रसंग में एक प्रश्न विचारणीय है कि 'क्या आकाश में रूप के अभाव' का प्रत्यक्ष होगा ? नैयायिको का उत्तर है नही । क्योकि आकाश से किसी इन्द्रिय का संयोग नहीं हो सकता । श्रोत्र इन्द्रिय यद्यपि आकाश स्वरूप ही है, किन्तु उसकी इन्द्रियता केवल कर्णविवर में वर्त्तमान आकाश तक ही है, उससे बाहर नही, अतः इस अभाव का प्रत्यक्ष न होकर केवल अनुमान से ही इसकी प्रतीति होगी । इस अनुमान की प्रक्रिया यह होगी 'आकाश में रूप का अभाव है, रूप की प्रतीति न होने से, जहां जहां रूप होता है, वहां वहां उसकी प्रतीति होती है, जैसे घट मे रूप; यहां चूकि रूप की प्रतीति नही होती, अत. यहां (आकाश मे) रूप का अभाव है ।

प्रत्यक्ष के प्रसंग में एक अन्य प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जैसे:— घटाभाव प्रत्यक्ष में दो सन्निकर्ष **संयुक्तविशेष्यता** और **संयुक्तविशेषणता** को स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार घट प्रत्यक्ष मे दो सन्निकर्ष क्यों न स्वीकार किये जाए ? जब कि 'भूतल में घड़ा है' (भूतले घटः) तथा 'घड़े से युक्त भूतल है, (घटाभाववद् भूतलम्) ये दो पूर्णतया भिन्न ज्ञान है । इसका समाधान यह है कि घट के अभाव स्थल में भूतल चाहे विशेष्य हो या विशेषण इन्द्रिय का संयोग भूतल से ही होगा, तथा भूतल और अभाव के सम्बन्ध का ही प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में स्थान होगा, जब कि घट प्रत्यक्ष में प्रत्येक स्थिति में घट से चक्षु संयोग होगा ही, अतः उस ज्ञान में जहां भूतल विशेष्य और घट विशेषण है, एवं उस में भी जहां

घट विशेष्य और भूतल विशेषण है, दोनों ही ज्ञानों में भूतल और घट दोनों ही द्रव्यों से नेत्र इन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध अवश्य ही होगा, अतः दोनों के ही प्रत्यक्ष के अवसर पर संयोग सन्निकर्ष ही होगा, अभाव प्रत्यक्ष में यह संभव नहीं है, अत वहां दो सम्बन्ध मानना आवश्यक हो जाता है।

सन्निकर्ष के भेद

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि 'भूतल मे घट का अभाव है, इस ज्ञान मे अभाव विशेष्य है, अतः विशेष्यता सम्बन्ध, तथा 'भूतल घट के अभाव से युक्त है, इस ज्ञान मे अभाव विशेषण है, अत. विशेषणता सम्वन्ध है; फलत. विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध को **विशेष्यता** और **विशेषणता** नाम से पृथक् कहा जा सकता है। इस प्रकार **संयोग संयुक्त-समवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय** इन पाच भाव प्रत्यक्ष के सन्निकर्षो के साथ ही अभाव प्रत्यक्ष मे विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष को **संयुक्तविशेषणविशेष्यभाव, संयुक्तसमवेतविशेषणविशेष्यभाव, संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणविशेष्यभाव, समवेतविशेषणविशेष्यभाव, एवं समवेतसमवेतविशेषणविशेष्यभाव** इन पाच भेदो के रूप मे अथवा विशेषणता और विशेष्यता को पृथक् पृथक् करके **संयुक्त विशेषणता, संयुक्तविशेष्यता; संयुक्तसमवेतविशेषणता, संयुक्तसमवेतविशेष्यता, संयुक्त-समवेतसमवेतविशेषणता, संयुक्तसमवेतसमवेतविशेष्यता, समवेतविशेषणता,** समवेतविशेष्यता, **समवेतसमवेतविशेषणता,** एवं **समवेतसमवेतविशेष्यता** भेद से अनेक भेदों के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु प्रत्यक्ष के विषय 'अभाव' के एक होने के कारण, उसके प्रत्यक्ष के हेतु को सक्षेपतः **विशेषणविशेष्यभाव** नाम से एक सन्निकर्ष ही स्वीकार किया गया है।

अनुपलब्धि प्रमाण :—

अभाव की प्रतीति के लिए मीमासिको एवं वेदान्तियो ने अनुपलब्धि नामक नामक एक पृथक् प्रमाण स्वीकार किया है, जब कि नैयायिक केवल एक सन्निकर्ष मानकर ही काम चलाते हैं। इस सम्बन्ध मे मीमांसकों एव वेदान्तियो का कथन है कि भौतिक इन्द्रियों एवं अभाव का परस्पर सम्बन्ध

संभव नहीं है, अतएव इन्द्रियों द्वारा अभाव का प्रत्यक्ष भी संभव नहीं है। किन्तु नैयायिको की मान्यता है कि जिस द्रव्य का जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, उस द्रव्य में विद्यमान गुण क्रिया जाति एवं उसके अभाव का प्रत्यक्ष भी उस इन्द्रिय से ही होता है। जैसे चक्षुर्ग्राह्य पृथिवी के गुण **रूप** का, जाति **पृथिवीत्व** का, साथ ही पृथिवी में विद्यमान **रूपाभाव** का प्रत्यक्ष चक्षु द्वारा ही होगा। इतना अन्तर अवश्य है कि नैयायिकों के अनुसार अभाव प्रत्यक्ष के लिए **विशेषणविशेष्यभाव** नाम से अतिरिक्त सन्निकर्ष अवश्य माना जाता है। दोनों ने ही अपने अपने पक्ष मे लाघव दिखाने का प्रयत्न किया है।

किसी न किसी रूप में फिर भी नैयायिक अनुपलब्धि को स्वीकार अवश्य करते हैं, क्योंकि अभाव ऐसी वस्तु नही हे, जिसे स्वतन्त्र रूप से जाना जा सके, अपितु उसके ज्ञान के लिए घट एवं उसके आधार भूतल का पूर्व ज्ञान आवश्यक है। साथ ही यह भी निश्चित है कि जहा घट का आधार एवं घट प्रतीत होता है वहा **घटाभाव** का प्रत्यक्ष भी नही हो सकता; किन्तु जहां स्थिति विपरीत हो अर्थात् अधिकरण प्रतीयमान हो एव आधेय घट अप्रतीयमान हो, वहां घट की उपलब्धि न होना (अर्थात् अनुपलब्धि) घटाभाव का परिचायक होगा। इस प्रकार भूतल विशेष में घटाभाव के प्रत्यक्ष मे घट की अनुपलब्धि सहायक है। अब प्रश्न यह है कि यह अनुलब्धि क्या है ? इसे सामान्यत: घट की अप्राप्ति नहीं कहा जा सकता; क्योकि अन्धकार में जब घट की अप्रतीति होती है, हम उसे घटानुपलब्धि नही कह सकते। किन्तु जिस वस्तु की आशंका की जा रही है, उसका सर्वथा न होना ही अनुपलब्धि है[1], इसके लिए वस्तु की अप्रतीतिमात्र आवश्यक नहीं है, अपितु 'वस्तु की प्रतीति के लिए जो साधन अपेक्षित हैं, जो व्यापार अपेक्षित हैं, उनके रहते वस्तु की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) वस्तु का अभाव सिद्ध करती है। इस प्रकार अभाव प्रत्यक्ष के लिए वे सभी साधन आवश्यक है, जिन के द्वारा वस्तु के रहने पर उसका प्रत्यक्ष हो सकता हो।

अन्नंभट्टकृत अनुपलब्धि की उपर्युक्त व्याख्या का उनके टीकाकर नीलकण्ठ शास्त्री ने विरोध किया है, उनका कहना है कि 'तर्कित प्रतियोगिसत्व

१. तर्क दीपिका-पृ०८५

विरोधि' (अर्थात् जिस वस्तु की आशंका की जा रही है उसका न होना) के दो अर्थ हो सकते हैं : प्रथम यह कि 'किसी वस्तु की आशंकित जो स्थिति उसकी विरोधिनी ही अनुपलब्धि है,[१] अर्थात् एक क्षण के लिए हम वस्तु की स्थिति मान लिया करते है, पुनः वस्तु की स्थिति को न पाकर यह तर्क करते हुए कि यदि घट होता तो भूतल की भाति अवश्य प्रत्यक्ष होता ।[२] भूतल का प्रत्यक्ष ही चाक्षुष प्रत्यक्ष के सभी साधनो की उपस्थिति सिद्ध करता है; तथापि घट का प्रत्यक्ष न होना ही उसका अभाव सिद्ध करता है । इस प्रकार प्रथम घट की संशय पूर्ण स्थिति, चक्षु की सहायता से घटाभावरूप निश्चय में बदल जाती है । जो कल्पित घट का विरोध करता है, किन्तु वास्तविक घट का विरोध नही करता; अर्थात् यदि वस्तुतः घट होता, तो उसकी प्रतीति अवश्य होतो, किन्तु जो घट की प्रतीति कल्पना मात्र थी, वह इस प्रत्यक्ष से (घट के अप्रत्यक्ष से) खण्डित हो रही है, अतएव यहां वस्तुतः घट नही है ।[3]

वस्तुत: अनुपलब्धि की इन व्याख्याओ से स्वीकार्य समाधान नहीं हो पाता, क्योंकि आत्मा के गुण धर्म और अधर्म अप्रत्यक्ष हैं । यदि कोई आत्मा का प्रत्यक्षाभास करके यह कहता है कि आत्मा में धर्म और अधर्म का अभाव है, तो वह कथन असत्य होगा। इसीप्रकार भूतल पर प्रत्यक्ष के अविषय आकाश आदि का प्रत्यक्ष न होने के कारण उनकी अनुपलब्धि एवं फलस्वरूप उनका अभाव कहना असत्य होगा । इसलिए किसी वस्तु का अभाव सिद्ध करने के लिए अनुपलब्धि के साथ 'योग्य' विशेषण लगाना आवश्यक है। अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य पदार्थों की समस्त प्रत्यक्ष साधनों के रहने पर भी प्रतीति न होना अनुपलब्धि या उस पदार्थ का अभाव सिद्ध करता है ।

इस प्रकार नैयायिक वस्तु की अनुपलब्धि तथा विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष दोनों को स्वीकार करते हैं । जबकि मीमांसक अनुपलब्धि सहित केवल पांच प्रमाण ही स्वीकार करते हैं। फिर भी नैयायिकों का कथन है कि उनके पक्ष में अर्थात् वस्तु की अनुपलब्धि और विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष दोनों को स्वीकार करने में भी लाघव है, क्योंकि वस्तु की अनुप-

---

१. तर्क दीपिका प्रकाश २४४-४५ २. वही पृ० २४४

३. वही पृ० २४४

लब्धि तो अभाव पदार्थ ही है, उससे भिन्न नहीं, विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध भी विशेषण और विशेष्य के स्वरूप से भिन्न नहीं है, केवल एक व्यापार की कल्पना करनी होती है। इसलिए इस पक्ष मे गौरव नही है।[1] इसके विपरीत मीमांसको को एक कारण के साथ (जिसमे व्यापार भी सम्मिलित है) एक अतिरिक्त प्रमाण भो स्वीकार करना पड़ता है। वस्तुत भूतल मे घटाभाव का तो केवल इतना ही अर्थ है कि केवल भूतल है, उसमें अन्य कुछ भी नही है। इसप्रकार अनुपलब्धि की मान्यता तो दोनों पक्षो मे समान रूप से ही है, अन्तर केवल इतना है, एक उसे प्रमाण कहता है, और दूसरा केवल प्रतीति मात्र।

यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है कि प्रत्यक्षज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उत्पन्न होता है, एवं अभाव प्रत्यक्ष ज्ञान का ही विषय है, यह माना जाता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि अभाव ज्ञान का जनक एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं है, उसकी प्रतीति प्रत्यक्ष (अनुपलब्धि) अथवा शब्द प्रमाण से भी होती है। अनुमान द्वारा भी अभाव की प्रतीति हो सकती है। फिर भी मीमांसक और नैयायिक दोनों ही अभाव को प्रत्यक्षज्ञान का ही विषय मानते है, किन्तु इस प्रत्यक्ष के लिए वे प्रत्यक्ष प्रमाण को ही करण नही मानते।

वेदान्तपरिभाषा के अनुसार भी 'फलीभूत प्रत्यक्षज्ञान का करण प्रत्यक्ष प्रमाण ही हो, यह निश्चित नहीं है, जैसे 'तुम दसम हो यह प्रत्यक्ष ज्ञान उक्त वाक्य ज्ञान (शब्द प्रमाण) से, जो कि प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है, उत्पन्न होता है'।[2]

उक्त ग्रन्थ में ही इस प्रसङ्ग में एक नोट दिया गया है, जो स्मरणीय है कि 'नैयायिको के प्रमाण केवल भौतिक या स्थूल वस्तु के ही ज्ञान के करण हो पाते है। उससे केवल वस्तु का या गुणों का (रूप आदि का) ही ज्ञान प्राप्त होता है।' यही कारण है कि न्याय वैशेषिक दर्शन को वस्तुवादी दर्शन कहा जाता है; और इसीलिए अवस्तुवादी दार्शनिकों (सांख्य और वेदान्तियों) से इनका मतभेद है।' लॉक (Lock) के सिद्धान्त द्वारा इसकी आलोचना अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। उनके अनुसार ज्ञान दो भागों में विभाजित है: **बाह्यवस्तु सम्बन्धी इन्द्रियों से उत्पन्न एवं मन द्वारा अन्तः प्रसूत।**

---

१. तर्क किरणावली पृ० ८६ २. वेदान्त परिभाषा पृ० २५

बाह्य वस्तु सम्वन्धी प्रथम ज्ञान वह है, जब इन्द्रियां किसी प्रत्यक्ष योग्य वस्तु का साक्षात्कार कर उसका ज्ञान मस्तिष्क तक पहुचाती हैं, एवं मस्तिष्क उस ज्ञान को विविध विशेषताओ के अनुसार विभाजित करता है, जिसके फलस्वरूप हम इस निश्चय पर पहुचते हैं, कि अमुक वस्तु पीली, स्वेत लाल आदि, उष्ण शीतल कठोर और कोमल आदि है। दूसरे प्रकार का ज्ञान वह है, जो आत्मा और मन के सम्पर्क से स्वयं उत्पन्न होता है, वह ज्ञान वस्तु से सम्बद्ध नही होता, जैसे-सोचना सन्देह करना, विश्वास करना, जानना, इच्छा करना इत्यादि। यह मस्तिष्क में स्वयं ही उत्पन्न होता है। इन दोनो ज्ञानो में मूल अन्तर यह है कि प्रथम मे बाह्य वस्तुएं ही एक विचार (Idia) मस्तिष्क में उत्पन्न करती हैं, यह अन्य वस्तु सम्बन्धी होता है, स्वगत नही। इसके विपरीत दूसरे में मस्तिष्क स्वयं ही आत्मा को कुछ ज्ञान अर्पित करता है, जिसका सम्बन्ध बाह्य वस्तुओ से न होकर उन अनुभवो से होता है जो मस्तिष्क को प्राप्त हुए होते हैं।" [१]

लॉक के इन विचारो की उत्तर कालीन दार्शनिक काण्ट (Kant) ने आलोचना की है, और इधर न्याय वैशेषक के सन्निकर्ष सम्बन्धी सिद्धान्तो की वेदान्तियों द्वारा अलोचना की गयी है।

अनुमान

नैयायिक अभिमत द्वितीय प्रमाण अनुमान है, यह यद्यपि प्रत्यक्ष पर आश्रित है, प्रत्यक्ष के अभाव मे इसकी प्रमाणिकता भी सन्दिग्ध हो सकती है, तथापि नैयायिक अनुमान को प्रत्यक्ष से अधिक महत्व प्रदान करते हैं; जिसके फलस्वरूप यह उक्ति प्रसिद्ध हो गयी है कि 'प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध विषय को भी तर्क रसिक नैयायिक अनुमान से सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।[२]

अनुमान परामर्श के द्वारा अनुमिति ज्ञान को उत्पन्न करता है। अतएव **अनुमति परामर्श पर** आश्रित है, ऐसा भी कह सकते है। उचित **परामर्श** के उत्पन्न होते ही, तत्काल बाद अनुमिनि की उत्पत्ति आवश्यक है। इसीलिए

---

(1) Locke: Essay on Human Understanding Bk. II Ch.I Sec. 3-4

२. तत्व चिन्तामणि भाग २ पृ०-१८

अनुमति के प्रति परामर्श को व्यापार (प्राचीन मत मे) या करण (नव्य मत- में) कहा जाता है ।

न्याय शास्त्र की परम्परा में परामर्श का महत्व पूर्ण स्थान है, इसीलिए उत्तरवर्त्ती नैयायिकों ने अपना अधिकांश समय परामर्श और उसके अंग भूत **हेतु** या **लिङ्ग** तथा **व्याप्ति** के विचार में लगाया है । हेतु या लिङ्ग उसे कहते हैं, जो साध्य के साथ नियत रूप से रहता हो, और इसी कारण साध्य का साधक हो ।[1] **व्याप्ति** हेतु तथा साध्य के बीच विद्यमान नियत सहभाव (नियत साहचर्य) को कहते हैं ।[2]

अनुमान प्रक्रिया में जिन तीन का विद्यमान रहना अनिवार्यतः आवश्यक होता है, वे है : हेतु साध्य तथा व्याप्ति अर्थात् इन दोनो का सहभाव । इन में साध्य तो सदा ही अनुमान से प्राप्त होने वाला फल होगा, क्योंकि साध्य को सिद्ध करने के लिए अनुमान का आश्रय लिया जाता है । इसके साथ ही हेतु और साध्य के नियत सम्बन्ध का, जिसे व्याप्ति कहा जाता है, ज्ञान भी अनुमान के लिए अनिवार्यतः आवश्यक होता है । इन दोनो पर ही अनुमति ज्ञान आश्रित रहता है ।

अरस्तू (Aristotle) ने न्याय वाक्य (Syllogism) में दो अंग (Premises) माने हैं; (Major तथा Minor Premises इन दोनों को Middle term द्वारा सम्बद्ध किया जाता है, जो कि दोनों Premises में सामान्य है । अरस्तू के न्याय वाक्य (Sylogism) का मुख्य दोष यह है कि उसमें Major और Minor Premises को सम्बद्ध करने के लिए कोई तृतीय Premise नहीं है, जब कि न्याय-शास्त्र में हेतु और व्याप्ति को एक अन्य वाक्य द्वारा संबद्ध रखा जाता है, जिसके फलस्वरूप इसमें अरस्तू के न्याय वाक्य (Syllogism) की भांति अनुमिति की ओर छलांग नहीं लगानी पड़ती । इसमें हेतु और साध्य का पृथक् पृथक् विश्लेषण कर एक तृतीय अवयव से उसका सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं । इस तृतीय Premise को परामर्श करते हैं । इसके तत्काल बाद ही **अनुमिति ज्ञान** प्राप्त होता है, अतएव इसे अनुमिति का करण (व्यापार युक्त असाधारण कारण) माना गया है ।

---

१. न्यायदर्शन १. १. ३४. २. तर्क संग्रह पृ० ६१

परामर्शः—

ऊपर की पंक्तियों में कहा जा चुका है कि हेतु और व्याप्ति का समन्वय ही परामर्श है, किन्तु यह समन्वय दोनों को एक साथ रखकर अथवा उद्देश्य और बिधेय रूप से रखकर नही किया जाता, अपितु वाक्य में इनकी योजना विशेषण और विशेष्य के रूप में रखकर की जाती है, अर्थात् अनुमान वाक्य के परामर्श अंश में व्याप्ति को विशेषण के रूप में तथा हेतु को विशेष्य के रूप रखा जाता है। इस प्रकार व्याप्ति रूप विशेषण से विशिष्ट हेतु का ज्ञान ही परामर्श कहा जाता है।

अन्नभट्ट कृत परामर्श का लक्षण इस से कुछ भिन्न है, इनके अनुसार 'व्याप्ति विशेषण से युक्त पक्षधर्मता का ज्ञान परामर्श कहाता है;[1] चूंकि हेतुता को कुछ विशेष स्थितियों में पक्षधर्मता कहा जा सकता है तथा केवल हेतुता ज्ञान को ही परामर्श नही कहा जा सकता, अत. व्याप्तिविशिष्ट तथा पक्षधर्मता विशिष्ट हेतु ज्ञान को परामर्श कहा जा सकता है; वस्तुतः हेतु सदा ही व्याप्ति विशिष्ट होता है, तथा एक व्याप्ति वाक्य द्वारा उसे स्पष्ट किया जाता है। अरस्तू के न्याय वाक्य (Syllogism) में भी Magor Premise द्वारा इसका ही स्पष्टीकरण रहता है, जैसे 'जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है; तथा सभी मनुष्य मर्त्य है। इन उदाहारणों में हम धूम और अग्नि का तथा मनुष्यत्व और मर्त्यत्व का नियत साहचर्य देखते है, अर्थात् जिस प्रकार 'धूम वह्निव्याप्यत्व विशिष्ट है' उसी प्रकार 'मनुष्यत्व मर्त्यव्याप्यत्व विशिष्ट है, किन्तु इस साध्यव्याप्यत्वविशिष्ट हेतु ज्ञान से साध्य का ज्ञान तब तक नहीं होता, जब तक पक्ष इस प्रकार के ज्ञान से युक्त है, यह ज्ञान न हो जाए। न्याय के अनुसार इसे ही **पक्षधर्मताज्ञान** तथा अरस्तू के अनुसार Minor Premise कहते है : पक्ष धर्मता का अर्थ है? 'पक्ष में हेतु की विद्यमानता। यह अनुमान के लिए आवश्यक इसलिए है : कि व्याप्ति सम्बन्धयुक्त हेतु पक्ष में साध्य की सत्ता को तब तक सिद्ध न कर सकेगा, जब तक कि पक्ष में (जहां साध्य को सिद्ध करना है, हेतु स्वयं विद्यमान है, यह सिद्ध न हो।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि अरस्तू के Magor तथा Minor Premise दो पृथक् ज्ञान हैं, जिन्हें एक विशेष ज्ञान द्वारा सम्बद्ध किया

---

१. तर्क संग्रह पृ० ६०

जाता है. जिसके फलस्वरूप यह प्रतीति होती है कि हेतु अपने अटल साथी साध्य के साथ एक विशेष स्थल में विद्यमान है। इसे ही न्याय की भाषा में 'वह्नि व्याप्यधूमवानय पर्वत, कहा जा सकता है। मुख्य रूप से नैयायिकों के अनुमान और अरस्तू के Syllogism में निम्नलिखित अन्तर है.— अरस्तू के Major और Minor Premises क्रमश: नैयायिकों की व्याप्ति एवं पक्षधर्मता ज्ञान ही है; किन्तु इनके समन्वय के क्रम में दोनों में मत भेद है : अरस्तू पहले Major Premise में हेतु का ज्ञान प्राप्त करते हैं। तदनन्तर Minor Premise में व्याप्ति सहित हेतुका दर्शन करते हैं। इस प्रकार वे सर्व प्रथम व्याप्ति का, एक सामान्य स्थिर सत्यका, दर्शन करते है, तदन्तर उस वास्तविकता के साथ हेतु का ज्ञान प्राप्त करते है। नैयायिक इस क्रम को स्वीकार नहीं करते। वे सर्व प्रथम पक्ष में हेतु को सिद्ध कर पुनः साध्य के साथ उसके नियत साहचर्य का ज्ञान प्राप्त करते है। इस प्रकार **व्याप्ति पक्षधर्मता परामर्श** अरस्तू तथा **पक्षधर्मता व्याप्ति परामर्श** नैयायिको का स्वीकृत क्रम है। फलतः अरस्तू के मत में **पक्ष-धर्मताविशिष्टव्याप्तिज्ञान** एवं न्याय मत में **व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान** अनुमति का जनक है। परिणाम स्वरूप अरस्तू के अनुसार न्याय वाक्य का क्रम निम्नलिखित होगा: —प्रत्येक मनुष्य मरणधर्मा है; सुकरात एक मनुष्य है; सुकरात मरणधर्मा है। नैयायकों की भाषा मे इस न्याय वाक्य का स्वरूप निम्नलिखित होना चाहिए: सुकरात मरणधर्मा है, चूंकि वह मनुष्य है और प्रत्येक मनुष्यमरण धर्मा है। इसलिए सुकरात मरणधर्मा है।

यहां हम देखते हैं कि अरस्तू की प्रक्रिया न्याय शास्त्र की परम्परा से भिन्न है। वे (नैयायिक) फलप्राप्ति के तत्काल पूर्व परामर्श (व्याप्ति एवं पक्षधर्मता के नियत सम्बन्ध का ज्ञान) आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार इसी कारण पूर्व प्रक्रिया प्रशस्त नही है, इसे प्रशस्त बनाने के लिए इसका रूपान्तर निम्नलिखित रूप से किया जाना चाहिए :— 'सुकरात मरणधर्मा है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह मनुष्य है (हेतु), जो मनुष्य है वे सभी मरण धर्मा हैं, जैसे सिकन्दर (उदाहरण); सुकरात भी इसी प्रकार मरणधर्मात्व के नियत सहचारी मनुष्यत्व से युक्त है (उपनय); इसलिए सुकरात मरण-धर्मा है (निगमन)।' इस प्रक्रिया में चतुर्थ अवयव (उपनय) परामर्श है, इसके तत्काल बाद ही पक्ष में साध्य का निश्चय हो जाता है।

पूर्व पक्तियों में हमने अरस्तू तथा न्याय की अनुमान प्रक्रिया के अन्तर को देखा है, यद्यपि यह न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिए निस्सन्देह सरल नही है, किन्तु इसके ज्ञान के बिना भारतीय न्यायशास्त्र की दार्शनिक प्रक्रिया से पूर्ण परिचय हो सकना भी संभव नहीं। यहा स्मरणीय है कि न्याय शास्त्र की अनुमान प्रक्रिया परामर्श पर पूर्णतः आश्रित है, इसीलिए इस शास्त्र में परामर्श अत्यन्त महत्व पूर्ण है। साथ ही उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है : कि परामर्श की प्रक्रिया अत्यन्त स्वाभाविक नही है। वह न्यायशास्त्र की अपनी स्वतन्त्र प्रक्रिया पर ही आश्रित है।

अनुमान:— केशव मिश्र के अनुसार जिससे अनुमिति ज्ञान प्राप्त हो उसे अनुमान कहते है; चूंकि अनुमिति के प्रति असाधारण कारण लिङ्ग परामर्श है, अत: लिङ्ग परामर्श ही अनुमान है।[१] लिङ्ग परामर्श के लिए व्याप्ति अर्थात् हेतु और साध्य का नियत साहचर्य तथा पक्षधर्मता अर्थात् पक्ष में हेतु की विद्यमानता का ज्ञान का होना आवश्यक है।[२] इनमें व्याप्ति के द्वारा साध्यसामान्य हेतुसहचरित है, इस की सिद्धि होती है; जबकि पक्षधर्मता ज्ञान द्वारा पक्ष में हेतु की सत्ता का ज्ञान होता है, पुनः परामर्श द्वारा अर्थात् साध्य नियत-सहचारी हेतु को पक्ष में देखकर सहचारी साध्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार पक्ष में साध्य की विद्यमानता सिद्ध होती है।

वात्स्यायन के अनुसार 'जाने हुए हेतु के आधार पर साध्य का ज्ञान अनुमान कहाता है। अर्थात् लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध के आधार पर प्रत्यक्ष द्वारा अप्रत्यक्ष का दर्शन करना अनुमान है।[३] अन्नभट्ट के अनुसार 'नियत साहचर्य युक्त हेतु को पक्षधर्म मानने से (परामर्श से) जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुमिति है।[४] अनुमिति का उपर्युक्त लक्षण संशयोत्तर प्रत्यक्ष में भी अतिव्याप्त है, क्योंकि किसी दूर स्थित पुरुष को पूर्ण प्रकाश के अभाव में देखने पर सन्देह होता है : कि 'यह स्थाणु है' या 'पुरुष' ? इस अवसर पर हाथ, पैर आदि उन अवयवों को जो केवल मनुष्य में ही होते हैं, देखकर 'यह पुरुष है' यह निश्चयात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होना है। यहां हाथ पैर आदि का पुरुषत्व के साथ नियत सहचार तथा उनका उस सन्दिग्ध वस्तु (पक्ष) में होना क्रमश: व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान है। इस प्रकार उक्त लक्षण की यहां अतिव्याप्ति है। इसके अतिरिक्त

१. तर्क भाषा पृ० ७१
२. तर्क संग्रह पृ० ६३
३. वात्स्यायन भाष्य १. १. ३
४. तर्क संग्रह पृ० ६०

अनुमान का उपर्युक्त लक्षण सविकल्पक ज्ञान में भी अतिव्याप्त है, क्योंकि किसी वस्तु को देखते ही प्रथम वस्तु सामान्य की प्रतीति होती है, तदनन्तर विशेष धर्मों का दर्शन होने पर सविकल्पक ज्ञान होता है, यहां भी पूर्वज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से प्रतीत वस्तु मे नियतसहचारी विशेष धर्म का साक्षात्कार किया जाता है । इस प्रकार यहां भी अनुमिति के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। यही स्थिति (अतिव्याप्ति की उपस्थिति) उपमान और शब्द मे है, क्योंकि वहां भी प्रत्यक्ष अनुभूत गौ' और शब्द का ज्ञान वाक्य और शाब्द ज्ञान के प्रति कारण है उपमिति और शाब्द ज्ञान में उपस्थित अतिव्याप्ति को और उसकी अनिवार्यता को देखकर ही बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमिति से भिन्न उपमिति और शाब्द ज्ञान को स्वीकार नही करते । न्यायशास्त्र में उपर्युक्त अतिव्याप्ति निवारण के साथ ही उपमान आदि की स्वीकृति के लिए अनेक प्रमाण दिये गये है, जिनमें 'मैं उपमान द्वारा, शब्द द्वारा ज्ञान प्राप्त करता हूं (उपमिनोमि, शब्दतः प्रत्येमि) यह प्रतीतिविशेष मुख्य है । संशयोत्तर प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति निवारण के लिए तर्क दीपिका मे एक हेतु दिया गया है कि 'इनमें परामर्श और पक्षता सम्बद्ध नही है' जबकि अनुमिति ज्ञान के लिए इनका परस्पर संबद्ध होना नितान्त आवश्यक है ।

पक्षता:— सामान्य सिद्धान्त के आधार पर विशेष का ज्ञान अनुमिति है। जब हम कहते है कि 'देवदत्त मर्त्य है' तो इसी आधार पर कि मर्त्यत्व और मनुष्यत्व सहचारी धर्म है, तथा यह विशेष धर्मी पक्ष हैं। इसे ही द्रव्य, आधार अथवा स्थान आदि कुछ भी कह सकते है; इस पक्ष विशेष मे विद्यमान धर्म ही पक्षता है । इस धर्म के द्वारा ही 'पक्ष को अन्य पदार्थों से पृथक् किया जाता है, जैसे: जब हम पर्वत में वह्नि के साथ नियत रूप से रहने वाले धूम का साक्षात्कार करते है, तो उस समय वह सामान्य पर्वत से सर्वथा भिन्न हो जाता है ।

सामान्य रूप से पक्ष की परिभाषा करते हुए 'साधन करने की इच्छा के अभाव के साथ विद्यमान सिद्धि का अभाव पक्षता है, तथा पक्षता से युक्त पक्ष है' यह कहा गया है ।[१] पक्षता के इस लक्षण में विशेष्य 'सिद्धि का अभाव' रूप धर्मविशेष है । इस प्रकार यहां प्रकारान्तर से सिद्धि के अभाव

१. (क) न्याय मुक्तावली पृ० ३०९ । (ख) तर्क दीपिका पृ० ८९

से युक्त पक्ष है (सिद्ध्यभाववान्पक्षः) यह स्वीकार किया गया है। अब यहां यह विचारणीय है कि 'सिद्धयभाववान् पक्षः' के स्थान पर 'साध्य के अभाव से युक्त पक्ष है,' (साध्याभाववान्पक्षः) ऐसा क्यों नही कहते ? क्योंकि पक्ष पर्वत में अग्नि सिद्ध करते समय 'उसमें साध्य अग्नि का ज्ञान हमें नहीं है अथवा अग्नि ही सिद्ध नहीं है' ये दोनो ज्ञान समान प्रतीत होते हैं। वस्तुतः दोनों ज्ञान परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। जिस समय हमें पता है कि पर्वत में अग्नि है, किन्तु दूसरे को अग्नि का ज्ञान कराने के लिए परार्थानुमान करते है, उस स्थिति में पर्वत में साध्य (अग्नि) का अभाव नही होता, फिर भी पर्वत पक्ष ही कहा जाता है। अथवा प्रमाणान्तर से ज्ञात वस्तु की अनुमान से सिद्धि करने की इच्छा से अनुमान करने पर पर्वत में पक्षत्व अव्याप्त होने लगेगा; अतः पक्षता की यह विशिष्ट परिभाषा की जाती है कि 'सिद्ध करने की इच्छा के अभाव में जो सिद्धि का अभाव है, उसे पक्षता कहते है।'[1] इस प्रकार जहां प्रमाणान्तर से सिद्धि तो है, साथ ही सिद्ध करने की इच्छा भी विद्यमान है, वहा सिद्धि साधन करने की इच्छा के अभाव से युक्त अर्थात् सिषाधयिषा विरहविशिष्ट नही है, फलत वहा पक्षता होगी ही। इसके विपरीत संशयोत्तर प्रत्यक्ष में पक्षता न होगी, क्योकि प्रत्यक्ष द्वारा सशय की निवृत्ति हो जाने पर साधन की इच्छा ही विद्यमान न रहेगी। इस प्रकार प्रत्यक्षोत्तर अनुमान में यद्यपि सिद्धि विद्यमान है, किन्तु वह साधन करने की इच्छा से युक्त नही है।

पक्षता की उपर्युक्त परिभाषा सर्व प्रथम गगेशोपाध्याय ने 'तत्व **चिन्तामणि** में दी थी। किन्तु उन्होंने सिद्धि के साथ ही प्रत्यक्ष के अभाव को भी पक्षता कहा था। परवर्ती सभी न्यायग्रन्थों में प्रायः इसे ही स्वीकार किया जाता है।[2] **पक्षता** की इस सर्वमान्य परिभाषा में भी एक दोष की सम्भावना है कि एक व्यक्ति घर में मेघगर्जन को सुनकर आकाश मे बादल का ज्ञान करता है, किन्तु इस ज्ञान में अनुमिति का लक्षण अव्याप्त है क्योकि गर्जन शब्द सुनने के साथ ही अव्यवहित उत्तरकाल में उसे मेघ का ज्ञान हो जाता है, इसी कारण उसमें सिद्ध करने की इच्छा नही होती; कारण कि गर्जन शब्द का श्रवण एवं मेघज्ञान में इतना अन्तर नही रहता कि अनुमिति की प्रक्रिया की कल्पना भी की जा सके। प्रस्तुत ज्ञान को प्रत्यक्ष भी नहीं कहा

१. न्यायमुक्तावली पृ० ३०६ २. दिनकरी पृ० ३१६

जा सकता, क्योकि मेघ ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियों और मेघ का सन्निकर्ष नही है। इसीलिए उत्तरवर्त्ती नव्यनैयायिको ने प्राचीन लक्षण को छोड़कर 'जो **अनुमिति का उद्देश्य हो** वह पक्ष है' यह लक्षण स्वीकार किया है।[१] इसके विपरीत विश्वनाथ आदि विद्वानों ने 'अनुमिति का उद्देश्य होना'. अथवा 'अनुमिति का प्रयोजन होना, आदि लक्षणों को स्वीकार नही किया है। उनका कहना है कि 'सिद्ध करने की इच्छा रहने पर भी जिस सिद्धि के रहने पर अनुमिति न हो सके उस प्रकार की सिद्धि को विशिष्ट अनुमिति का प्रतिबन्धक मानना चाहिए।'[२] अन्नंभट्ट ने भी '**सन्दिग्ध साध्य से युक्तपक्ष** है'[3] यह कहते हुए सन्दिग्ध पद द्वारा सिद्धि का अभाव और **साधन की इच्छा** (सिषाधयिषा) दोनों की ओर सकेत किया है।

पक्षधर्मता :—परामर्श में जिसका ज्ञान किया जाता है, वही **पक्षधर्मता** है। दूसरे शब्दों मे **हेतु** का **पक्ष** में रहना **पक्षधर्मता** है।[४] यद्यपि पक्ष पर्वत में वृक्ष आदि अनेक वस्तुए विद्यमान हैं, किन्तु उन्हे पक्षधर्म न कहकर हेतु धूम को ही पक्षधर्म कहा जायगा। इसीप्रकार अग्नि के सहचारी आलोक आदि अनेक धर्म हैं, किन्तु उन्हें पक्षधर्म नहीं कहा जा सकता। साथ ही धूम सामान्य को भी **पक्षधर्म** नही कहा जा सकता, किन्तु जिस पक्ष (पर्वत शिखर आदि) में हम वह्नि की सिद्धि करना चाहते हैं, उस पर विद्यमान अविच्छिन्नमूल धूम **पक्षधर्म** कहा जाता है, यद्यपि धूममात्र वह्निव्याप्य है। उसका कारण यह है कि केवल अविच्छिन्नमूलधूम विशेष ही अग्नि ज्ञान के प्रति कारण है। तात्पर्य यह है कि जिसके ज्ञान से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो, वही पक्षधर्म होगा, क्योकि **पक्षधर्मता** के ज्ञान को **परामर्श** एव **परामर्श** से उत्पन्न ज्ञान को **अनुमिति** कहा जाता है। इस प्रकार पक्ष में रहनेवाले धर्म विशेष को ही **पक्षधर्म** कहते है। इसे ही नैयायिक भाषा में 'साधन करने की इच्छा के अभाव से युक्त सिद्धि का अभाव जिसमें है, उसके पर्वतत्व आदि धर्म से युक्त पक्षमें धूम इत्यादि का होना **पक्षधर्मता** कहाता है। (सिषाधयिषा विरह विशिष्टसिद्ध्यभावरूपा या पक्षता, तस्या अवच्छेदक यत्पर्वतत्वं ते-नावच्छिन्नो विषयो यस्य स धूमः तस्य भावः पक्षधर्मता)। नीलकण्ठ आदि

---

१. न्यायवोधिनी पृ० ४३ २. न्याय मुक्तावली पृ० ३११
३. तर्क संग्रह पृ० १०५ ४. वही पृ० ९२

के अनुसार इस **पक्षधर्मता** ज्ञान के साथ **व्याप्तिज्ञान** होने पर ही परामर्श होगा, एव अनुमिति हो सकेगी। इसीलिए वे 'व्याप्ति विशिष्ट **पक्षधर्मता के** ज्ञानको ही परामर्श मानते हैं,[१] जैसे: वह्नि से नियत सहचरित धूम से युक्त यह पर्वत है' इस ज्ञान को परामर्श कहेंगे इसके बाद ही 'पर्वत वह्नि से युक्त है' इस अनुमिति ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

व्याप्ति :—व्याप्ति (Invariable Concomitent) की परिभाषा जितनी आवश्यक है, उतनी कठिन भी है। सामान्य शब्दो मे **साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं**, जैसे : जहा जहा धूम है, वहां वहा अग्नि है। यहा साहचर्य का तात्पर्य हेतु एव साध्य का नियम पूर्वक एक साथ रहना है। यौगिक अर्थ के अनुसार **व्याप्ति** का अर्थ है : **व्याप्य-व्यापक भाव**। इनमे **व्यापक** अधिक देश में रहने वाले को तथा **व्याप्य** अल्पदेश में रहने वाले को कहते है। जहा दोनो धर्म समान देश में रहते हैं, वहां दोनों ही व्याप्य और व्यापक हो सकते हैं। इस प्रकार की व्याप्ति को समव्याप्ति कहते है; किन्तु समव्याप्ति के उदाहरण बहुत कम प्राप्त होते हैं। इस समव्याप्ति के अवसर पर हेतु और साध्य मे व्याप्य और व्यापक के लक्षण घटित नही होते, इसलिए व्याप्ति में व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध के स्थान पर साहचर्य सम्बन्ध को लक्षण मानना अधिक उचित है। इसीलिए अन्नंभट्ट आदि विद्वानों ने व्याप्ति का लक्षण करते हुए 'साहचर्य नियम को ही व्याप्ति कहा है।[२] इस साहचर्य नियम की व्याख्या करते हुए तर्कदीपिका में कहा गया है कि 'जहा जहा हेतु विद्यमान है, वहां वहां विद्यमान अत्यन्ताभाव का जो कभी प्रतियोगी न हो सके, ऐसे साध्य का समानाधिकरण होना ही **व्याप्ति** है,[३] जैसे : 'पर्वत वह्नि युक्त है, क्योकि वह धूम युक्त है, इस अनुमान में हेतु धूम के साथ समानाधिकरण रूप से रहनेवाला अत्यन्ताभाव घट का अत्यन्ताभाव है; उस वह्नि का समानाधिकरणत्व धूम में है; इस प्रकार धूम और वह्नि को समानाधिकरण कह जाएगा।

नील कण्ठ के अनुसार **व्याप्ति हेतु** का वह धर्म है, जो साध्य (वह्नि) के साथ रहता है; यह साध्य अर्थात् वह्नि, वह्नि के अवच्छेदक धर्म **वह्नित्व**

१. तर्क दीपिका प्रकाश पृ० २५५। २ तर्क सग्रह पृ० ६१

३. तर्क दीपिका पृ० ६२

से अवच्छिन्न (युक्त) होता है, इसीलिए साध्य कहाता है। यह अवच्छेदक धर्म हेतु के साथ एक अधिकरण में विद्यमान अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी में रहने वाला न होना चाहिए।[१] इस सम्पूर्ण प्रपञ्चात्मक भाषा का निष्कर्ष केवल यह है कि **'व्याप्यव्यापकभावसम्बन्ध ही व्याप्ति'** है। विश्वनाथ ने व्याप्तिके दो लक्षण दिये है: साध्य युक्त से भिन्न स्थल में जो सम्बन्ध न रहे वह **व्याप्ति** है,। यह लक्षण **केवलान्वयिहेतु** मे अव्याप्त है, क्योंकि वहा साध्य युक्त से भिन्न पदार्थ का मिलना सम्भव नहीं है, अतः उन्होंने दूसरा लक्षण दिया है. कि 'हेतु से युक्त अर्थात् पक्ष में विद्यमान अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी न हो सके, ऐसे साध्य का हेतु के साथ रहना व्याप्ति है।[२] विश्वनाथ के समकालीन शकरमिश्र ने भी व्याप्ति के इस लक्षण को ही शब्दान्तर से स्वीकार किया है[३]; सरलता की दृष्टि से उन्होने एक अन्य लक्षण भी किया है कि अनौपधिक सम्बन्ध ही व्याप्ति है।[४]

व्याप्ति के सामान्य रूप से दो भेद हो सकते है : **अन्वयव्याप्ति** और **व्यतिरेकव्याप्ति**। अन्वयव्याप्ति समान्यतः प्रदर्शित नियत साहचर्य है। इसके पुनः दो भेद किये जाते है : **पूर्वपक्षीयव्याप्ति** और **सिद्धान्तव्याप्ति**। इन दोनो के अनेक लक्षण किये गये है, किन्तु दोनों ही दूरूह हैं। इनमें सिद्धान्तव्याप्ति तुलनात्मक दृष्टि से कुछ सरल है। इनकी लक्षण परम्परा मे भारतीय न्याय-शास्त्र के इक्कीस सम्प्रदाय हो गये है, रघुनाथ और गदाधर के सम्प्रदाय इन में मुख्य है। इनमें भी परस्पर साम्य आदि की दृष्टि से पाच सम्प्रदायों के समूह को **पञ्चलक्षणी**, चौदह सम्प्रदायो के एक समूह को **चतुर्दशलक्षणी**, शेष दो मे से एक को **सिंहलक्षण** तथा द्वितीय को **व्याघ्रलक्षण** कहते है। ये सभी न्याय के प्रारम्भिक विद्यार्थी की बुद्धि से परे है, साथ ही अनावश्यक भी। इन सभी व्याप्ति लक्षणों में **नियतसाहचर्य** विद्यमान हैं, अतः नियत साहचर्य ही **व्याप्ति** है, ऐसा समझना चाहिए।

दूसरी व्याप्ति **व्यतिरेकव्याप्ति** है, इसका क्रम **अन्वयव्याप्ति** से ठीक विपरीत है; किन्तु दोनों का अर्थ एक ही है, जैसे 'जहां जहां धूम है वहां वहां अग्नि है, यह **अन्वयव्याप्ति** है, और जहां जहां अग्नि नहीं है वहां वहां धूम

---

१. तर्कदीपिकाप्रकाश पृ० २५८ २. भाषापरिच्छेद पृ० ६८-६९
३, उपस्कार भाष्य पृ० ९२ ४. वही पृ० ९२

भी नहीं है, यह व्यतिरेक व्याप्ति है। यहां दोनों का इतना ही अर्थ है कि धूम और अग्नि नियत सहचारी हैं। आचार्य उदयन के अनुसार 'साध्य जहां जहां नहीं है, वहां वहां व्यापक रूप से रहने वाले अभाव के प्रतियोगियों का नियत साहचर्य होना व्यतिरेकव्याप्ति है।' भाषापरिच्छेदकार विश्वनाथ के अनुसार 'हेत्वभाव स्थल में साध्याभाव को व्यापक देखकर नियत सहचरित अभाव व्यतिरेक व्याप्ति है। व्यतिरेकव्याप्ति के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि 'यह अन्वय व्याप्ति का ही भाषा की दृष्टि परिवर्तित रूप है, तो अनुचित न होगा।

प्रो० बेन (Bain) के अनुसार भी व्याप्ति के दो भेद हो सकते हैं अन्वय (Obverted) तथा व्यतिरेक (Conversion या Contraposition) **व्याप्ति**। जैसे All x is y. को by conversion : No. 'X' is not 'Y' (इसे सामान्यरूप से यों कह सकते हैं कि is=No, not) y is x. अथवा All man is mortal; को by obversion : No man is immortal; तथा by conversion : No immortals are man कहा जायगा। इस ढांचे में भारतीय उदाहरण 'जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है;' इस प्रकार रखा जा सकता है (by obversion) जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि का अभाव नहीं है; तथा जहां जहां वह्नि नहीं है, वहां वहां धूम का अभाव है।" (by conversion) इस प्रकार हम देखते हैं कि **व्यतिरेक** व्याप्ति **अन्वय** व्याप्ति का ही प्रकारान्तर से पुनर्वचन है। इससे अनुमिति में कोई अन्तर नहीं आता। कुछ स्थानों में जहां **अन्वयव्याप्ति** पूर्ण स्पष्ट नहीं होती, अर्थात् अत्यन्त व्यापक पक्ष होने से जहां उदाहरण नहीं मिल पाता, वहां **व्यतिरेकव्याप्ति** ही अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है। व्याप्ति के सामान्यतः भेदोपभेद निम्नलिखित हैं :—
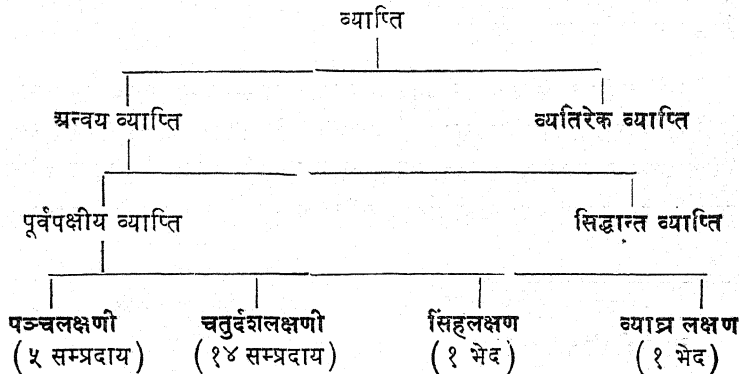
(इस प्रकार पूर्व पक्षीय व्याप्ति के सम्बन्ध में न्याय में इक्कीस सम्प्रदाय प्रचलित हैं ।)

न्यायशास्त्र की प्राचीन परम्परा में अनुमान के तीन भेद स्वीकार किये गये है : पूर्ववत्, शेषवत् एव सामान्यतोदृष्ट ।[१] वाचस्पति मिश्र के समय तक सांख्य सम्प्रदाय में भी अनुमान के यही तीन भेद स्वीकृत किये जाते थे ।[२] यद्यपि उन्होंने इन तीनों ही भेदों को **वीत** और **अवीत** दो भेदों के अन्दर समाहित करने का प्रयत्न किया था । बौद्ध दर्शन और नव्यन्याय की परम्परा में अनुमान के दो भेद स्वीकार किये गये है : **स्वार्थानुमान** और **परार्थानुमान** । अनुमान का यह विभाजन पूर्व विभाजन के अनुसार हेतु के अथवा व्याप्ति के किसी वैशिष्टच के आधार पर नही है, अपितु वाक्य योजना अथवा 'व्यूह रचना' को ध्यान में रखकर किया गया है । स्वार्थानुमान चूंकि स्वयं प्रतिपत्ता अपने ज्ञान के लिए करता है, इसलिए सम्पूर्ण प्रक्रिया समान होते हुए भी उस में वाक्य योजना को स्थान नहीं होता । जबकि परार्थानुमान में प्रतिपत्ता को पक्षमे साध्य के सम्बन्ध में थोड़ा भी सन्देह नही हुआ करता अपितु वह स्वयं निश्चय पर पहुंच कर दूसरे के ज्ञान के लिए अनुमान का आश्रय लेता है ।[3] उत्तरकालीन न्यायशास्त्र की परम्परा में अनुमान के ये दो ही भेद स्वीकार किये जाते हैं । **स्वार्थानुमान** और **परार्थानुमान** । **स्वार्थानुमान** वह है : जहां प्रमाता को महानस आदि मे धूम और अग्नि का नियत साहचर्य देखकर दोनों के नियत सम्बन्ध को निर्धारित करने के अनन्तर पर्वत में धूम का दर्शन करने पर प्रथम सन्देह होता है, एवं पुनः अग्नि और धूम के साहचर्य को स्मरण कर उसे व्याप्ति का स्मरण होता है कि जहां जहा धूम है वहां वहां अग्नि है, तदनन्तर 'यह पर्वत अग्नि वाला है' यह अनुमान होता है, इसे स्वार्थानुमान कहते है ।

जब स्वयं धूम से अग्नि का निश्चय कर किसी दूसरे को विश्वास दिलाने के लिए पांच अवयवों से युक्त वाक्य का प्रयोग किया जाता है, तो उसे **परार्थ अनुमान** कहते हैं । वह वाक्य इस प्रकार हो सकता है : पर्वत अग्नि युक्त है जैसे रसोई घर, उसी प्रकार अग्नि के साथ नियत रूप से रहनेवाला

---

१. न्यायदर्शन १. १. ५. २. साख्यतत्वकौमुदी पृ० २१.
३. तर्क संग्रह पृ० ९५.

धूम इस पर्वत में है; अतः पर्वत पर अग्नि है। इस प्रकार की वाक्य योजना से हेतु के द्वारा अन्य व्यक्ति भी पर्वत में अग्नि को जान लेता है। इसलिए इसे परार्थानुमान कहते हैं।

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के रूप मे अनुमान का विभाजन गौतम अथवा कणाद के सूत्रो मे नहीं मिलता। सर्व प्रथम हम इसे प्रशस्तपाद भाष्य में प्राप्त करते हैं। यद्यपि उन्होंने भी स्वार्थानुमान का शब्दतः कथन नहीं किया है, किन्तु परार्थानुमान के नाम और लक्षण को 'देखकर यह कहा जा सकता है कि वे दोनों को ही मानते है।[1] व्युत्पत्ति के अनुसार जिस अनुमान का प्रयोग निज ज्ञान के लिए किया जाए, वह स्वार्थानुमान है (स्वस्य अर्थः प्रयोजन यस्मात् तत् स्वार्थानुमानम्)। इसी प्रकार जिसका प्रयोग दूसरे के लिए किया जाए उसे परार्थानुमान कहते हैं (परस्यार्थः प्रयोजन यस्मात्त-त्परार्थानुमानम्)। दूसरे शब्दो मे इन्हे प्राथमिक एव द्वितोय अथवा परम्परा-रहित एव परम्परायुक्त कह सकते है। स्वार्थानुमान में वाक्यो की परम्परा नही रहती, वह केवल ज्ञानात्मक होता है, जबकि परार्थानुमान में व्यवस्थित भाषा का, सुगठित वाक्य परम्परा का प्रयोग किया जाता है, तथा प्रयुक्त भाषा को प्रत्येक दोष से रहित करने के लिए निश्चित वाक्य परम्परा का ही प्रयोग किया जाता है। गोवर्धन पडित के अनुसार 'जिस अनुमान के लिए न्याय अर्थात् पांच अवयवो से युक्त वाक्य का प्रयोग किया जाए, वह परार्था-नुमान है; और जहा 'न्याय' का प्रयोग नही है, वह स्वार्थानुमान है।[2] न्यायबिन्दु के टीकाकार श्री धर्मोत्तराचार्य के अनुसार परार्थानुमान शब्दात्मक एव स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक होता है।[3] आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार पांच अवयवों से युक्त वाक्य के द्वारा स्वयं निश्चित अर्थ का प्रतिपादन परार्थ अनुमान कहाता है।[4]

अनुमिति का लक्षण पूर्णतया स्वार्थानुमान मे ही घटित होता है, परार्था-नुमान में नही। कारण यह है कि अनुमिति का करण चाहे व्याप्तिज्ञान मानें, या लिङ्गज्ञान, अथवा परामर्शज्ञान; ये तीनों ही ज्ञानात्मक हैं, एव ज्ञानात्मक स्वार्थानुमान को ही उत्पन्न करने में समर्थ हैं। परार्थानुमान

---

१. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ११३ २. न्यायबोधिनी पृ० ३८
३. न्याय विन्दु टीका पृ० २१ ४. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११३

चूंकि शब्दात्मक है, अतः इसे शब्द प्रमाण के अन्तर्गत होना चाहिए, किन्तु सुविधा की दृष्टि से इसे अनुमान में ही रखा गया है। इसे अनुमान के अन्तर्गत रखने का कारण यह भी है कि अनुमान की प्रक्रिया तो दोनों ही भेदो में मानस मे समान रूप से होती है। क्योंकि परार्थानुमान में भी अनुमिति परार्थ नही होती, परार्थ तो होता है केवल शब्द प्रयोग; जिसके फलस्वरूप श्रोता के मस्तिष्क में ही परामर्श एव अनुमिति उत्पन्न होती है, एवं उसके मस्तिष्क में उत्पन्न वह अनुमिति स्वार्थ ही है, परार्थ नही, फिर भी इसे परार्थानुमान इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें प्रयुक्त पंचावयव-वाक्य परार्थ ही होता है। इसप्रकार परार्थानुमान शब्द में परार्थ पद का प्रयोग औपचारिक है, यह स्वीकार किया जा सकता है। अथवा तर्कदीपिका-प्रकाशकार नीलकण्ठ के अनुसार कहा जा सकता है कि इस अनुमिति के कारणभूत पञ्चावयववाक्य को ही औपचारिक रूप से परार्थानुमान कह लिया गया है। इन का विचार है कि इसमें चूंकि परामर्श परार्थ होता है, अतः इसे परार्थानुमान कहा जाता है। उनका कहना है कि 'साध्य अनुमिति रूप प्रयोजन दूसरे का है जिससे' (परस्य मध्यस्थस्यार्थः प्रयोजन साध्यानुमितिरूप यस्मात्) इस व्युत्पत्ति के अनुसार दूसरे में उत्पन्न अनुमिति में करण होने से लिङ्ग परामर्श को परार्थानुमान कहते हैं, यही कारण है कि तर्क संग्रह में 'स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति मे लिङ्गपरामर्श ही करण है' यह कहा गया है। फिर भी परार्थ अनुमान के कारणभूत पञ्चावयव वाक्य के लिए परार्थानुमान शब्द का औपचारिक प्रयोग है।"[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वार्थानुमान और परार्थानुमान क्रमशः ज्ञानात्मक और शब्दात्मक होने के कारण भिन्न प्रतीत होते हुए भी वास्तविक रूप से दोनों ही अभिन्न है। क्योंकि किसी भी ज्ञान को शब्दों का चोला पहनाया जा सकता है, तथा शब्दों द्वारा प्रतिपादित होना ज्ञान के लिए अस्वाभाविक भी नहीं है। इस प्रकार दोनों में भेद प्रतीति बाह्य है, वास्तविक नहीं।

स्वार्थानुमान की प्रक्रिया और अनुमान के क्रम को अन्नभट्ट ने तर्क संग्रह में अत्यन्त स्पष्टता से, साथ ही उचित रूप से प्रदर्शित किया है। उनके अनुसार अनुमाता को सर्व प्रथम पर्वत पर धूम का दर्शन होता है,

---

१. तर्कदीपिकाप्रकाश पृ० २६५-६८

तदनन्तर उसे वहां अग्नि होने का सन्देह होता है, उसके अनन्तर उसे व्याप्ति अर्थात् धूम और अग्नि के नियत साहचर्य का स्मरण होता है, तत्पश्चात् पक्षधर्मता ज्ञान एवं व्याप्ति ज्ञान के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान होता है; इस संयुक्त ज्ञान को ही परामर्श कहते हैं। इसको ही लिङ्ग परामर्श अथवा तृतीय परामर्श भी कहा जाता है। इस परामर्श को लिङ्ग परामर्श कहने का कारण यह है कि यह ज्ञान व्याप्ति ज्ञान के बल से लीन अर्थ का बोध कराता है।[1] इसे तृतीय परामर्श इसलिए कहा जाता है कि प्रथम रसोई घर में धूम और अग्नि के साहचर्य का दर्शन होता है, पुनः अन्य (द्वितीय) समय पर्वत में धूम का दर्शन होता है, तथा अन्त मे अग्नि सहचरित धूम का ज्ञान होता है, इस प्रकार अनुमान के प्रसग मे ज्ञान की प्रक्रिया के क्रम में तृतीय स्थान होने से इस ज्ञान को तृतीय परामर्श कहा जाता है। इस परामर्श के अनन्तर अनिवार्य रूप से स्वार्थानुमिति का जन्म होता है। जब यही प्रक्रिया पाच अवयवों वाले वाक्य से सम्बद्ध कर दी जाती है, तब उसे परार्थानुमान किह लिया जाता है।

पूर्व पृष्ठों में चर्चा हो चुकी है कि गौतम ने अनुमान के तीन भेद स्वीकार किये थे : **पूर्ववत्**, **शेषवत्** और **सामान्यतोदृष्ट**।[2] इनमें **पूर्ववत्** अनुमान वह है, जहां कारण को देखकर कार्य का अनुमान किया जाए। जैसे: वर्षोन्मुख मेघ को देखकर भाविवृष्टि का अनुमान करना। **शेषवत्** अनुमान वह है, जहां कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाए। जैसे: नदी में बाढ़ को देखकर पर्वत पर वृष्टि का अनुमान करना। **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान वह है, जहां पूर्वोक्त दोनो से भिन्न सादृश्य ज्ञान द्वारा अप्रत्यक्ष का ज्ञान किया जाए। जैसे : मनुष्य एक स्थान से अन्य स्थान पर गति होने पर ही पहुंच पाता है, एक मनुष्य को एक स्थान पर देखकर कालान्तर में उसी को देशान्तर में देखकर उसमें गति का अनुमान करना।[3]

न्याय भाष्यकार वात्स्यायन ने उपर्युक्य तीनों पदों के भिन्न अर्थ किये हैं। उनके अनुसार पूर्व अनुभव के समान अन्वयव्याप्ति के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति **पूर्ववत्** अनुमान है। जैसे:—धूम से वह्नि का अनुमान करना। शेष

---

१. तर्क संग्रह पृ० ९३. २. न्यायदर्शन १. १. ५.

३. न्यायदर्शन विश्वनाथवृत्ति पृ० ७

के समान अर्थात् जो शेष रह जाए उसे ही रख लेना शेषवत् अनुमान है। जैसे : शब्द क्या है ? द्रव्य गुण या कर्म ? द्रव्य गुणों के आश्रय होते हैं, किन्तु शब्द निर्गुण है, अतः वह द्रव्य नहीं हो सकता। द्रव्य किसी अन्य द्रव्य पर आश्रित नहीं होता, जबकि शब्द आकाश नामक द्रव्य पर आश्रित है, अतः वह द्रव्य नहीं हो सकता। शब्द कर्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म अन्य कर्म का हेतु नहीं होता, जबकि शब्द अन्य शब्द का उत्पादक है। फलतः सत्तावान् शब्द द्रव्य और कर्म से भिन्न होने के कारण गुण है। जहां प्रत्यक्ष लिङ्ग लिङ्गी का सम्बन्ध होने पर किसी अर्थ से लिङ्ग की समानता देखकर अप्रत्यक्ष लिङ्गी का ज्ञान किया जाए, अर्थात् सामान्य ज्ञान से व्याप्ति के बल से सम्बन्ध की स्थापना करते हुए लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान प्राप्त किया जाए वह **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान है, जैसे: इच्छा आदि से आत्मा का अनुमान।[1]

वाचस्पति मिश्र ने तत्वकौमुदी में अनुमान के प्रथम दो विभाग किये हैं : **वीत** और **अवीत**। उनके अनुसार अन्वय मुख से प्रवृत्त होने वाला अनुमान **वीत** तथा व्यतिरेक मुख से प्रवर्त्तमान **अवीत** कहाता है। वीत भी पुन. दो प्रकार का है : पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। उनके अनुसार 'जिसका विशिष्ट या वैयक्तिक रूप पहले प्रत्यक्ष हो चुका है, ऐसा सामान्य जिस अनुमान का विषय हो वह पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है। जैसे : धूम द्वारा वह्नि का पर्वत में अनुमान करना, यहां वह्नित्व सामान्य का ज्ञान पहले हो चुका है। सामान्यतोदृष्ट वीत अनुमान उस ज्ञान को कहते हैं, जिसका विषय सामान्य से विशिष्ट वह वस्तु हो जिसका अपना विशिष्ट रूप प्रत्यक्ष होता है। जैसे: इन्द्रिय विषय का अनुमान।[2]

इस प्रकार उत्तर कालीन आचार्यों ने अनुमान का विभाजन निम्नलिखित रूप से किया है :—

---
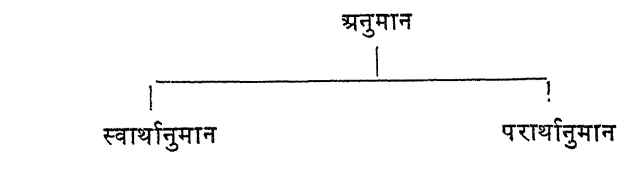
१. वात्स्यायनभाष्य पृ० १४-१५   २. सांख्यतत्वकौमुदी पृ० २१-२३.

गौतम के मत में :—
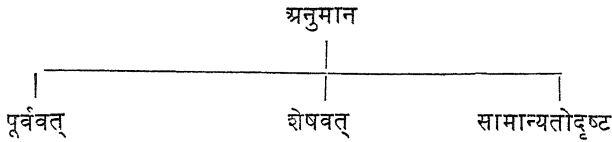
वाचस्पति मिश्र के मत मे :—
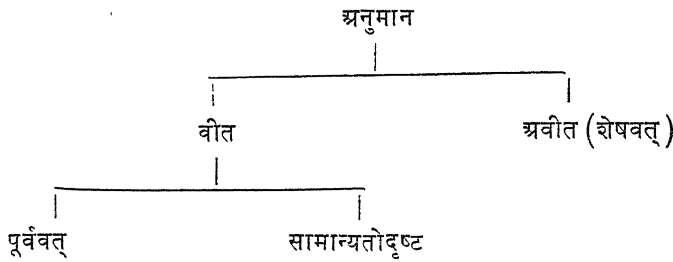
अनुमान का उपर्युक्त विभाजन अनुमिति के आधार पर किया गया है। हेतु के आधार पर भी अनुमान का विभाजन किया जाता है, इस विभाजन के अनुसार अनुमान तीन प्रकार का है : अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, एवं केवलव्यतिरेकि । जहा अन्वयी और व्यतिरेकी दोनों प्रकार के हेतुओं को आश्रय मानकर अनुमान किया जाये, उसे अन्वयव्यतिरेकि अनुमान कहते हैं। ऐसे अनुमान में अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति होगी तथा दोनों ही प्रकार के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। जैसे : गन्धवत्व के आधार पर पृथिवी को अन्य द्रव्यो से पृथक् करना। चूंकि जो भी पदार्थ गन्ध युक्त हैं, वे सभी पृथिवी हैं तथा जहां गन्ध नहीं है वहां वहां पृथिवीत्व नहीं है, जैसे : घट घृत आदि पदार्थों में गन्ध है तो यहां पृथिवीत्व भी है, और जल में गन्ध नहीं है तो वहां पृथिवीत्व भी नही है। जहां अन्वयी हेतु का प्रयोग किया गया हो अर्थात् जिसकी केवल अन्वयव्याप्ति ही उपलब्ध हो, और उदाहरण भी केवल अन्वयी ही हों वह केवलान्वयि अनुमान है। इसीप्रकार जहां व्यतिरेकी हेतु का प्रयोग किया गया हो, अर्थात् जिस की केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही उपलब्ध हो एवं उदाहरण भी व्यतिरेकी ही हों, अन्वय उदाहरण सुलभ न हों, वह व्यतिरेकि अनुमान है।
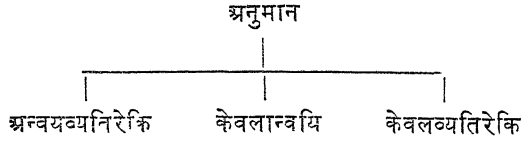
आचार्य प्रशस्तपाद ने अनुमान के सर्वप्रथम **स्वार्थ** और **परार्थ** दो भेद करते हुए स्वार्थानुमान के पुन. दो भेद स्वीकार किये है : **दृष्ट** और **सामान्यतो दृष्ट**। इनमें से पहले से देखी हुई वस्तुगत किसी विशेषता के आधार पर वस्तु का ज्ञान करना **दृष्ट** अनुमान है। जैसे : सास्ना द्वारा गौ का ज्ञान करना। पूर्वदृष्ट से भिन्न का समानता के आधार पर ज्ञान प्राप्त करना **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान है। जैसे : निर्जीव पदार्थों में **कारणता** का ज्ञान करना।[1] चूँकि इस विभाजन के अनुसार स्वीकार किये गये **दृष्ट** के सभी भेद समस्त नैयायिकों द्वारा स्वीकृत सविकल्पक प्रत्यक्ष अथवा स्मरण के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं, अत. इस विभाजन को उचित नही माना जा सकता।

न्याय शास्त्र की उस अनुमान प्रक्रिया को जहा विशेष उदाहरणों में धूम और वह्नि का साहचर्य देखकर सामान्य निर्णय पर पहुचा जाता है, अरस्तू के Deductive Reasoning के समान्तर माना जा सकता है। किन्तु जैसा कि वेकन (Bacon) ने अरस्तू की आलोचना करते हुए लिखा है : किसी विशेष उदाहरण के आधार पर सामान्य सिद्धान्त निर्धारित कर लेना अधिक उचित नही माना जा सकता। चूंकि कोई भी द्रष्टा समस्त भूमण्डल गत अग्नि और धूम का साक्षात्कार करले यह संभव नही है, केवल कुछ स्थानों पर ही वह साहचर्य का दर्शन कर सकता है। इस प्रकार समस्त धूम और समस्त अग्नि का साहचर्य देखे बिना सामान्य नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता; और यदि समस्त धूम और अग्नि का साक्षात्कार हो चुका हो तो अनुमान की आवश्यकता ही नही रह जाती। यदि कार्यकारणभाव के आधार पर साहचर्य सिद्ध करना चाहें तो वहां भी यही बात लागू होती है कि समस्त कारण और कार्यो का सहभाव भी सर्वथा अदृष्ट है। इस प्रकार विशेष नियम से विशेष का ही निश्चय हो सकता है, सामान्य नियम का निर्धारण नहीं। सम्भवत: इसीलिए अरस्तू ने, जैसा कि उनकी कृतियों का सूक्ष्मनिरीक्षण करने पर पता चलता है, सामान्य ज्ञान से विशेष ज्ञान तक पहुंचने की परम्परा (Inductive

---

१. प्रशस्त पाद भाष्य पृ० १०४-१०५

Reasoning) को अस्वीकार नहीं किया है अथवा उसकी उपेक्षा नहीं की है, इतना अवश्य है कि इस प्रणाली की अपेक्षा विशेष से सामान्य तक पहुंचने के क्रम को Deductive Reasoning को अधिक महत्व प्रदान किया है।

नैयायिको ने भी इसी भांति सामान्य से विशेष की प्रक्रिया को (Inductive Reasoning) को अस्वीकार नही किया है, यह बात दूसरी है कि उन्होंने इसे मुख्यत: अनुमान न मान कर अनुमान का सहायक माना है। व्याप्ति ग्रहण के उपरान्त पक्ष में साध्य की सिद्धि यद्यपि सामान्य से विशेष को ही प्राप्त करना है, किन्तु उदाहरण से, जो कि विशेष है, सामान्य व्याप्ति का ज्ञान प्राप्त करना विशेष से सामान्य पर पहुंचना ही है। इन दोनो ही प्रणालियों की न्यायमत में पूर्ण उपयोगिता की परीक्षा करने के लिए हमें सर्व प्रथम यह देखना चाहिए कि न्यायमत में व्याप्ति ग्रहण की क्या प्रक्रिया है ?

व्याप्ति :--व्याप्ति का परिचय पहले दिया जा चुका है वहां व्याप्ति को **नियतसाहचर्य का ज्ञान** माना गया हैं।[१] किन्तु यह नियत साहचर्य क्या है ? इसे प्राप्त करने के साधन क्या है ? स्वार्थानुमान पर विचार करते हुए अन्नंभट्ट ने कहा है कि बार-बार धूम और अग्नि को एक साथ देखने पर हम इनके नियतसाहचर्य का ज्ञान करते है।[3] किन्तु केवल धूम और अग्नि का बारम्बार साहचर्य दर्शन ही व्याप्ति ग्रहण में कारण नहीं हो सकता; क्योकि जैसा हम ऊपर की पंक्तियों में लिख चुके हैं : धूम और अग्नि के प्रत्येक स्थल को देख सकना सम्भव नही है, एवं कुछ को देखकर तथा कुछ स्थलों में साहचर्य देखकर यह साहचर्य शत प्रतिशत नियत है, नहीं कहा जा सकता। एतदर्थ हम परीक्षा करना चाहेंगे, किन्तु वह परीक्षण विशेषस्थलों में ही संभव होगा, सामान्य स्थलों में नहीं, किन्तु व्याप्ति का फल सामान्य होगा। इसीलिए तर्कदीपिकाकार ने लिखा है कि केवल हेतु और साध्य का सहभाव दर्शन ही व्याप्तिग्रह के लिए पर्याप्त कारण नहीं हैं; किन्तु व्यभिचार का अभाव भी होना चाहिए।[२] हम किसी भी स्थल पर अग्नि के बिना धूम को नहीं पाते, इसी आधार पर हम अग्नि के हेतु धूम का नियत साहचर्य स्वीकार करते हैं। किन्तु इस क्रम और Inductive Reasoning में अन्तर है। यहां दोनों को अर्थात् **साहचर्य एवं व्यभिचार के अभाव** को समान रूप से दो कारणों के रूप में

१. इसी पुस्तक के पृष्ठ १८३-८४ देखिये।

२. तर्क संग्रह पृ० ९३ ३. तर्क दीपिका पृ० ९३

स्वीकार नही किया जाता। किन्तु दोनों के सम्मिलित रूप को अर्थात् दोनों के विशेषणविशेष्यभाव से सम्बद्ध होने पर ही उन्हे व्याप्ति के प्रति कारण माना जाता है।

व्यभिचार— प्रस्तुत प्रसग में व्यभिचार का तात्पर्य विरुद्ध तथ्यों की सत्यता का निश्चय अथवा सन्देह है। यह **निश्चयात्मक** एव **सन्देहात्मक** भेद से दो प्रकार का है। दोनों प्रकार का व्यभिचार ज्ञान व्याप्तिग्रह में बाधक है। निश्चात्मक व्यभिचार दो प्रकार का हो सकता है: **यथार्थ ज्ञान पर आधारित** एव **अयथार्थ ज्ञान पर आधारित**। यदि व्यभिचार ज्ञान यथार्थ ज्ञान पर आधारित है, तो व्याप्ति प्रमाण योग्य नहीं हो सकती। यदि यह व्यभिचारज्ञान अथार्थज्ञान पर आधारित है, अथवा संशय रूप है तो इसे उचित समाधान द्वारा दूर किया जा सकता है। यदि व्यभिचार के निराकरण के लिए जो समाधान अपनाए गये हैं, वे ज्यामिति के सूत्र की भांति पूर्ण सत्य और स्वतः प्रमाण नही हैं, तो तर्क का आश्रय लेना आवश्यक होगा। उदाहरण के रूप में हम जहां जहां धूम है वहा वहा अग्नि है, इस व्याप्ति को लें: यदि इसमे व्यभिचार का दर्शन हो तो उसका अर्थ यह हुआ कि धूम की प्राप्ति अग्नि के अभाव मे भी होती है। ऐसी स्थिति मे हमे खोजना होगा कि इस धूम का कारण क्या है? यदि यह धूम अग्नि से उत्पन्न नही है, तो 'अग्नि धूम का नियत पूर्ववर्त्ती है' यह मान्यता अमान्य सिद्ध होगी, ऐसी स्थिति मे प्रत्यक्षज्ञान से विरोध उपस्थित होगा। फलतः व्यभिचार की कल्पना प्रत्यक्षज्ञान से विरुद्ध सिद्ध होती है, एवं व्याप्ति की सत्यता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार व्यभिचार की शंका होने पर हम तर्क द्वारा कार्यकारणभाव के आधार पर 'धूम और अग्नि का साहचर्य नियत है' इस निश्चय पर पहुंच जाते है।

व्याप्तिग्रह के प्रसंग में यहां अप्रत्यक्ष रूप से अनुमान का आश्रय लेना पड़ता है, एवं अनुमान के माध्यम से कार्य और कारण के सामान्य सहचार के द्वारा धूम और अग्नि के विशेष सहचार का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस सहभाव ज्ञान की प्रक्रिया को यदि अनुमान की परम्परागत भाषा में रखना चाहे तो इस प्रकार रख सकते हैं: **प्रत्येक कार्य कारण का नियत सहचारी होता है, धूम अग्नि का कार्य है, अतः धूम अग्नि का नियत सहचारी है**। अथवा धूम अग्नि का नियत सहचारी है (प्रतिज्ञा) क्योंकि धूम अग्नि का कार्य है (हेतु) जो जिसका कार्य है वह उसका नियत सहचारी होता है, जैसे रूप आदि कार्य पट

आदि कारण द्रव्यों के नियत सहचारी होते हैं (उदाहरण), उसी प्रकार यह भी है (उपनय), अतः धूम भी अग्नि का नियत सहचारी है (निगमन)।

यह अनुमान तर्क से सर्वथा भिन्न है। इस अनुमान के अनुसार धूम और अग्नि का सहभाव तभी माना जा सकता है, जब दोनो के बीच **कार्यकारण भाव** निश्चित हो; तथा **कार्यकारणभाव** तभी माना जा सकता है, जब धूम का अग्नि से नियतपूर्वभाव अर्थात् दोनों का सहभाव निश्चित हो सके। इस प्रकार यह अनुमान प्रक्रिया अन्योन्याश्रित होने से सिद्ध नही हो सकती। नैयायिक इस अन्योन्याश्रय दोष से बचने के लिए धूम और अग्नि के कार्य कारण भाव को अनुमान पर आधारित न मानकर पूर्वज्ञान अथवा संस्कार पर आधारित मानते हैं।

इस प्रकार व्याप्ति का ग्रहण **व्यभिचार ज्ञान के अभाव** से **युक्त हेतु और साध्य के नियत साहचर्य ज्ञान के द्वारा ही होता है।**

व्याप्तिग्रहण के प्रसङ्ग में यह आशंका पहले उपस्थिति की जा चुकी है कि जब सभी धूम और वह्नि का इन्द्रिय से सन्निकर्ष नही होता, फिर दोनों की व्याप्ति (नियत साहचर्य) का ज्ञान कैसे संभव है ? दूसरे शब्दों में चूकि धूम का सर्वतोभावेन प्रत्यक्ष संभव नही है, अर्थात् जहां जहा धूम या वह्नि है सर्वत्र हम उसे नही देख सकते। जिन अशों में हम उन्हें देखते है, उसके आधार पर सामान्य नियम की स्थापना कैसे की जा सकती है। प्रसिद्ध दार्शनिक जे.एस. मिल (J. S. Mill) का कथन है कि 'जिसे हम कुछ स्थानों पर देखते हैं, वह सर्वत्र सत्य होगा' यह विश्वास मन की एक विशेष क्रिया है, अनुमान नही। नैयायिक इसे मानसिक क्रिया भी न मानकर **अलौकिक प्रत्यक्ष** मानते है। यह अलौकिक प्रत्यक्ष ही व्यभिचार रहित हेतु और साध्य के साहचर्य की प्रतीति कराता है। इस अलौकिक प्रत्यक्ष को ही **सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति** कहते है, जिसका विस्तृत परिचय प्रत्यक्ष प्रकरण में दिया जा चुका है।[१] जब हम एक घट देखते हैं तो उस घट एवं उसमें विद्यमान घटत्व जाति से इन्द्रिय सन्निकर्ष होता है, अतः ज्ञान भी उपस्थित घट और उसके घटत्व का ही होना चाहिए; किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य घटो में विद्यमान रहनेवाली सम्पूर्ण घटत्वजाति एवं उसके आश्रय अन्य घट का भी ज्ञान होता है। अर्थात्

---

१. इसी ग्रन्थ के पृ० १५७ देखिए।

साथ रहनेवाली दो वस्तुओं में से एक का प्रत्यक्ष होते ही अन्य का भी ज्ञान हो जाता है। यहा प्रश्न यह है कि इस सम्पूर्ण घटत्व जाति एवं उसके आश्रय अन्य घट के ज्ञान को क्या कहा जाए ? चूकि उसके साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष नही है, अतः प्रत्यक्ष कहना उचित न होगा। अनुमान कहना भी उचित न होगा, क्योंकि यहां न तो परामर्श है, न व्याप्ति ज्ञान और न हेतु ज्ञान ही। यही स्थिति धूम दर्शन करने पर सम्पूर्ण धूम के ज्ञान एव उसके साथ रहनेवाली अग्नि के ज्ञान की है। इस समस्त धूम के ज्ञान में न तो प्रत्यक्ष लक्षण संगत होता है और न अनुमान लक्षण ही; फिर इसे क्या कहा जाए ? इस अर्ध प्रत्यक्ष और अर्ध अनुमान को नैयायिको ने **प्रत्यासत्ति** सज्ञा दी है। चू कि अनुमान में हेतु के प्रत्यक्ष तथा अनुमिति के बीच परामर्श आदि के लिए कुछ काल लगता है, जिसके फल स्वरूप अनुमिति ज्ञान मध्यवर्त्ती काल से व्यवहित होता है, किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान में किसी प्रकार काल का व्यवधान नही होता, क्योंकि इसमें इन्द्रिय सन्निकर्ष के अनन्तर परामर्श के समान्तर अन्य किसी कारण या करण की आवश्यकता नही होती, अतः यह प्रत्यक्ष के अधिक निकट है, यह कहा जा सकता है। इस प्रकार भले ही समस्त धूम और वह्नि का प्रत्यक्ष न हो किन्तु महानस में धूम का प्रत्यक्ष करने पर प्रत्यासत्ति द्वारा सकल धूम का साक्षात्कार होता है, एवं व्यभिचार सन्देह की निवृत्ति केवल तर्क की सहायता से हो जाती है, एव साहचर्य को निश्चय का रूप प्राप्त हो जाता है, इसे ही दूसरे शब्दों मे हम इस प्रकार कह सकते है कि 'उपाधि के अभाव से युक्त संस्कार की सहायता के साथ बारबार धूम और अग्नि के दर्शन के संस्कार से युक्त ग्राहक प्रत्यक्ष द्वारा ही धूम और अग्नि की व्याप्ति का निश्चय होता है।'[१] प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का ग्रहण मानने पर पूर्व प्रदर्शित **अन्योन्याश्रय दोष** भी नहीं होता।

अनुमान के विभाजन के प्रसङ्ग में यद्यपि पूर्व पृष्ठो में अनेक मतों की चर्चा की गई है, किन्तु प्रत्येक विभाजन अनुमान के समस्त उदाहरणों को समाहित करने में समर्थ है। जैसे : पूर्व कालीन न्यायाचार्यो द्वारा स्वीकृत शेषवत् अनुमान के उदाहरण उत्तरकालीन आचार्यो द्वारा हेतु के आधार पर किये गये विभागों में से व्यतिरेकि अनुमान के विषय हो सकते हैं। पूर्ववत् और सामान्यतो-

१. तर्कभाषा पृ० ७६

दृष्ट के कुछ उदाहरण केवलान्वयि अनुमान के और कुछ अन्वयव्यतिरेकि अनुमान के विषय होंगे। इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत Deduction Proper के अधिकांश उदाहरण प्राचीन आचार्यों के पूर्ववत् अनुमान एवं परवर्त्ती विद्वानों के केवलान्वयि अथवा अन्वयव्यतिरेकि अनुमान के उदाहरण हो सकते हैं, एवं Induction Proper के उदाहरण प्राचीन आचार्यों के सामान्यतोदृष्ट के एवं परवर्ती विद्वानों के व्यतिरेकि अथवा अन्वयव्यतिरेकि के उदाहरण बन सकते हैं। प्लैटो (Plato) का Logical Division प्राचीन आचार्यों के शेषवत् अनुमान के ही समानान्तर है, अतः उसे व्यतिरेकि में ही समाहित मान सकते है। उत्तर कालीन आचार्यों के स्वार्थानुमान और परार्थानुमान भेद तो केवल अनुमान के प्रयोजन के आधार पर किये गये है, अतः इनमें से प्रत्येक में अनुमान के सभी भेद समाहित हो सकते हैं।

अवयव :—स्वार्थानुमान का उद्देश्य चूकि स्वय ज्ञान प्राप्त करना होता है, अत. उसमें लिङ्ग दर्शन से **साध्य** ज्ञान **तक** सम्पूर्ण प्रक्रिया मानसिक होती है, किन्तु **परार्थानुमान** का उद्देश्य दूसरे को ज्ञान कराना होता है। एवं कोई भी विचारशील व्यक्ति युक्ति को जाने बिना किसी के वचन मात्र से विश्वास नही करता,[1] अतः परार्थानुमान में अनुमान की प्रक्रिया को एक विशेष क्रम से युक्ति पूर्वक रखना पड़ता है। यह क्रमबद्ध प्रक्रिया ही परार्थानुमान को स्वार्थानुमान से पृथक् करती है।

परार्थानुमान की क्रमबद्ध प्रक्रिया को **न्याय, न्यायवाक्य** अथवा **वाक्य** कहते हैं। इस **न्यायवाक्य** द्वारा ही शाब्दबोध के अन्तर अनुमिति के अन्तिम या अन्यतम कारण (**करण**) लिङ्गपरामर्श की उत्पति होती है।[2] इस प्रकार न्याय वाक्य से शाब्द बोध, शाब्द बोध से लिङ्गपरामर्श एवं लिङ्ग परामर्श से अनुमितिज्ञान की उत्पत्ति होती है (**न्यायवाक्य→शाब्दबोध→लिङ्ग परामर्श अनुमिति**)। अरस्तू ने इस न्याय वाक्य को ही Speach कहा है, जिस से Premise उत्पन्न होकर Supposed Knowledge के करण Necesity को उत्पन्न करती है। इस प्रकार उनके अनुसार भी अनुमिति की उत्पत्ति का क्रम समान ही है : (Speech→Premise→Necesity→Supposed Knowledge)। अरस्तू के अनुसार न्यायवाक्य (Speach) में तीन

१. व्यक्ति विवेक पृ० २२ २. तत्वचिन्तामणि १४६९

अवयव माने जाते हैं : Magor premise, Minor premise तथा Meddle term. जबकि न्याय वाक्य में पांच अवयव स्वीकार किये गये है : **प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।**

प्रतिज्ञा :—प्रतिज्ञा में श्रोता को अनुमिति का अभीष्ट अर्थात् **पक्ष में साध्य** की सत्ता बताना होता है।[1] इसे ही योरप के पुराने दार्शनिक Problem या Question कहते है। न्याय वाक्य में प्रतिज्ञा का कथन सर्वप्रथम किया जाता है। जैसे—"पर्वत वह्नि वाला है, धूम युक्त होने से, जो जो धूम युक्त है, वह वह अग्नि युक्त है जैसे रसोई घर, उसी प्रकार यह पर्वत अग्नि युक्त है।"[2] इस न्याय 'वाक्य में पर्वत वह्नि युक्त है' यह अंश **प्रतिज्ञा** कहाता है।

हेतुः- न्यायवाक्य में प्रतिज्ञा के अनन्तर हेतु का कथन होता है, न्याय-शास्त्रीय परम्परा मे सस्कृत में हेतु को पञ्चम्यन्त रखा जाता है। किन्तु प्रत्येक पञ्चम्यन्त वाक्यांश हेतु हो यह आवश्यक नही है; उदाहरणार्थ 'अयं न न 'दण्डात्' अथवा 'दण्डात् न' इत्यादि वाक्यो मे पञ्चम्यन्त 'दण्डात्' आदि पदों मे पञ्चमी का प्रयोग हेतु होने के कारण न होकर अपादान कारण होने से है। प्रकृत का साधक होने पर ही पञ्चम्यन्त पद **हेतु** कहा जाएगा।[3] न्यायशास्त्र की परम्परा में हेतु के लिए बहुधा **लिङ्ग** शब्द का प्रयोग किया जाता है। किन्तु लिङ्ग और हेतु वास्तविक रूप से भिन्न है। **लिङ्ग साध्य** के चिह्न को कहते हैं, तथा लिङ्ग प्रतिपादक वाक्य को हेतु कह सकते हैं। हेतु वाक्य मे प्रतिपादित लिङ्ग **सादृश्य** अथवा **विसादृश्य** अर्थात् साधर्म्य अथवा वैधर्म्य द्वारा साध्य का साधक होता है। इसी आधार पर हेतु के दो भेद हो सकते हैं: **अन्ययी हेतु** और **व्यतिरेकी हेतु**। कुछ हेतु **अन्वयी और व्यतिरेकी** दोनों ही प्रकार के हो सकते है : इस प्रकार हेतु के भी व्याप्ति के अनुसार तीन भेद कहे जा सकते है: **अन्वयी, व्यतिरेकी** और **अन्वयव्यतिरेकी**।

उदाहरण : जब साध्य को सिद्ध करने के लिए हेतु दिया जाता है, तो प्रश्न उपस्थित होता है कि साध्य की हेतु द्वारा सिद्धि किस आधार

---

१. (क) तर्क सग्रह पृ० ६६ (ख) वैशेषिक उपस्कार पृ० २१६
२. वैशेषिक उपस्कार पृ० २२६ ३. वही पृ० २२०

पर होती है ? हेतु और साध्य के बीच क्या सम्बन्ध है, तथा उस सम्बन्ध की प्रतीति कैसे होती है ? **उदाहरण** द्वारा इन सभी प्रश्नो का समाधान हो जाता है। इसके द्वारा हेतु और साध्य का नियत सम्बन्ध प्रतिपादित होता है[1] और इस नियत सम्बन्ध (व्याप्ति) के आधार पर ही हेतु साध्यका साधक बन पाता है। हेतु के समान ही उदाहरण भी **अन्वयि व्यतिरेकि और अन्वयव्यतिरेकि** तीन प्रकार के हो सकते हैं, किन्तु इस प्रकार से उदाहरणो का वर्गीकरण परम्परा मे प्रचलित नहीं है।

उपनय :-- जैसा कि इस शब्द की व्युत्पत्ति से पता चलता है, इसका कार्य अनुमाता को अनुमति के निकट पहुचा देना है। उपनय द्वारा ही श्रोता को पता चलता है कि व्याप्ति सहचरित हेतु पक्ष में विद्यमान है[2], इस समन्वयात्मक ज्ञान को ही **परामर्श** कहते है, इसके तत्काल बाद ही अनुमति का जन्म होता है। चतुर्थ वाक्य में इसी परामर्श का कथन होता है। गौतम के अनुसार इस अनुमान वाक्य को उपसहार अंश कहा जा सकता है।[3] उपनय के भी हेतु और उदाहरण के समान ही अन्वयी (साधर्म्यमूलक) व्यतिरेकी (वैधर्म्यमूलक) एव अन्वयव्यतिरेकी भेद हो सकते हैं, किन्तु नैयायिको ने इस प्रकार के किन्ही भेदों की चर्चा नही की है।

निगमन :—निगमन मे न्याय वाक्य के उपसहार के अनन्तर पक्ष में अनुमान के फल के रूप में प्रकृत साध्य की चर्चा की जाती है;[4] जिसके फलस्वरूप श्रोता को अनुमिति का ज्ञान होता है। गौतम ने प्रतिज्ञा के पुन: कथन को ही **निगमन** कहा है।[5] वात्स्यायन ने निगमन शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि 'जिसवाक्य में प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय का एक साथ ही सम्बन्ध प्रतिपादित हो तथा उनका समर्थन हो वही **निगमन** है।[6] निगमन **स्वीकारात्मक** और **निषेधात्मक** दोनों ही प्रकार का हो सकता है। सामान्यत: अन्वयी हेतु होने पर निगमन स्वीकारात्मक तथा व्यतिरेकी हेतु के रहने पर वह निषेधात्मक होता है।

पूर्व पृष्ठ में पर्वत में चर्चा हो चुकी है कि वह्नि साधक अनुमान वाक्य में 'पर्वत वह्नि वाला है' यह अंश **प्रतिज्ञा** है, इसमें पर्वत पक्ष में साध्य वह्नि का

---

१. वही पृ० २२०
२. वही पृ०२२०
३. न्याय दर्शन १. १. ३८
४. वशेषिक उपस्कार पृ० २००
५. न्याय दर्शन १. १. ३९
६. वात्स्यायन भाष्य पृ०३२

कथन किया गया है। प्रतिज्ञा के अनन्तर 'धूम युक्त होने से' यह अंश हेतु है। संस्कृत में हेतु का प्रयोग तृतीया अथवा पञ्चमी विभक्ति में किया जाता है। हेतु के अनन्तर और उदाहरण के पूर्व **व्याप्ति** का कथन किया जाता है। **व्याप्ति** का कथन दो प्रकार से होता है। प्रथम प्रकार में पक्ष में हेतु तथा साध्य के प्रतिपादक दो वाक्यों को संबद्ध करते हुए सामान्य रूप से दोनों का सहभाव प्रतिपादित किया जाता है। जैसे : 'जो जो धूम युक्त है वह वह अग्नि युक्त है।' व्याप्ति के प्रदर्शन का दूसरा प्रकार है : साध्य और साधन का एक अधिकरण में प्रतिपादन; जैसे : जहा जहा धूम है वहा वहां अग्नि है। इन में प्रथम मे अन्य वाक्यों का समर्थन स्पष्टतया होता है, जबकि द्वितीय में अत्यन्त स्वाभाविक रूप से तथा स्पष्ट रूप से व्याप्ति का वर्णन होता है। **उदाहरण** वह वाक्यांश है, जहा व्याप्ति के लिए हेतु और साध्य का सहभाव देखाजाता है। जैसे : इस न्याय वाक्य में 'महानस'। **उपनय** : संस्कृत न्याय वाक्य में 'तथा चायम्' अर्थात् 'यह भी उसी भांति है' शब्द द्वारा **उपनय** का कथन होता है। प्रकरण के अनुसार इस वाक्यांश का तात्पर्य यह है कि व्याप्ति सहित हेतु में विद्यमान है। इससे ही अनुमिति के करणभूत **परामर्श** अथवा **लिङ्ग परामर्श** का ज्ञान होता है। **निगमन** : 'इसलिए यह पर्वत वह्नि युक्त है' यह वाक्यांश निगमन कहाता है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, निगमन प्रतिज्ञा से भिन्न नहीं है, किन्तु प्रतिज्ञा में स्पष्ट शब्दो में पक्ष को साध्य युक्त कहा जाता है जबकि निगमन में 'तस्मात्' शब्द से पूर्व वाक्याशों का उपसंहार एव 'तथा' शब्द द्वारा प्रतिज्ञा का पुनः कथन होता है।

न्यायशास्त्र और अरस्तूका न्यायवाक्य (Syllogism) :—न्यायशास्त्र में परम्परागत अनुमान वाक्य (न्यायवाक्य) मे पांच अवयव होते है, जबकि अरस्तू ने Syllogism (न्यायवाक्य) में केवल तीन अवयव ही माने हैं। इस प्रसग में यह विचारणीय है कि दोनो न्यायवाक्यों में अन्तर क्यों है? क्या न्यायशास्त्रीय न्यायवाक्य में दो अवयव अधिक प्रयुक्त हुए हैं? अथवा अरस्तू स्वीकृत न्यायवाक्य में दो अवयवों की न्यूनता है? विचार करने पर दोनों ही परम्पराए निर्दोष कही जा सकती हैं। दोनो के चिन्तन का क्रम भी परस्पर भिन्न नही है। दोनों एक मार्ग से ही एक निश्चय पर पहुंचते हैं, किन्तु उन विचारों को अभिव्यक्त करने अथवा उन्हें दूसरे तक पहुंचाने के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। अरस्तू के न्यायवाक्य

(Syllogism) में अत्यन्त आवश्यक वाक्यांश सूक्ष्म सम्बन्ध से सम्बद्ध है, जब कि न्यायशास्त्रीय पञ्चावयव वाक्य में क्रमिक रूप से वे कारण उपस्थित किये गये हैं, जिससे दूसरे के मस्तिष्क में ज्ञान उत्पन्न हो सके। अरस्तू के न्यायवाक्य में सामान्य से विशेष निर्णय पर पहुंचने के लिए कुछ सोपान दे दिये गये हैं; जबकि न्यायशास्त्र में उन्हे वाद (वाद विवाद) मे अपेक्षित क्रम से रखा गया है। अरस्तू के न्यायवाक्य में श्रोता को कुछ अशों की पूर्ति स्वय करनी पड़ती है, जबकि न्यायशास्त्रीय परम्परा में वक्ता के क्रमिक प्रतिपादन को ही श्रोता समझता चलता है ; फलतः यह पञ्चावयव वाक्य सामान्य मस्तिष्क में ज्ञान उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, वही अरस्तू के न्यायवाक्य में केवल आलंकारिक ढग से वाक्य-योजना है। नैयायिकों का न्यायवाक्य निर्णय तक पहुंचाने में सरलतया और स्वाभाविक ढग से सहायक है, जबकि अरस्तू का न्यायवाक्य परीक्षण की दृष्टि से अधिक प्रशस्त। इस प्रकार दोनों ही न्याय-वाक्य अपनी अपनी दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। नैयायिकों का पञ्चावयव न्यायवाक्य वाद (वाद-विवाद) की दृष्टि से अधिक क्रमबद्ध और व्यवस्थित है।

नैयायिको का यह पञ्चावयव वाक्य प्रतिवादी के सन्देह को निर्मूल करने का व्यवस्थित मार्ग है, जिसके द्वारा उसे सुव्यवस्थित उत्तर दिया जा सकता है। इन अवयवों से युक्त वाक्य द्वारा सन्देह की निवृत्ति अनायास हो जाती है। किन्तु इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि 'यह सन्देह कहा से और कैसे उत्पन्न हुआ, जिस की निवृत्ति इस न्यायवाक्य द्वारा की जाती है। वस्तुतः नैयायिक सन्देह के बिना, जिसे दूसरे शब्दों मे **आकांक्षा** कह सकते है, कुछ भी कहना नही चाहते। अतएव प्रतिज्ञा वाक्य द्वारा आकाक्षा (लघु सन्देह) को उत्पन्न किया जाता है। [किन्तु अरस्तू के वाक्य इस आकाक्षा को उत्पन्न किये बिना ही व्याप्ति से प्रारम्भ होते है] इसे प्रसिद्ध दार्शनिक गगेशोपाध्याय ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है, उनका कहना है कि 'कथा अर्थात् वाद के प्रसंग मे आकांक्षा के क्रम से कथन करना ही उचित होता है। 'यह क्यो है' इस सन्देह (आकाक्षा) के अभाव में कुछ भी कहना उचित न होगा, अतएव **आकांक्षा** के जागरण के लिए प्रथम **प्रतिज्ञा** का प्रयोग किया जाता है।[1] अरस्तू

१. तत्वचिन्तामणि पृ० १४७०

के Major Premise अर्थात् व्याप्ति के कथन में कथमपि आकांक्षा का उदय नहीं होता, यही कारण है कि उनके न्यायवाक्य में दिये गये तर्क उस स्वाभाविकता से मस्तिष्क मे प्रविष्ट नहीं हो पाते, जिस स्वाभाविकता से न्याय शास्त्रीय तर्क ।

इस अन्तर के कारण के रूप में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अरस्तू ने स्वार्थानुमान और परार्थानुमान की दृष्टि से अनुमान का कोई विभाजन नहीं किया है, उनके न्यायवाक्य का लक्ष्य कोई अन्य न होकर प्रमाता स्वयं है, भले ही वह तर्क आवश्यक होने पर दूसरे के समक्ष भी उपस्थित कर दिया जाता हो, किन्तु वह प्रधानतया उद्दिष्ट नही है ; एवं प्रमाता के मस्तिष्क मे तो सन्देह उत्पन्न हो ही चुका है, अन्यथा वह अनुमान के लिए प्रवृत्त ही क्यो होता ? अतः उसमे आकांक्षाजनक वाक्यांश के प्रयोग की आवश्यकता नही समझी जाती, किन्तु नैयायकों का न्यायवाक्य परार्थानुमान का अग है; फलत· परार्थ ज्ञान के लिए आवश्यक **आकांक्षा** के उद्बोधन के साथ ही यहां साध्य की सिद्धि की गयी है ।

यद्यपि इसमे कोई सन्देह नही है कि न्यायशास्त्रीय यह न्यायवाक्य वादविवाद में अपेक्षित क्रम के अनुसार पूर्णतः सुव्यवस्थित है, किन्तु परीक्षण एवं साध्यसिद्धि की दृष्टि से यह पूर्णतः उचित है, यह कह सकना कठिन है । इसमें भी दोष की सम्भावनाए प्रायः रहती हैं, इसीलिए परवर्त्ती विचारकों द्वारा इसकी खंडनात्मक और मंडनात्मक दोनो रूपो से आलोचना की गयी है । इस परम्परा मे सामान्य और विशेष में कोई अन्तर नहीं रखा गया है । अन्वयी और व्यतिरेकी हेतु के भेदो के साथ स्वीकारात्मक और निषेधात्मक भेद भले ही स्वीकृत किये गये हैं । अरस्तू के न्याय वाक्य में नियमतः सामान्य से विशेष का निश्चय किया जाता है, जिसके फलस्वरूप उनके मत में प्रथम सुस्थिर सामान्य नियम प्राप्त कर Major Premise की स्थापना करते है । इसके विपरीत न्यायशास्त्रीय परम्परा मे सर्वप्रथम प्रतिज्ञा का कथन करके अर्थात् विशेष से प्रारम्भ कर व्याप्ति अर्थात् सामान्य की ओर बढ़ते हैं । इस प्रकार नैयायिकों और अरस्तू के अनुयायियो की अनुमान प्रक्रिया परस्पर सर्वथा विपरीत सिद्ध होती है । किन्तु साथ ही यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि नैयायिकों की प्रक्रिया वादविवाद में एक शस्त्र के रूप

मे अत्यधिक उपयुक्त है, क्योंकि वादविवाद में एक विशेष क्रम से चलना होता है, जो कि इसमें विद्यमान है।

भारतीय न्याय वाक्य के समान ही अरस्तू के न्यायवाक्य के अवयवो के सम्बन्ध में भी काफी विवाद रहा है। जे०एस० मिल ने लिखा है कि 'न्यायवाक्य Syllogism में तीन से अधिक अवयव नहीं हो सकते, और वे अवयव Minor Premise अर्थात् पक्ष, Major Premise अर्थात् साध्य तथा हेतु कथन, एवं तीनों का सम्बन्ध बताने वाला Meddle Term अर्थात् पक्षधर्म कथन हैं।'[1] 'न्यायवाक्य मे अवयव तीन ही हो सकते है' मिल के इस कथन का कारण यह हो सकता है कि **प्रतिज्ञा** और **निगमन** परस्पर अभिन्न हैं, क्योंकि निगमन मे प्रतिज्ञा का ही पुनर्वचन किया जाता है।[2] इसी प्रकार **उपनय** में किया जाने वाला परामर्श मानसिक रूप से हेतु कथन ही होता है, अतः इसे हेतु से अभिन्न कहना अनुचित न होगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा और निगमन तथा हेतु और उपनय के परस्पर अभिन्न होने से तीन अवयव ही शेष रह जाते है। उदाहरणार्थ : पर्वत अग्नि वाला है (पर्वतो वह्निमान्), क्योंकि वह धूमवान् है (धूमवत्वात्), जो जो धूम युक्त है, वह वह अग्नि युक्त है, जैसे रसोईघर (यो यो धूमवान् सः स वह्निमान् यथा महानसम्), अतः पर्वत अग्नि युक्त है (तस्मात् तथेति)। इस पञ्चावयव न्यायवाक्य से प्रतिज्ञा और (निगमन में से एक तथा हेतु और उपनय में से एक को निकाल देने पर यह न्यायवाक्य इस प्रकार शेष रहेगा : **जो जो धूम युक्त है, वह वह अग्नि युक्त है** (यो यो धूमवान् सः स वह्निवान्), **क्योंकि पर्वत धूमयुक्त है** (धूमवत्वात् [पर्वतस्य]) इसमें भी पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग न करने पर '**पर्वत धूमयुक्त** है (पर्वतः धूमवान्) इसलिए **पर्वत वह्नियुक्त है** (तस्मात्पर्वतो वह्निमान्) स्वरूप होगा। इस में तीन ही अवयव शेष रह जाते हैं, तथा हेतु बोधक पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग न होने पर भी रेखागणित में प्रमेय सिद्धि के समान ही प्रमेयसिद्ध होती ही है। उसमें भी तो एक समकोण त्रिभुज को समकोण सिद्ध करने के लिए इसी प्रक्रिया का आश्रय लेते हुए कहा जाता है कि :

---

१. J. S. Mill : System of Logic P. 108

२. न्याय दर्शन १. १. ३६

∵ अ कोण=स कोण, और ब कोण=स कोण, इसलिए अ कोण=स कोण

यही स्थिति अरस्तू के न्यायवाक्य की है, उनका वाक्य है : चूंकि प्रत्येक मनुष्य मरणधर्मा है (All men are mortal) सुकरात एक मनुष्य है (Socrates is a man) इसलिए सुकरात मरणधर्मा है (Socrates is a mortal)

इस वाक्य को ही दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कहा जा सकता है : जो जो मनुष्य है, वह मरणधर्मा है, अथवा जहां जहां मनुष्यत्व है, वहां वहां मरण धर्मात्व है। सुकरात मनुष्यत्व युक्त है, अतः उस में मरणधर्मात्व है।

इस तीन अवयवो वाले वाक्य मे यदि प्रतिज्ञा और उपनय को स्वतन्त्र और स्पष्ट कर दिया जाए तो वाक्य इस प्रकार हो सकता है : सुकरात मरण-धर्मात्व से युक्त है, मनुष्य होने से जो जो मनुष्य है वह वह मरणधर्मा है, जैसे सिकन्दर; सुकरात भी उसी प्रकार है, अतः वह मरणधर्मा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैयायिकों के न्यायवाक्य और अरस्तू के वाक्य (Syllogism) में कोई अन्तर नही है। जहां तक संख्या प्रश्न का है इस सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिक भी एक मत नही है, इस मतवैविध्य को शास्त्र दीपिकाकार ने स्पष्ट शब्दो में स्वीकार किया है कि "कुछ विद्वान् न्यायांग पांच मानते है, तो कुछ केवल दो। हम लोग अर्थात् मीमांसक तीन मानते हैं प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण उपनय और निगमन।[1]" साहित्यिक भी केवल तीन अंगों को ही पर्याप्त मानते है। इसके अतिरिक्त उनका तो यह भी विचार है कि 'उदाहरण का कथन केवल उसी स्थिति में होना चाहिए, जब वक्ता श्रोता साहचर्य से परिचित न हो। साहचर्य के सर्व विदित होने पर तो केवल हेतु का कथन ही पर्याप्त होता है।[2] वेदान्तियो ने भी पांच अवयवों का स्पष्ट निषेध करते हुए प्रथम तीन अथवा अन्तिम तीन को ही अवयव के रूप में स्वीकार करना आवश्यक समझा।[3] वेदान्तदर्शन के कुछ प्राचीन ग्रन्थों में केवल दो अवयवों को ही मानकर शेष का निषेध किया गया है। उदाहरणार्थ

---

१. शास्त्रदीपिका पृ० ६४ २. व्यक्तिविवेक पृ० ६५।

३. वेदान्तपरिभाषा

चित्सुखाचार्य ने केवल उदाहरण और उपनय नामक दो अवयवों को ही मान्यता दी है।[1] बौद्ध भी केवल दो अवयव · उदाहरण और उपनय को ही स्वीकार करते है। न्यायबिन्दुकार ने, जो बौद्धों से पर्याप्त साम्य रखते है, प्रतिज्ञा और हेतु दो अवयवो को ही माना है। इनके विचार से दृष्टान्त भी व्याप्ति के समान हेतु का अग है। जब कि दिङ्नाग तीन अवयव स्वीकार करते है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि अवयवों की सख्या के प्रसग में न्याय वैशेषिक के अतिरिक्त लगभग सभी दार्शनिक सम्प्रदाय अरस्तू की मान्यता के अधिक निकट है। वैशेषिको ने न्यायदर्शन स्वीकृत इन न्यायांगों का नामान्तर से स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्रतिज्ञा आदि के क्रमशः निम्नलिखित नाम हैं: प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान और प्रत्याम्नाय।

न्याय वाक्य के अवयवो के विवेचन के अवसर पर एक प्रश्न और विचारणीय रह जाता है कि न्याय शास्त्र मे स्वीकृत पांच न्याय अवयवों में तृतीय अवयव 'जहां जहां धुआं है वहां वहा अग्नि है जैसे रसोई घर' को उदाहरण क्यों कहा जाता है। इस सम्पूर्ण वाक्याश में यद्यपि 'जैसे रसोई घर' यह अंश भी है, जिसे उदाहरण कहना उचित है। किन्तु इस अ श का इसमें इतना महत्व नहीं है, जितना कि 'जहां जहा धूम है वहा वहा वह्नि है' इस अंश का। न्यायवाक्य के उदाहरण भाग मे व्याप्ति अंश का महत्व उदाहरण अंश की अपेक्षा अधिक है, अतः इसे व्याप्ति नाम न देकर उदाहरण नाम देना तो व्याप्ति की उपेक्षा करना है। इसके अतिरिक्त 'जैसे रसोईघर' यह अंश कम महत्व के कारण अनेक बार उपेक्षित कर दिया जाता है, उस स्थिति में केवल व्याप्ति भाग का प्रयोग होने पर उसे उदाहरण कहना अनुचित भी प्रतीत होता है।

बैलेण्टाइन के अनुसार इस अवयव को उदाहरण कहने का कारण यह है कि श्रोता या प्रतिपत्ता इस अवयव को सुनकर ही इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों का मानस में स्मरण करता है, जिसके फलस्वरूप उसे व्याप्ति की यथार्थता का ज्ञान होता है एव परिणाम स्वरूप उससे अनुमिति ज्ञान

---

१. तत्वप्रदीपिका पृ० ४०१। २. न्यायप्रवेश पृ० २

उत्पन्न होता है।'[1] किन्तु यह समाधान ठीक नहीं है, क्योकि यद्यपि उदाहरण द्वारा उपर्युक्त कार्य में साहाय्य मिलता है, किन्तु उसकी अपेक्षा व्याप्ति अंश से अनुमान वाक्य को अधिक बल प्राप्त होता है। इसके विपरीत यदि उदाहरण में कुछ दोष हुआ तो सम्पूर्ण अनुमान प्रक्रिया अव्यवस्थित हो जाती है। किन्तु उदाहरण के बिना अनुमान न होता हो ऐसी बात नही है। यही कारण है कि अनेक आचार्यो एव दार्शनिक सम्प्रदायो ने इसे अनावश्यक समझा है।

मैक्समूलर (Max Muller) के अनुसार इस न्यायाग को उदाहरण कहने का कारण यह होना चाहिए कि गौतम की अनुमान प्रक्रिया में प्रधानतम व्याप्ति कर आधार उदाहरण ही है, व्याप्ति का अन्वयि अथवा व्यतिरेकि होना भी उदाहरण के स्वरूप पर ही निर्भर है, क्योकि अन्वयव्याप्ति तभी होती है, जब दृष्टान्त सपक्ष होता है। विपक्ष दृष्टान्त के होने पर अन्वयव्याप्ति न होकर व्यतिरेक व्याप्ति होती है।[2] वस्तुत: यह उचित नहीं कहा जा सकता। यद्यपि व्याप्ति और उदाहरण परस्पर नित्य सम्बद्ध हैं, किन्तु व्याप्ति का स्वरूप उदाहरण योजना पर निर्भर है, यह नही कहा जा सकता। क्योकि व्याप्ति का अन्वयि अथवा व्यतिरेकि होना उदहारण पर आश्रित नही है, अपितु इसके विपरीत वास्तविकता तो यह है कि उदाहरण का सपक्ष या विपक्ष होना व्याप्ति के स्वरूप पर निर्भर है। 'जहा जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है, जैसे रसोई घर' इस न्यायवाक्य में चूकि अन्वयव्याप्ति है, इसीलिए सपक्ष उदाहरण देना अनिवार्य हो गया है। अग्नि और धूम के इसी साहचर्य को कहने के लिए यदि हम व्यतिरेक व्याप्ति का अर्थात् 'जहां अग्नि नही है, वहां धूम भी नहीं है, का प्रयोग करें तो सपक्ष उदाहरण 'रसोईघर' के स्थान पर विपक्ष उदाहरण 'जलाशय' का ही प्रयोग करना अनिवार्य होता है।

समान व्याप्ति रहने पर भी यदि साध्य भिन्न हो तो उदाहरण भिन्न हो जाता है। धूम और अग्नि के साहचर्य के कारण धूम को देखकर अग्नि का साधन किया जा सकता है, उसी प्रकार अग्नि के न होने पर

---

1. Lectures on Nyaya Phylosophy P. 36
2. Thomson's lows of Thought, Appendix P. 296

धूम का अभाव भी सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु जब अग्नि का अभाव देखकर धूम का अभाव सिद्ध करना चाहेंगे, तो उदाहरण 'रसोईघर' न रह कर 'जलाशय' होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्याप्ति उदाहरण पर आश्रित नहीं है किन्तु व्याप्ति के स्वरूप अथवा साध्य पर उदाहरण का सपक्ष या विपक्ष होना आश्रित है। इतना अवश्य है कि व्याप्ति ज्ञान के लिए उदाहरण का होना अनिवार्य है। किन्तु इस तृतीय वाक्य को, जिसमें व्याप्ति का सर्वाधिक महत्व है, उदाहरण नाम क्यों दिया गया है यह प्रश्न ज्यों का त्यों है।

इस प्रश्न का समाधान यह होना चाहिए कि न्यायशास्त्र के आदि काल में पञ्चावयवय न्यायवाक्य के तृतीय अवयव में व्याप्ति को स्थान प्राप्त न था, उस समय केवल दृष्टान्त का ही कथन तृतीय अवयव के रूप में किया जाता था। उत्तर काल में व्याप्ति भाग को आवश्यक समझ कर उसे इसमें जोड़ दिया गया है। गौतम के समय में न्याय वाक्य का स्वरूप निम्नलिखित था 'पर्वत अग्नि युक्त है, धूम युक्त होने से, रसोईघर के समान, यह भी उसके समान है, अतः यह भी वैसा ही अर्थात् अग्नियुक्त है' (पर्वतो वह्निमान् धूमात्, यथा महानसम् तथा चायम्, तस्मास्तथेति)। प्रस्तुत न्यायवाक्य को ध्यान मे रखकर ही गौतम ने उदाहरण की निम्नलिखित परिभाषा की है कि 'साध्य का धर्म (धूम) जहा साध्य (अग्नि) के साथ विद्यमान हो उसे उदाहरण कहते हैं।[१] गौतम अभिप्रेत इस उदाहरण के द्वारा ही उपनय वाक्य की पूर्णता होती है, जिसके अनन्तर अनुमिति ज्ञान उत्पन्न होता है। इसीलिए गौतम ने उपनय की परिभाषा भी उदाहरण सापेक्ष ही की है।[२] यही कारण है कि उत्तरकालीन न्यायशास्त्र में स्वीकृत उदाहरण और उपनय में गौतमकृत लक्षण संगत नहीं होते।

'व्याप्ति का प्रतिपादक वाक्य उदाहरण है'[3] अन्नभट्ट कृत परिभाषा उदाहरण की नवीनतम व्याख्या कही जा सकती है किन्तु यह परिभाषा गौतम कालीन उदाहरण में घटित नहीं होती।

---

१. न्यायदर्शन १. १. ३६ २. वही १, १. ३८ ३. तर्कदीपिका पृ० ६७

व्याप्ति को उदाहरण वाक्य में सर्व प्रथम सयुक्त करने का श्रेय संभवतः धर्म कीर्त्ति को है। उनके ग्रन्थ न्याय बिन्दु में उदाहरण वाक्य व्याप्ति सहित और व्याप्ति रहित दोनों प्रकार से प्राप्त होता है। एक स्थल पर वे 'शब्द अनित्य है, कार्य होने से आकाश के समान' (अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् आकाशवत्) कहते हुए व्याप्ति रहित उदाहरण अवयव का प्रयोग करते है एवं एक अन्य स्थल पर वे 'जहा अग्नि है वहा धूम है, जैसे रसोईघर (यत्राग्निः तत्र धूमः यथा महानसम्) कहते हुए वे उदाहरण में प्रथम व्याप्ति वाक्य का प्रयोग करते है ।

उदाहरण अंश में व्याप्ति वाक्य का यह प्रयोग सभवतः केवल दृष्टान्त रहने पर उठने वाली नाना प्रकार की कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर किया गया होगा। साथ ही पूर्वोक्त प्रसङ्ग से यह भी पता चलता है कि यह व्याप्ति वाक्य प्रारम्भ में हेतु का विशेषण था एवं कालान्तर में वह उदाहरणांश का अंग बन गया। व्याप्ति के उदाहरणांश में संयुक्त होने से उदाहरण की महत्ता कम होगयी, अथवा एक प्रकार से अवयव के रूप में उदाहरण की आवश्यकता ही समाप्त हो गयी है। पञ्चावयव न्यायवाक्य में व्याप्ति का समावेश होने से पूर्व हेतु का **अन्वयी** अथवा **व्यतिरेकी** होना उदाहरण पर आश्रित था। उदाहरण में साध्य और धर्म रूप हेतु को यदि एक साथ विद्यमान देखना संभव हुआ तो हेतु को **अन्वयी** कह दिया गया, और यदि साध्य और हेतु का सहदर्शन उदाहरण में सम्भव न हुआ तो हेतु को व्यतिरेकी कह लिया गया। किन्तु अवयवों में व्याप्ति वाक्य का प्रवेश होते ही उदाहरण का यह कार्य समाप्त हो गया।

इस तृतीय अवयव के 'उदाहरण' नाम के प्रसग में मैक्समूलर का विचार उदाहरण के प्राचीन स्वरूप के अनुसार अवश्य ही उचित प्रतीत होता है, किन्तु उदाहरण वाक्य के वर्त्तमान स्वरूप को देखते हुए उदाहरण नाम उचित प्रतीत नहीं होता। इतना ही नहीं, किन्तु व्याप्ति वाक्य के समक्ष इसका प्रयोग न्याय शास्त्रीय परम्परा में अनिवार्य न रहकर सामयिक रह गया है। इसीलिए प्राचीन नैयायिकों की दृष्टि में अनिवार्य रूप में आवश्यक **उदाहरण** को कुछ नवीन नैयायिक पञ्चावयव वाक्य में स्थान देना भी उचित नहीं समझते।[१]

---

१. सिद्धन्त चन्द्रिका पृ० ४०१

यद्यपि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है कि पाश्चात्य दार्शनिक न्याय वाक्य (Syllogism) मे उदाहरण को स्थान नहीं देते; किन्तु अरस्तू के न्यायवाक्य में भी नैयायिको के समान उदाहरण का एक दृष्टान्त हमें उपलब्ध होता है, जो कि ग्रीक दार्शनिको मे अत्यन्त सामान्य है · The war of Athens against Thebes was mischievous. (पक्ष+साध्य= प्रतिज्ञा) Because it was a war of against the neighbours. (हेतु) Just as the war of Thebes against Phokis was. (दृष्टान्त)[१] अर्थात् थेब्स के विरुद्ध एथेन्स का युद्ध अनुचित था (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह एक पडोसी के विरुद्ध युद्ध था (हेतु), ठीक वैसे ही जैसे थेब्स का फोकियों के विरुद्ध युद्ध अनुचित था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय नैयायिक और यूनान के प्राचीन दार्शनिक दोनों ही न्यायवाक्य में उदाहरण को स्वीकार करते है।

अनुमिति ज्ञान का करण : इसी प्रकरण में पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि 'व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्म अर्थात् हेतु पक्ष में विद्यमान है, यह ज्ञान **परामर्श** कहाता है, इसके ही अन्य नाम **लिंगपरामर्श** एव तृतीय परामर्श भी है। यह परामर्श ही अनुमिति ज्ञान का **करण** है। न्यायशास्त्र में अनुमिति के करण के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त प्रचलित है : **लिङ्गज्ञान करण** है, **व्याप्तिज्ञान करण** है अथवा **परामर्श करण** है। प्रथम मत वैशेषिकों का है, इसीलिए वे अनुमिति ज्ञान को **लैङ्गिक** कहते हैं। इस मत के समर्थन में शंकरमिश्र का कथन है कि चूकि व्यापारयुक्त असाधारण कारण को करण कहते है, तथा परामर्श स्वयं व्यापार रूप है, एवं व्यापार में अन्य व्यापार का होना सम्भव नहीं है, अतः व्यापार (परामर्श) से अव्यवहित पूर्ववर्त्ती लिङ्ग ज्ञान को ही करण मानना अधिक उचित है। लिङ्गज्ञान को करण मानने पर परामर्श रूप व्यापार से युक्त होने के कारण लक्षण की सगति में बाधा नही आती।[२]

उत्तर कालीन नैयायिक इसे (लिङ्गज्ञान को) करण नहीं मानते। उनका कथन है कि यदि **लिङ्ग ज्ञान** ही **करण** है, तो भूत और भविष्यत्कालीन लिङ्ग

---

1. Grate Aristotal vol. I P. 274,
२. वैशेषिक उपस्कार पृ० २१६

ज्ञान से भी अनुमिति होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। लिङ्ग ज्ञान केवल उसी स्थिति में अनुमिति का जनक होता है, जब वह पक्ष के धर्म के रूप ज्ञात हो रहा हो। पक्ष धर्म के रूप में लिङ्ग का ज्ञान परामर्श से भिन्न नही है। फलतः **लिङ्गज्ञान** के स्थान पर **परामर्श** को ही करण मानना अधिक उचित होगा।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि परामर्शज्ञान को अनुमिति सामान्य के प्रति करण न मानकर व्याप्ति के स्मरण तथा पक्षधर्मता के ज्ञान को स्वतन्त्र रूप से करण क्यों न माना जाए ? इस स्थिति में पर्वतीय वह्नि के अनुमान के लिए धूम वह्नि व्याप्य है, तथा यह पर्वत धूमवान् है, ये दो ज्ञान अनुमिति के प्रति करण हो सकेंगे।[1] इस प्रश्न के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि ये दोनो कारण पृथक् पृथक् करण है, अथवा समष्टि रूप से ? यदि स्वतन्त्र रूप से करण हैं, तो क्या केवल व्याप्ति स्मरण अथवा केवल पक्षधर्मता ज्ञान से अनुमिति हो सकती है ? यदि नहीं तो दोनों को स्वतन्त्र रूप से करण कैसे माना जाए ? समष्टि रूप से कारण मानने पर दो करणो की स्वीकृति की अपेक्षा व्याप्ति ज्ञान से युक्त पक्षधर्सता के ज्ञान अर्थात् परामर्श को करण मानने में लाघव है। साथ ही परार्थानुमान में पञ्चावयव न्यायवाक्य में उपनय द्वारा परामर्श होने के अव्यवहित उत्तर काल में अनुमिति ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः परार्थानुमान में परामर्श अनिवार्यतः अनुमिति का करण सिद्ध होता है। शेष स्वार्थानुमान के लिए परामर्श से भिन्न को करण स्वीकार करने में गौरव होगा, अतः स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दोनों में ही लिङ्ग परामर्श को करण माना गया है। इस निर्दोष युक्ति से निस्सन्देह परामर्श ही करण सिद्ध होता है; किन्तु विश्वनाथ आदि कुछ प्राचीन नैयायिक 'व्यापारयुक्त असाधारण कारण को ही करण मानते हैं, अतः उनके मत में परामर्श करण नही हो सकता, क्योंकि उसमें व्यापार नहीं है। ऐसी स्थिति में वे परामर्श को अनुमिति का करण न मानकर व्याप्तिज्ञान को करण मानते हैं।

नव्य नैयायिकों की ओर से इस प्रश्न के दो समाधान संभव हैं : प्रथम यह कि परामर्श अनुमिति का असाधारण कारण तो है ही, संस्कार उसका व्यापार है, अतः उसको करण स्वीकार करने मे कोई आपत्ति न होनी

---

१. तत्वचिन्तामणि पृ० ६८९-९०

चाहिए । चूंकि परामर्श के तत्काल अनन्तर सस्कार और अनुमिति दोनों की ही उत्पत्ति होती है; अत. समकालीन संस्कार और अनुमिति में एक को दूसरे की उत्पत्ति मे कारण का व्यापार मानना उचित नही है ।[१] अतएव वे दूसरा समाधान यह देते है कि करण हाने के लिए उसका व्यापार युक्त होना आवश्यक नही है · 'कार्य के अव्यवहित पूर्व विद्यमान कारण ही करण हैं ।[२]

विश्वनाथ व्याप्तिज्ञान को करण तथा परामर्श को व्यापार मानते है। इस प्रकार उनके मन मे करण लक्षण मे कोई संशोधन नही करना पड़ता। व्याप्तिज्ञान को करण मानते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ 'फल से अव्यवहित पूर्ववर्त्ती को करण' मानने को प्रस्तुत नही है। क्योकि उस स्थिति मे प्रत्यक्ष के प्रसङ्ग में इन्द्रियो को ज्ञान का करण न माना जा सकेगा, जबकि सूत्रकार गौतम ने इन्द्रिय को प्रत्यक्षज्ञान का करण स्वीकार किया है ।[3] इसके अतिरिक्त असाधारण कारण को करण मानने मे लाघव भी है ।[४]

लिङ्ग--लीन अर्थ को प्रगट करने वाले पक्षधर्म को लिङ्ग कहते हैं। परार्थानुमान के अवसर पर प्रयुक्त पञ्चावयव न्यायवाक्य के द्वितीय अवयव में लिङ्ग का शब्दत: कथन किया जाता है, उस स्थिति मे लिङ्ग के बोधक उस अवयव को ही हेतु कह लिया जाता है। किन्तु लिङ्ग न्याय (पञ्चावयव) वाक्य का अग नहीं है, यह प्रत्यक्ष का विषय तथा पक्ष में विद्यमान धर्म विशेष है। किन्तु न्यायशास्त्र में लिङ्ग और हेतु शब्द समानान्तर व्यवहृत होते हैं ।[५] लिङ्ग अथवा लिङ्ग का शब्दत: कथन (हेतु) अनुमान प्रक्रिया का आधार स्तम्भ है। इसके आधार पर ही अनुमिति को प्रामणिक अथवा अप्रामाणिक माना जा सकता है। यह हेतु सद्धेतु भी हो सकता है और असद् हेतु भी असद् हेतु को ही हेत्वाभास (Fallacy) कहते हैं। यह लिङ्ग तीन प्रकार का हो सकता है : केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्यवव्यतिरेकी ।[६]

केवलान्वयी हेतु वह है, जो साध्य के साथ सदा देखा जाता हो, किन्तु साध्याभाव के साथ जिसका अभाव देखा न जा सके; अर्थात् जिसका

---

१. तत्वचिन्तामणि पृ० ७८३ २. भाषारत्न पृ० ७२
३. न्यायसूत्र १. १. ४ ४. न्यायचन्द्रिका पृ० ८४
५. वैशेषिक सूत्र ६. २-४ ६. प्रमाणवार्त्तिक पृ० ८

अभामात्मक उदाहरण न मिल सके । जैसे: 'घड़ा अभिधेय (वाणी का विषय) है, प्रमेय (ज्ञान का विषय) होने से' इस अनुमान मे साध्य अभिधेय होना तथा लिङ्ग या हेतु **प्रमेय होना** है । हेतु और साध्य के साहचर्य के लिए अन्वय उदाहरण तो विश्व का प्रत्येक पदार्थ हो सकता है, क्योकि प्रत्येक पदार्थ ज्ञान और वाणी का विषय है, किन्तु यदि हम ऐसा उदाहरण देखना चाहे, जो न ज्ञान का विषय हो और न वाणी का विषय हो, तो ऐसा उदाहरण मिलना सम्भव न हो सकेगा । ऐसे हेतु को ही केवलान्वयी हेतु कहा जाता है । इस हेतु मे केवल सपक्ष उदाहरण ही प्राप्त होगा विपक्ष उदाहरण नही ।[1]*

केवलव्यतिरेकी हेतु का सपक्ष उदाहरण नही होता, अर्थात् किसी भी भाव स्थल में हेतु और साध्य की सत्ता एक साथ दृष्टिगत नही हो सकती । किन्तु जहां जहां साध्य का अभाव होता है, वहा वहां हेतु का अभाव नियत रूप से रहता है। इस प्रकार अभाव स्थल में ही जिसका नियत साहचर्य प्राप्त हो सके वह व्यतिरेकी हेतु है । जैसे : 'पृथिवी जल आदि से भिन्न है, गन्धयुक्त होने से, जो गन्धयुक्त नही है वह जल आदि से भिन्न नही है, जैसे जल ।' इस अनुमान में हेतु व्यतिरेकी है, क्योकि जल आदि में गन्ध (हेतु) का अभाव है, तो पृथिवी भिन्न से भेद (साध्य) का भी अभाव है, इस प्रकार यहां विपक्ष उदाहरण तो अनेक हो सकते हैं, किन्तु सपक्ष उदाहरण एक भी नही हो सकता, अतः इसे व्यतिरेकी अथवा केवलव्यतिरेकी हेतु कहा जाएगा ।[2]

अन्वयव्यतिरेकी हेतु वह है 'जो साध्य के साथ अन्वय साहचर्य और व्यतिरेक साहचर्य दोनों से युक्त हो । अन्वय साहचर्य का तात्पर्य है कि जहां जहां हेतु का दर्शन हो वहा वहां साध्य का दर्शन भी अनिवार्यतः होता हो, तथा व्यतिरेक साहचर्य का तात्पर्य है जहां जहां साध्य न हो वहां वहा हेतु के भी दर्शन न हो । इस प्रकार जिसके दोनों प्रकार के उदाहरण प्राप्त हों वह अन्वयव्यतिरेकि हेतु है । जैसे : अग्नि साधक अनुमान का हेतु धूम

---

*अन्वयी हेतु के उदाहरण को सपक्ष कहते हैं, इसमें हेतु और साध्य दोनों ही विद्यमान रहते हैं । व्यतिरेकि हेतु के उदाहरण को विपक्ष कहते है, इसमें हेतु और साध्य की भावात्मक सत्ता का अभाव निश्चित रहता है ।

१. तर्कभाषा प्रकाशिका पृ० १४४ २. वही पृ० १४५

जहां जहां है. वहां वहां अग्नि भी अवश्य है, रसोई घर आदि में इसे देखा जा सकता है, यहां धूम के रहने पर अग्नि का रहना निश्चित है, अत: अन्वयव्याप्ति हुई; तथा जहा जहां साध्य अग्नि नहीं है, वहां वहां हेतु धूम भी नहीं है, जैसे : जलाशय मे साध्य अग्नि का अभाव है, तो हेतु धूम का अभाव भी सर्वथा निश्चित है। इस प्रकार जिस हेतु के सपक्ष और विपक्ष दोनों प्रकार के उदाहरण सभव हों, उस हेतु को अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहा जाता है।[1]

अन्वयव्यतिरेकी हेतु पर विचार करते समय यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्वयव्याप्ति में जो व्याप्य होता है, व्यतिरेकव्याप्ति मे उसका अभाव व्याप्य न होकार व्यापक होगा : इसी प्रकार अन्वयव्याप्ति मे जो व्यापक होता है व्यतिरेकव्याप्ति मे उसका अभाव व्यापक न होकर व्याप्य होगा। जैसे 'जहा जहां धूम है' वहा वहां अग्नि है' इस अ वयव्याप्ति मे धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक, व्यतिरेकव्याप्ति में 'जहा जहां अग्नि नहीं है, वहां वहां धूम भी नहीं है' में धूम का अभाव जो अन्वय व्याप्ति में व्याप्य था, व्यापक है, तथा अग्नि का अभाव, जो अन्वयव्याप्ति में व्यापक था, व्याप्य है।

केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी हेतु के आधार पर अनुमान भी केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि और अन्वयव्यतिरेकि भेद से तीन प्रकार का हो जाता है। इसी प्रकार व्याप्ति और उदाहरण भी उक्त भेद से तीन प्रकार के कहे जा सकते हैं।

केवलान्वयि हेतु के सम्बन्ध मे 'सब कुछ अभिधेय अर्थात् वाणी का विषय है, प्रमेय अर्थात् ज्ञान का विपय होने से' यह उदाहरण दिया गया था। यहा एक प्रश्न हो सकता है कि इस अनुमान मे पक्ष 'सब कुछ' है जिसमे अभिधेयत्व की सिद्ध की जा रही है। किन्तु अनन्त विश्व की अनेक ऐसी वस्तुए हो सकती है, जो अब तक मानव के मस्तिष्क से परे है, और इसीलिए अभिधेय अर्थात् वाणी का भी विषय भी नही है, अर्थात् उनके नाम आदि नही हैं। इस प्रकार की अनन्त वस्तुओं की संभावना होने पर साध्य तथा हेतु का व्यतिरेकी उदाहरण मिलना असंभव नही हैं, अत. इसे अन्वयी हेतु कैसे कहा जाए। इस आशंका का समाधान अन्नंभट्ट ने सर्वद्रष्टा परमेश्वर

---

१. वही पृ० पृ० १४७

के ज्ञान और उसकी वाणी का विषय मानते हुए उन अज्ञात पदार्थों को भी ज्ञात और वाणी का विषय मानकर किया है ।[1] इस आशंका का दूसरा समाधान काल अथवा प्रमाता को आधार मानकर भी किया जा सकता है, अर्थात् जिस काल में जो वस्तु जिस प्रमाता के ज्ञान का विषय होगी, उस काल में वह उस प्रमाता की वाणी का भी विषय अवश्य ही होगी ।[2]

व्यतिरेकि अनुमान के सम्बन्ध में भी एक आक्षेप संभव है कि 'पृथिवी जल आदि से भिन्न है' इस अनुमान में प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुमीयमान जल आदि से भेद प्रसिद्ध है, अथवा अप्रसिद्ध ? यदि प्रसिद्ध है, तो अन्वय उदाहरण मिलने से इसे **केवल व्यतिरेकि** नहीं कह सकते । क्योंकि जल आदि से भिन्न और गन्ध युक्त उस प्रसिद्ध पदार्थ के रूप मे सपक्ष दृष्टान्त मिलने से यह व्यतिरेकि अनुमान नहीं रहेगा । यदि हेतु गन्ध उस भिन्न वस्तु में नही है, तो **गन्धवत्व हेतु** केवल पक्षवृत्ति होने से **असाधारण** हेत्वाभास कोटि मे आजाएगा । यदि यह मान ले कि 'साध्य अप्रसिद्ध है' तो अनुमिति नही हो सकती, क्योकि यदि पृथिवी भिन्न जल आदि से भेद अप्रसिद्ध है, तो ऐसी स्थिति में उसके अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता, एव अभावरूप विशेषण को जाने बिना विशेष्य का ज्ञान असम्भव है; फलतः न तो व्याप्ति ग्रहण हो सकेगा और न साध्य के अज्ञात होने के कारण अनुमिति ही हो सकेगी । इस प्रकार इतरभेदाभाव का ज्ञान न होने के कारण **व्यतिरेकव्याप्ति भी न** हो सकेगी ।

व्यतिरेकी हेतु मानने वालों के लिए उपर्युक्त आपत्ति एक प्रकार का सिर दर्द है । तर्कदीपिकाकार अन्नंभट्ट ने यद्यपि उपर्युक्त आपत्ति का समाधान देने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह वास्तविक की अपेक्षा शाब्दिक अधिक है । अन्नंभट्ट का कथन है कि पृथिवी आदि नौ द्रव्य तथा गुण कर्म आदि पदार्थ परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं, फलतः जल तेज आदि सभी शेष तेरह से भिन्न हैं; पृथिवी में उन्ही भेदों की सिद्धि सामूहिक रूप से की जाती है । इस प्रकार सामूहिक भेद दृष्टिगत न होने से सपक्ष दृष्टान्त न बन सकेगा, एवं इसीलिए **अन्वयव्याप्ति** भी न बन सकेगी । परन्तु पृथिवी आदि का पृथक् पृथक् भेद

---

१. तर्कदीपिका पृ० १०२

२. रामरुद्री (तर्कदीपिका टीका) पृ० २८१ ।

प्रसिद्ध होने के कारण आसाधारण हेत्वाभास भी न कहा जा सकेगा। इनका परस्पर भेद चूंकि प्रत्येक अधिकरण में प्रसिद्ध है, अतः व्यतिरेक व्याप्ति और उसके द्वारा साध्यविशिष्ट अनुमिति में कोई बाधा न आ सकेगी।[1]

ऊपर की पंक्तियों में हमने देखा है कि **केवलव्यतिरेकि** अनुमान में साध्य केवल पक्ष में ही रहता है, वह केवल पक्ष का ही धर्म है, साथ ही अज्ञात है। इस अज्ञात धर्म की जानकारी अनुमान के माध्यम से होनी असम्भव है। क्योंकि अनुमान में सामान्य नियम से एक विशेष साध्य को ही स्वीकार किया जाता है, यहां यह असाधारण धर्म, जो कि पूर्वतः पूर्णतया अज्ञात है, इस प्रक्रिया से नही जाना जा सकता। दूसरा मार्ग प्रत्यक्ष का है : उसस्थिति में अनुमान की आवश्यकता ही न रह जाएगी। इस प्रकार उपर्युक्त आक्षेप का अन्नंभट्ट कृत समाधान उपयुक्त नही कहा जा सकता।

हेतु और अनुमान का तीन प्रकार का यह विभाजन नव्यन्याय के ग्रन्थों में ही मिलता है, नव्य नैयायिकों को इस प्रकार के विभाजन की प्रेरणा अवश्य ही गौतमकृत साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा किये गये हेतु के विभाजन से मिली है।[2] हेतु के दो भेद होने से ही उसपर आश्रित **उदाहरण उपनय और निगमन** के भी दो दो भेद हो जाते हैं। हेतु में भी यह **साधर्म्य** और **वैधर्म्य** दृष्टान्त पर आधारित रहता है। हेतु द्वारा पक्ष मे साध्य की सिद्धि व्याप्ति ज्ञान के बिना सम्भव नही है, तथा व्याप्ति एक प्रकार से हेतु धर्म है, अतः हेतु के आधार पर व्याप्ति के भी उपर्युक्त भेद हो जाते है। एव हेतु और व्याप्ति पर आश्रित अनुमान भी पूर्वोक्त प्रकार से विभाजित हो जाता है। सूत्रकार गौतम ने यद्यपि हेतु का साधर्म्य और वैधर्म्य रूप से दो प्रकार का विभाजन ही किया था, अतः अनुमान और उसके अंगों के भी केवल दो-दो भेद ही होने चाहिए थे, किन्तु उत्तरवर्त्ती आचार्यो ने साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर हेतु आदि की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुए उनके संयुक्त स्वरूप को भी स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया है, जिसका नाम अन्वयव्यतिरेकी हेतु है।

मीमासक और वेदान्ती केवलव्यतिरेकि अनुमान को स्वीकार नही करते। इसके बदले वे प्रमाणों में **अर्थापत्ति** नामक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करते

---

१. तर्क दीपिका पृ० १०३—१०४ २. न्याय सूत्र १. १. ३४-३५

हैं, एवं व्यतिरेकि अनुमान के सम्पूर्ण उदाहरण उनके अनुसार **अर्थापत्ति** प्रमाण के उदाहरण बन जाते हैं। उनका विचार है कि 'अनुमान **अन्वयिरूप** केवल एक प्रकार का ही है, **केवलव्यतिरेकि, केवलान्वयि** और **अन्वयव्यतिरेकि** भेद से तीन प्रकार का नही है। चूंकि वेदान्त मत में सभी वस्तुएं ब्रह्ममय है, अतः ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव सम्भव ही नही है, और इसीलिए **व्यतिरेकि अनुमान** भी सम्भव नही है। व्यतिरेकी हेतु और व्यतिरेकव्याप्ति के अभाव मे **केवलव्यतिरेकि अनुमान** तथा व्यतिरेकि संयुक्त अन्वयि अर्थात् **अन्वयव्यतिरेकि अनुमान** का होना भी संभव नहीं है। इस प्रकार केवलव्यतिरेकी एव अन्वयव्यतिरेकी हेतु या अनुमान नहीं हो सकते, और इसीलिए अन्वयि अनुमान मे केवल विशेषण लगाने की आवश्यकता भी नही रह जाती। जहां तक प्रश्न व्यतिरेकि अनुमान के उदाहरणों का है: जहां धूम आदि अन्वय व्याप्ति ज्ञान के बिना भी व्यतिरेक व्याप्ति के ज्ञान से ही साध्य का ज्ञान होता है, वहा वह ज्ञान अनुमान द्वारा न होकर अर्थापति द्वारा होता है।[1]

अनुमान भेद और उनकी मीमांसा :

एक ज्ञान से अन्य ज्ञान प्राप्त करने की प्रकिया में जहां सामान्य नियम से विशेष निर्णय प्राप्त किया जाता है अर्थात् व्यापक नियम के आधार पर असाधारण नियम की स्थापना की जाती है, उसे ही प्रमाणिक और उचित कहा जा सकता है। किन्तु यह प्रक्रिया केवलान्वयि अनुमान में संगत नही होती, वहां तो साध्य स्वयं ही व्यापकतम अथवा सामान्य होता है, अतः केवला-न्वयि अनुमान को निर्दोष नही कहा जा सकता।

व्यतिरेकि अनुमान को भी निर्दोष नही कहा जा सकता, क्योकि इसमें साध्य केवल पक्ष में ही रहता है। साध्य और हेतु के सहचार दर्शन के लिए उदा-हरण का मिलना सम्भव नही होता। यदि किसी प्रकार उदाहरण मान भी लिया जाए तो वहां हेतु और साध्य दोनों ही सहचरित प्रतीत होते हैं, फलस्वरूप उन हेतु और साध्य मे व्याप्यव्यापकभाव नही हो सकता। नैयायिकों की मान्यता के अनुसार चूंकि परामर्श में साध्यव्याप्यलिङ्ग का ज्ञान आवश्यक होता है, तथा यह साध्यव्याप्य लिङ्गज्ञान तभी सम्भव है, जबकि साध्य का व्यापकत्व

---

१ वेदान्त परिभाषा पृ० १४८—१५०

एवं लिङ्ग का व्याप्यत्व सिद्ध हो। व्यतिरेकव्याप्ति में स्थिति इसके विपरीत है, यहां साध्याभाव हेत्वभाव का व्याप्य है। इस प्रकार यहां व्याप्ति विशिष्ट साध्य होगा, हेतु नहीं, फलस्वरूप व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्म का ज्ञान न होने से परामर्श के अभाव मे अनुमिति न हो सकेगी। नैयायिको ने इस आपत्ति का समाधान 'व्याप्ति विशिष्टत्व को पक्ष के धर्म हेतु का धर्म न मानकर 'पक्ष-धर्मताज्ञान का धर्म मानकर किया है। किन्तु फिर भी यह समस्या तो बनी ही रहती है कि व्यतिरेकिअनुमान में चूंकि व्याप्य अभावात्मक है, अतः फल भी अभावात्मक ही होना चाहिए; किन्तु नैयायिक भावात्मक फल प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस समस्या का समाधान सिद्धान्त चन्द्रोदयकार ने इस प्रकार दिया है कि यद्यपि व्याप्ति साध्याभाव मे रहती है, किन्तु वहां भी साधन प्रतियोगी के रूप में जाना जाता है, किसी अभाव का प्रतियोगी अभाव रूप न होकर भाव रूप ही होता है तथा भाव रूप होने से अभाव के रूप में व्याप्य प्रतीत होता हुआ लिङ्ग, भाव रूप मे व्यापक ही प्रतीत होगा, अत. भावावस्था में व्याप्ति हेतु में ही रहेगी साध्य में नही।[1] निदान व्यतिरेक व्याप्ति में भी साधन के पक्ष वृत्तित्व ज्ञान से अनुमिति ज्ञान अवश्य होगा।

केशव मिश्र ने उपर्युक्त तीनों हेतुओ मे कुछ विशेष धर्मो की चर्चा की है एवं कहा है कि उन समस्त धर्मो (तत्वों) के रहने पर ही ये हेतु पक्ष में साध्य की सिद्धि करने में समर्थ हो पाते है। उनके अनुसार अन्वयव्यतिरेकी हेतु में निम्निलिखित पाच धर्म होने आवश्यक है: **पक्षसत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व** एव **असत्प्रतिपक्षत्व**।[2] इन धर्मो या विशे-षताओं के अभाव में अन्वयव्यतिरेकि हेतु हेतु न रहकर हेत्वाभास हो जाता है। जैसे:—'पर्वत वह्नियुक्त है धूम युक्त होने से।' इस अनुमान में धूमवान् होना अन्वयव्यतिरेकि हेतु है। इसमें पांचो धर्म होने चाहिए। चूकि पर्वत में अग्नि की सिद्धि की जा रही है, जब तक पर्वत मे अग्नि की सिद्धि न हो जाए, तब तक उसमें साध्य अग्नि का सन्देह ही रहेगा, अत: सन्दिग्ध-साध्यवाला होने से पर्वत पक्ष कहा जाता है, और धूम हेतु उसमें रहता है;

---

१. सिद्धान्त चन्द्रोदय अनुमिति खण्ड

२. (क) तर्कभाषा पृ० ४२ (ख) तर्ककौमुदी पृ० १२

अतः उस धूम हेतु में अन्वयव्यतिरेकी हेतु का प्रथम धर्म **पक्षसत्व** विद्यमान है। दूसरा धर्म **सपक्षसत्व** है। जिसमें साध्य का निश्चय हो उसे सपक्ष कहते है। जैसे अग्नि के अनुमान में रसोईघर सपक्ष है। प्रस्तुत अनुमान का हेतु धूम सपक्ष रसोईघर में विद्यमान है, अत. हेतु का दूसरा धर्म सपक्षसत्व इसमें विद्यमान है। जिसमें साध्य का अभाव निश्चित हो, उसे विपक्ष कहते है, सद्धेतु में विपक्षव्यावृत्ति अर्थात् विपक्ष में उसका अभाव भी होना आवश्यक है। साध्य अग्नि का जलाशय में अभाव निश्चित है, अतः वह अग्नि का विपक्ष हुआ उसमें धूम हेतु का अभाव (व्यावृत्ति) है, अतः हेतु का तृतीय धर्म विपक्षव्यावृत्ति भी इसमें विद्यमान है ही। हेतु के चतुर्थ धर्म अबाधित विषय का अर्थ है कि हेतु के साध्य का अभाव किसी अन्य प्रमाण द्वारा निश्चित न हो। जैसे कार्य अग्नि उष्णता रहित है, कार्य होने से, घड़े के समान' इस अनुमान में कार्यत्व हेतु द्वारा अग्नि में उष्णता का अभाव सिद्ध किया जा रहा है, किन्तु उसमें उष्णता प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है, अतः यह हेतु अबाधितविषय न होकर बाधितविषय है। पर्वत मे अग्नि साधक अनुमान में धूम हेतु द्वारा साध्य अग्नि है, उसका अभाव किसी भी प्रमाण द्वारा बाधित नही है, अत: वह अबाधित विषय धर्म से भी युक्त है। अन्वयव्यतिरेकी हेतु का पांचवां धर्म **असत्प्रतिपक्षत्व** है। साध्य से विपरीत अर्थात् साध्याभाव के साधक हेतु को प्रतिपक्ष कहते है।[1] यदि हेतु के साथ प्रतिपक्ष हेतु भी हुआ तो दो विरोधी अनुमानो द्वारा प्राप्त दो विरोधी ज्ञानो में दोनों ही अप्रमाणिक हो जाते हैं, अतः सद् हेतु के लिए आवश्यक है कि इसका प्रतिपक्ष हेत्वन्तर विद्यमान न हो। प्रस्तुत अनुमान के हेतुधूम का प्रतिपक्ष अन्य हेतु विद्यमान नही है, अतः इसमें पञ्चम हेतुधर्म भी विद्यमान है, यह कहा जा सकता है। न्यायबिन्दुकार ने हेतु मे उपर्युक्त पांच धर्म न मानकर प्रारम्भ के केवल तीन ही धर्म आवश्यक माने हैं। अन्तिम दो के होने पर तो कोई भी हेतु हेत्वाभास ही बन जाता है; चूंकि वे हेत्वाभास के धर्म है, अतः उनका अभाव सद् हेतु में स्वतः ही अनिवार्य है।[2]

तर्क भाषा के व्याख्याकार चिन्नंभट्ट का विचार है कि हेतु में इन पांच धर्मों की सत्ता उसमें हेत्वाभासत्व* का अभाव सिद्ध करने के लिए आवश्यक है। जैसे

---

*हेत्वाभासों का विवेचन अग्रिम पृष्ठों में द्रष्टव्य है।

१. वही पृ० ४३ २. न्यायबिन्दु पृ० १०४

असिद्ध **हेत्वाभास** की निवृत्ति के लिए **पक्षधर्मत्व**, विरुद्ध की निवृत्ति के लिए **सपक्षसत्व**, अनैकान्तिक की निवृत्ति के लिए विपक्षव्यावृत्ति, कालात्ययापदिष्ट (बाधित) की निवृत्ति के लिए अबाधितविषयत्व तथा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास की निवृत्ति के लिए असत्प्रतिपक्षत्व धर्म का कथन किया ही जाना चाहिए।[1] केवलान्वयी हेतु मे उपर्युक्त पांच हेतु धर्मो मे से केवल चार धर्म ही होते है, उसमें विपक्ष व्यावृत्ति धर्म नही होता। इसी प्रकार केवलव्यतिरेकी में भी सपक्षसत्व के अतिरिक्त शेष चार धर्म ही होते है।[2]

तर्कभाषाकार के अतिरिक्त अन्य नैयायिकों ने इन पांच हेतु धर्मो की स्पष्ट शब्दों में चर्चा नहीं की है। इसका कारण संभवत: अनेक स्थलों में इन पांच मे से किसी एक के अभाव में भी साध्य की सिद्धि होना है। उदाहरणार्थ उपर्युक्त अनुमान के हेतु 'धूम' में सपक्षसत्व धर्म का अभाव भी देखा जा सकता है। जैसाकि पूर्व पंक्तियों मे कहा जा चुका है कि जहां साध्य की सत्ता निश्चित हो वह सपक्ष कहता है। रसोईघर मे अग्नि की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित है, अत: रसोईघर सपक्ष है। रसोईघर के समान ही गरम लोहे के गोले में भी त्वाचप्रत्यक्ष द्वारा अग्नि का होना निश्चित है, अत: उसे भी सपक्ष ही कहा जाएगा, इस सपक्ष में धूम की सत्ता नहीं है, अत: इसके हेतु में **सपक्षसत्व** धर्म का अभाव भी है। किन्तु नैयायिक इसे असद् हेतु मानने को प्रस्तुत नही है, और नही वे इस हेतु को केवल-व्यतिरेकी ही मानते है। संभवत: यही कारण है कि प्राय: अन्य सभी नैयायिकों ने हेतु के इन पांच धर्मों की चर्चा नही की हैं।

हेत्वाभास

किसी भी अनुमान की प्रमाणिकता के लिए नैयायिक आवश्यक मानते है कि उस में प्रयुक्त हेतु सद्धेतु हो **हेत्वाभास** नहीं। हेतु यदि हेत्वाभास हुआ, तो अनुमान प्रामाणिक न हो सकेगा। प्रसिद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने हेत्वाभासों के अतिरिक्त **पक्षाभास और दृष्टान्ताभास** नामक दो अन्य दोष भी स्वीकार किये हैं, जिनके रहने पर वह अनुमान नही रह जाता। दिङ्नागने न्याय (अनुमान वाक्य) के तीन अवयव माने थे, और तीनों में से किसी एक

१. तर्कभाषा प्रकाशिका पृ० १४८ २. तर्क भाषा पृ० ४३-४४

के भी दोष युक्त रहने पर उनके अनुसार अनुमान अप्रामाणिक हो सकता है। तथा उसे अनुमान अथवा साधन न कहकर **साधनाभास** कहा जाएगा।[१] उनके अनुसार **पक्षाभास** नव प्रकार का है : प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, आगमविरुद्ध, लोकविरुद्ध, स्ववचनविरुद्ध, अप्रसिद्ध विशेषण, अप्रसिद्ध विशेष्य, अप्रसिद्धोभय और अप्रसिद्ध सम्बन्ध।[२] दिङ्नाग ने **हेत्वाभास** मुख्यतः केवल तीन माने हैं : असिद्ध अनैकान्तिक और विरुद्ध। किन्तु उनके अनुसार इनके भेदोपभेदो की कुल सख्या चौबीस है, जिनमें **असिद्ध** : उभयासिद्ध अन्यतरासिद्ध सन्दिग्धासिद्ध और आश्रयासिद्ध भेद से चार प्रकार का है।[३] **अनैकान्तिक**: साधारण असाधारण सपक्षैकवृत्तिविपक्षव्यापी विपक्षैकवृत्तिसपक्षव्यापी उभयपक्षैकवृत्ति एव विरुद्धाव्यभिचारी भेद से छ प्रकार का है।[४] **विरुद्धाव्यभिचारी** हेत्वाभास विरुद्ध के चार भेद होने से चार प्रकार का हो जाता है : धर्मस्वरूप विपरीतसाधन, धर्मविशेष विपरीतसाधन, धर्मिस्वरूप विपरीत साधन तथा धर्मिविशेष विपरीत साधन।[५] वे दृष्टान्ताभास के **साधर्म्य वैधर्म्य** भेद से प्रथम दो भेद स्वीकार कर प्रत्येक के पाच पाच भेद मानते हैं। उनके अनुसार **साधर्म्य दृष्टान्ताभास** साधनधर्मासिद्ध साध्यधर्मासिद्ध, उभयधर्मासिद्ध, अनन्वय और विपरीतान्वय भेद से पाच प्रकार का, तथा **वैधर्म्य दृष्टान्तभास** साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त, उभयाव्यावृत्त, अव्यतिरेक तथा विपरीतव्यतिरेक भेद से पांच प्रकार का है।[६] फलतः दृष्टान्ताभास दस प्रकार का है। इस प्रकार उनके मत में कुल मिलाकर बयालीस अनुमान दोष हो सकते है।

न्याय दर्शन में भी हेत्वाभासो के अतिरिक्त चौबीस जातियों तथा बाइस निग्रहस्थानो का वर्णन किया गया है।[७] वे भी एक प्रकार से अनुमान के दोष ही है, किन्तु उनका प्रयोग जय पराजय की दृष्टि से किया जाता है,[८] जबकि अनुमान यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए किया जाता है, तथा अनु-

---

१. न्याय प्रवेश पृ० ७ २. वही पृ० ३ ३. वही पृ० ३
४. वही पृ० ३ ५. वही पृ० ५ ६. वही ५—६
७. (क) न्यायदर्शन ५. १. १ (ख) वही ५.२.१.।
८. न्यायखद्योत पृ० ८२८

मान का मुख्य साधन हेतु है, अतः उसके ही सदोष होने पर अनुमान में बाधा होगी, यही कारण है कि अनुमान के विवेचन मे सूत्रकार अथवा अन्य नैयायिकों ने हेत्वाभासो का ही विवेचन किया है, जाति अथवा निग्रहस्थानो का नहीं।

नैयायिक पक्षाभास और दृष्टान्ताभासों को साक्षात् अनुमान का विरोधी नही मानते। इसके अतिरिक्त उनमें से कई एक का हेत्वाभासो में अन्तर्भाव हो जाता है। उदाहरणार्थ . 'शब्द अश्रावण है' कार्य होने से घट के समान' इस अनुमान में दिङ्नाग ने **प्रत्यक्षविरुद्ध पक्षाभास** माना है, जबकि नैयायिकों के अनुसार यहां **बाधित** हेत्वाभास है, क्योंकि यहा साध्य का अभाव श्रावणत्व प्रत्यक्ष से सिद्ध है। इसी प्रकार 'घड़ा नित्य है, सत्तावान् होने से' आत्मा के समान' दिङ्नाग का यह **अनुमानविरुद्ध पक्षाभास** नैयायिकों का **सत्प्रतिपक्ष** हेत्वाभास होगा. क्योकि साध्याभाव अनित्यत्व का साधक अन्य हेतु 'कार्य होने से घड़ा अनित्य है' विद्यमान है। दृष्टान्ताभास साक्षात् अनुमान में बाधक न होकर हेतु के सद् हेतु होने में ही बाधक है, अतः उनकी अनुमान के बाधक के रूप में परिगणन की आवश्यकता नही रह जाती।

चूं कि अनुमान का मूल आधार हेतु ही है, अतः अनुमान द्वारा यथार्थज्ञान की कामना करने वाले अथवा न्याय के विद्यार्थी के लिए आवश्यक है कि वह सद् हेतु और असद् हेतु का परीक्षण कर सके। जिस प्रकार सद् हेतु की अनुपस्थिति मे उचित अनुमान नही किया जा सकता, उसी प्रकार हेत्वाभास की उपस्थिति में भी अनुमान का सफल हो सकना संभव नही है।

व्युत्पत्ति के अनुसार **हेत्वाभास** पद के दो अर्थ हो सकते हैं : हेतु के सामान प्रतीत होनेवाले (हेतुवद् आभासन्ते इति हेत्वाभासा·) तथा हेतु में प्रतीत होने वाले धर्म (हेतौ आभासन्ते)। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार हेत्वाभास पद को **दुष्ट हेतु** का वाचक होना चाहिए, किन्तु द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार हेत्वाभास पद का अर्थ **हेतु के दोष** होना चाहिए। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार हेत्वाभास पद का अर्थ अहेतु किया है। जो हेतुओं से कुछ समानता रखने के कारण हेतु की भांति प्रतीत होते है।[1] प्रशस्तपादभाष्य के टीकाकार व्योमशिवाचार्य तथा तर्कभाषाप्रकाशिका

---

१. न्याय भाष्य पृ० ३९

के लेखक चिन्नंभट्ट भी हेत्वाभास पद का अर्थ 'हेतु की भांति प्रतीत होनेवाला अहेतु' ही किया है।[1] भाषारत्नकार भी इसी पक्ष के समर्थक है। यद्यपि वे द्वितीयव्युत्पत्ति देते हुए **हेतुदोष** परक व्याख्या भी करते हैं।[2] किन्तु हेत्वाभास पद का दुष्ट हेतु अर्थ करने पर इनके विभाजन के लिए हेतुमूलक कोई आधार नही रहता, जबकि हेतुदोष अर्थ मानने पर दोषो के पञ्चविध होने से हेत्वाभासों के पांच भेद करने में एक विशिष्ट आधार मिल जाता है। चूंकि गौतम ने स्वय पाच हेत्वाभास स्वीकार किये है[3] तथा इस विभाजन को आधार दोष ही हो सकते है। दोष विशेष के आधार पर ही हेत्वाभास विशेष को एक विशेष नाम गौतम ने दिया है, ऐसा नहीं कि कुछ दोषों को मिलाकर एक नाम दे दिया है, यद्यपि कभी कभी हेत्वाभास में कई कई दोष भी आ गये है। जैसे : 'वायु गन्ध युक्त है, स्नेह युक्त होने से' इस एक **अनुमान** में स्नेह हेतु है, यह हेतु पाचो हेत्वाभासों के अन्तर्गत आ सकता है। इसी प्रकार 'घड़ा सत्तावाला है, क्योकि वह दीवाल है' यहां हेतु दीवाल सभी हेत्वाभासों में समाहित हो सकता है। इसी भांति 'यह झील अग्नियुक्त है धूम युक्त होने से' इस अनुमान में **बाधित सत्प्रतिपक्ष और स्वरूपासिद्ध** तीन हेत्वाभास हो सकते हैं। 'पर्वत धूमयुक्त है अग्निवाला होने से' इसमें 'अग्नि युक्त' हेतु **साधारण अनैकान्तिक** एवं **व्याप्यत्वासिद्ध** हेत्वाभास है। इस प्रकार दोषों के मिश्रण को गौतम ने स्वतन्त्र नाम नही दिया है, अतः गौतम हेत्वाभास पद का अर्थ हेतु दोष परक मानते हैं, यह कहा जा सकता है।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि ऊपर की पंक्तियों में एक हेतु में अनेक हेत्वाभासों की चर्चा की गयी है, किन्तु यह कैसे संभव है कि एक ही हेतु अनेक हेत्वाभासों का एक साथ उदाहरण बन सके। इस आशंका का उत्तर देते हुए दीधितिकार ने स्पष्ट कहा है कि 'हेत्वाभासों के पांच प्रकार इसलिए नहीं किये गये है कि दुष्टहेतु पांच प्रकार के ही हैं, हो सकते है। किन्तु इन दुष्ट हेतुओं में रहनेवाले दोष पांच प्रकार के ही है, भले ही वे दोष एक हेतु में अकेले रहें अथवा अन्य दोषों के साथ।[4]

---

१. (क) व्योमवती पृ० ६०४ (ख) तर्क भाषा प्रकाशिका पृ० १५२.
२. भाषारत्न पृ० १८०
३. न्याय सूत्र १.२.४
४. दीधिति हेत्वाभासप्रकरण

परवर्त्ती नैयायिक गंगेशोपाध्याय और उनके अनुयायी हेत्वाभास पद को दुष्टहेतु परक न मानकर हेतुदोष परक मानते हैं। इसीलिए उन्होंने अनुमिति का प्रतिबन्धक यथार्थ ज्ञान अथवा जो तत्व ज्ञान का विषय बनकर 'अनुमिति का प्रतिबन्धक हो' वह हेत्वाभास हैं'[1], कहते हुए दोष का ही लक्षण किया है, दुष्ट हेतु का नहीं। तर्कदीपिकाकार अन्नंभट्ट के अनुसार वे हेतु दोष यथार्थ ज्ञान का ही विषय होने चाहिए, भ्रम आदि के विषय नहीं।[2] इस प्रकार जो स्वयं यथार्थ ज्ञान का विषय है, (मिथ्या ज्ञान भ्रम आदि का विषय न हो) एवं वही ज्ञान का विषय अनुमिति का प्रतिबन्धक हो रहा हो तो उस हेतु दोषको हेत्वाभास कहते हैं। न्याय लीलावती के टीकाकार आचार्य वर्धमान भी अनुमिति के प्रतिबन्धक ज्ञान के विषय को ही हेत्वाभास कहते हैं।[3] जैसे: 'सरोवर अग्नियुक्त है, धूम युक्त होने से' इस अनुमान में 'सरोवर वह्नि व्याप्य धूम से युक्त है' इस परामर्श के अनन्तर ही अनुमिति ज्ञान (फल) प्राप्त हो सकता है, किन्तु सरोवर में धूम नहीं है, हमारा यह ज्ञान ही अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है, यही दोष है। चूंकि हेतु में विद्यमान दोष यथार्थ ज्ञान का विषय न होकर यदि भ्रम आदि का विषय हो, तो दोष का निश्चय न होने से अनुमिति में बाधा नहीं हो सकती, इसलिए आवश्यक है कि यह दोष यथार्थ ज्ञान का ही विषय हो। जैसे: 'धूम युक्त होने से पर्वत अग्नि युक्त है' इस अनुमान में पर्वत पर अग्नि के अभाव का भ्रम बाधक नहीं बनता, अतः इसे हेत्वाभास न कहेंगे: किन्तु यदि वहां अग्नि के अभाव का निश्चयात्मक ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) हो, तो अनुमितिज्ञान न हो सकेगा और ऐसी स्थिति में यह हेतु धूम बाधित हेत्वाभास कहा जाएगा।

हेत्वाभास के इस लक्षण में एक आपत्ति हो सकती है कि कारण की परिभाषा के अनुसार अनुमिति का प्रतिबन्धक तो वही कहा जायेगा, जो प्रतिबन्ध से नियत पूर्ववर्त्ती हो अर्थात् अनुमिति का साक्षात्प्रतिबन्धक हो; किन्तु व्यभिचार विरोध साधनाप्रसिद्धि तथा स्वरूपासिद्धि दोष अनुमिति के साक्षात्प्रतिबन्धक न होकर व्याप्ति ज्ञान, हेतुज्ञान अथवा परामर्श में प्रतिबन्ध उपस्थित करते हैं। अनुमिति के प्रतिबन्ध में तो वे अन्यथासिद्ध (कारण से

---

१. (क) तत्वचिन्तामणि पृ० १५८० (ख) न्याय मुक्तावली पृ० ३१८, ३२६
२. तर्क दीपिका पृ० १०६ ३. न्याय लीलावती प्रकाश पृ० ६०६

पूर्ववर्त्ती अथवा कारण के कारण होने से हो जाते हैं; अतः इन्हें हेत्वाभास कैसे कहा जाए ?

तर्क दीपिका के टीकाकार नीलकण्ठ ने हेत्वाभास लक्षण में अनुमिति पद को लाक्षणिक माना है।[1] जिसके फलस्वरूप अनुमिति तथा उसके कारण परामर्श व्याप्ति ज्ञान तथा हेतु ज्ञान मे प्रतिबन्धक तत्वो को भी हेत्वाभास ही कहा जाएगा। दीधितिकार ने अनुमिति पद का अर्थ विशिष्ट अनुमिति लिया है, फलस्वरूप 'पर्वत अग्नि युक्त है, धूम युक्त होने से' इस अनुमिति के प्रतिबन्धक के स्थान पर 'अग्नि व्याप्य धूम से युक्त पर्वत अग्नियुक्त है इस विशेष अनुमिति के प्रतिबन्धक को **हेत्वाभास** कहा है, विश्वनाथ ने अनुमिति पद के विशिष्ट अर्थ को समझने मे प्रयत्न करने की अपेक्षा हेत्वाभास लक्षण मे अनुमिति के साथ ही अनुमिति के कारण के भी प्रतिबन्थक को हेत्वाभास मान लेने की सलाह दी है।[2] इस प्रकार उपर्युक्त दोष से बचने के लिए हेत्वाभास की यह परिभाषा अधिक उचित होगी कि जो **अनुमिति और उसके करण का प्रतिबन्धक हो, साथ ही यथार्थ ज्ञान का विषय हो, वही हेत्वाभास है।**

शंकर मिश्र के अनुसार 'हेतु को जिन आवश्यक विशेषताओ से युक्त रहना चाहिए उनमें से किसी से भी रहित 'हेतु' **हेत्वाभास** है।[3] केशव मिश्र भी अस्पष्ट रूप से इसके ही समर्थक हैं।[4] यह परिभाषा यद्यपि दुष्ट हेतु परक है, हेतु दोष परक नहीं, फिर भी यह जि‹ नी साधारण है, उतनी यथार्थ भी। क्योंकि इसमें सद् हेतु में आवश्यक धर्मो के अभाव को ही आधार माना गया है। जहां तक दुष्टहेतु परक परिभाषा की स्थिति में हेत्वाभासों के विभाजन का प्रश्न है, इस परिभाषा मे कोई विशेष अपत्ति नही होगी, क्योकि हेतु के दोष युक्त होने में कारण तो दोष ही हैं, अत. उन कारणों अर्थात् दोषों को यदि उनके विभाजन का आधार बनाया जाये, तो कोई अनौचित्य नहीं हैं। क्योकि कारण भेद से कार्य भेद नैयायिको का मान्य सिद्धान्त ही है।

हेत्वाभास की परिभाषा के समान अथवा उससे भी अधिक नैयायिक

---

१. नीलकण्ठी पृ० २९१ २. न्यायसूत्रवृत्ति १, २, ४,
३. वैशेषिक सूत्र ३, १. १५. ४. तर्कभाषा पृ० ४

आचार्यों में मतभेद इनकी संख्या के सम्बन्ध में है। यह मतभेद मुख्यतः नैयायिकों और वैशेषिकों के मध्य है। गौतम और उनके अनुयायी पांच हेत्वाभास मानते हैं[१] कणाद और उनके अनुयायी केवल तीन स्वीकार करते है।[१] प्रशस्तपाद ने यद्यपि एक स्थान पर चार हेत्वाभासो की चर्चा की है।[२] किन्तु हेतु प्रकरण में उन्होंने ही आचार्य काश्यप के नाम का उल्लेख करते हुए तीन हेत्वाभास ही माने हैं।[३] यद्यपि उनके द्वारा दोनों स्थानो पर स्वीकृत **विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध** हेत्वाभासों मे चतुर्थ **अनध्यवसित** का अन्तर्भाव माना जा सकता है, क्योंकि अनध्यसाय एक प्रकार का संशय ही है। शंकर मिश्र ने वैशेषिक सूत्र के किसी प्राचीन भाष्यकार का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वृत्तिकार 'अप्रसिद्धोनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः' सूत्र में च शब्द का प्रयोग बाध और सत्प्रतिपक्ष के समुच्चय के लिए मानते हैं, जिसके फलस्वरुप गौतम और कणाद के मत में कोई अन्तर नही रह जाता, किन्तु भाष्यकार ने 'विरुद्धासिद्ध सन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्' अर्थात् 'काश्यप के अनुसार विरुद्ध असिद्ध और सन्दिग्ध तीन ही हेत्वाभास है' कहते हुए तीन हेत्वाभास ही माने है; अतः सूत्रकार की दृष्टि में भी तीन ही हेत्वाभास हैं तथा 'च' शब्द का प्रयोग उक्त तीन हेत्वाभास के समुच्चय के लिए है' ऐसा स्वीकार किया है।[४]

वस्तुतः हेतुगत धर्म के अभाव से हेतु अहेतु बनता है न कि इसलिए कि उसका प्रतिपक्ष अन्य हेतु अथवा अन्य प्रमाण विद्यमान है। उदाहरणार्थ घड़ा अनित्य है, कार्य होने से वस्त्र के समान' 'घड़ा नित्य है, सत्तावान् होने से आकाश के समान' इन दो अनुमानों में क्या **कार्य होना** तथा सत्तावान् होना इन दोनों हेतुओं को परस्पर प्रतिपक्ष होने के कारण हेत्वाभास कहा जाएगा ? यदि ऐसा है, तो अनुचित है। वस्तुतः यहां दोनों हेतुओं की परीक्षा की जाएगी और उस परीक्षा के आधार पर एक हेतु को हेतु तथा अन्य को हेत्वाभास कहा जाएगा। इसी प्रकार अनुमान द्वारा हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में निर्णय कर रहे हैं, उस वस्तु के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष द्वारा हमें विपरीत ज्ञान प्राप्त होता है, जो कि कालान्तर में अयथार्थ सिद्ध होता है, किन्तु इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान जब तक अयथार्थ सिद्ध नही होता, तब तक क्या उस प्रत्यक्ष (प्रत्यक्षाभास) के कारण यथार्थ अनुमान के हेतु को हेत्वाभास कहा

---

१. वैशेषिक सूत्र ३.१.१५. २. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ११६
३. वही पृ० १०० ४. वैशेषिक उपस्कार पृ० ९९

जाएगा ? उदाहरणार्थ : पत्थर में घ्राणेन्द्रिय के सन्निकर्ष के कारण गन्धाभाव की प्रतीति होती है, किन्तु चूकि पत्थर के कार्य भस्म में गन्ध की प्रतीति होती है, अत. भस्म पार्थिव है मानकर 'कारण गुण पूर्वक ही कार्य गुण होता है', इस सिद्धान्त के आधार पर 'पत्थर पृथिवी है, गन्धविशिष्ट कार्य भस्म का जनक होने से' इस अनुमान द्वारा हम पत्थर मे पृथिवीत्व सिद्ध करते है । किन्तु इस अनुमान में **गन्धयुक्तकार्यजनक होना हेतु** क्या केवल इसी आधार पर हेत्वाभास कहा जाएगा कि पत्थर में प्रत्यक्ष द्वारा गन्धाभाव की प्रतीति होती है ? नहीं, अतः हम कह सकते हैं कि सद्हेतु के सम्पूर्ण धर्म विद्यमान रहने पर केवल प्रतिपक्ष हेतु अथवा विरोधी ज्ञान का उत्पादक प्रमाणान्तर होने मात्र से हेतु हेत्वाभास नहीं होता । वह हेत्वाभास तब होता है, जब उसमे हेतु में अपेक्षित सभी धर्म नही होते । इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष और बाधित को स्वतन्त्र हेत्वाभास न मानने मे भी कोई दोष नही होना चाहिए ।

हेत्वाभासो के नामों के प्रसग में भी विविध आचार्यो में मतैक्य नही है । गौतम ने सव्यभिचार विरुद्ध प्रकरणसम साध्यसम और कालातीत नाम दिये थे । इनमे से प्रथम दो नाम गंगेशोपाध्याय और अन्य उत्तरकालीन आचार्यो ने भी स्वीकार किये हैं ।[1] गौतम के प्रकरणसम के स्थान पर उत्तरकालीन ग्रन्थों में सत्प्रतिपक्ष नाम मिलता है । गौतम ने संभवतः इसे प्रकरणसम इसीलिए कहा था कि इसमें प्रकरण के समान फल प्राप्ति के समय भी साध्य सन्दिग्ध ही रहता है । क्योंकि इसमें साध्य के साधक और बाधक दो समान हेतु दिये जाते हैं । सत्प्रतिपक्ष शब्द से भी यही भाव निकलता है कि अनुमान में साधक हेतु का प्रतिपक्ष अर्थात् विरोधी साध्य का साधक हेतु विद्यमान है । प्रकरणसम नाम की अपेक्षा सत्प्रतिपक्ष शब्द केवल व्युत्पति के द्वारा इस हेत्वाभास के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करता है । गगेश आदि ने गौतम के साध्यसम के स्थान पर असिद्ध नाम दिया है । इसे साध्यसम इसलिए कहा गया था कि जैसे पक्ष में साध्य सन्दिग्ध रहा करता है, इसी प्रकार हेतु के समान प्रतीत होने वाला यह अहेतु (हेत्वाभास) भी सन्दिग्ध ही रहता है, और इस विशेषता के कारण वह सद्हेतु के समान साध्य के साधन में समर्थ नही होता । असिद्ध शब्द से भी हेत्वाभास के इसी रूप का

---

१. (क) तत्वचिन्तामणि पृ० १०३६ (ख) भाषारत्न पृ० १८० (ग) तर्कसंग्रह पृ० १०६

स्पष्टीकरण होता है। इतना अवश्य है कि यह नाम (असिद्ध) साध्यसम की अपेक्षा स्पष्ट अधिक है । गौतम के कालातीत के स्थान पर उत्तरकाल मे बाधित नाम प्राप्त होता है । इसे कालातीत इसलिए कहा जाता था कि इसमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विरोध के कारण हेतु का स्वरूप और साध्य दोनों ही सन्देह युक्त काल को प्राप्त रहते हैं।[१] अर्थात् हेतु और उसका साध्य दोनों ही प्रमाणान्तर के विरोध के कारण उससे से बाधित हो जाते है। उत्तरकाल में दिया गया बाधित नाम उसके द्वारा उपस्थित बाधा को अधिक स्पष्ट करता है, अतः उत्तरकालीन नैयायिकों ने कालातीत के स्थान पर बाधित नाम को ही स्वीकार किया है।

आचार्य प्रशस्तपाद तथा उनसे पूर्ववर्त्ती आचार्य काश्यप विरुद्ध असिद्ध और सन्दिग्ध नाम से कणाद स्वीकृत अप्रसिद्ध असत् और सन्दिग्ध को ही स्वीकार करते हैं।[२] गौतम तथा परवर्त्ती नैयायिको का सव्यभिचार अथवा अनैकान्तिक सन्दिग्ध का स्थानापन्न कहा जा सकता है। प्रशस्तपाद ने एक स्थल पर हेत्वाभासों में अनध्यवसित हेत्वाभास की चर्चा की है, किन्तु जैसी कि पहले चर्चा की जा चुकी है शकर मिश्र का विचार है कि प्रशस्तपाद केवल तीन हेत्वाभास ही मानते हैं, चतुर्थ अनध्यवसित को नहीं। आचार्यबल्लभ चार हेत्वाभासो को स्वीकार करते है . असिद्ध विरुद्ध सव्यभिचार तथा अनध्यवस्सित ।[३] अनध्यवसित वस्तुत· अनुपसंहारि के समानान्तर है, जो कि सव्यभिचार (अनैकान्तिक) का उपभेद है। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग और उनके अनुयायी धर्मोत्तराचार्य आदि असिद्ध अनैकान्तिक और विरुद्ध केवल तीन हेत्वाभास ही मानते हैं, यद्यपि उनके अनुसार इन तीन के कुल चौबीस भेद हो जाते हैं जिनकी चर्चागत पृष्ठों में की जा चुकी है ।[४] कणादरहस्यकार शंकर मिश्र भी पांच अथवा छः हेत्वाभासो की संख्या का निषेध करते हुए विरुद्ध असिद्ध और सन्दिग्ध नामक तीन हेत्वाभास ही मानते हैं।[५]

गौतम स्वीकृत प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) और कालातीत (बाधित) हेत्वाभास वैशेषिकों में क्यों स्वीकार नही किये गये, इस सम्बन्ध में प्राचीन

---

१. न्यायखद्योत पृ० १८६-१८७

२. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १००

३. न्यायलीलावती पृ० ६०६

४. इसी पुस्तक के पृ० २२० देखे ।

५. कणादरहस्यम पृ० १००

आचार्यों के कोई स्पष्ट विचार नही मिलते । जहां तक स्वीकृत हेत्वाभासों में अस्वीकृत के अन्तर्भाव दिखाने का प्रश्न है, वह मान्यता के आधार पर नहीं किन्तु परम्परा के आधार पर है । उदाहरणार्थ वाचस्पति मिश्र ने, जिन्होने प्रत्येक दर्शन के प्रमुख ग्रन्थों की टीका की है, प्रत्येक प्रसङ्ग में अन्य सम्प्रदायों के मतो की अलोचना की है । किन्तु उस आलोचना को देखकर अलग अलग सम्प्रदायों में वाचस्पति मिश्र के परस्पर विरोधीमत है, ऐसा मानना तो उचित नही हो सकता । किन्तु वे मत विविध दार्शनिक सम्प्रदायों के है, एव वाचस्पति मिश्र ने उन साम्प्रदायिक विचारो का ही उन्मीलन किया है, स्वमत का प्रकाशन नही; यही स्वीकार भी किया जाता है । इसी प्रकार टीकाकारों द्वारा गौतम स्वीकृत अधिक हेत्वाभासों के अन्तर्भावन को देखकर हमें उसे उन हेत्वाभासों की अस्वीकृति का कारण मानना उचित न होगा ।

इस प्रश्न का समाधान खोजने में हमें पाश्चात्य दार्शनिको की मान्यताओं से विशेष सहायता मिलती है । पाश्चात्य दर्शन में हेत्वाभासों का वर्गीकरण Formal fallacies तथा Material fallacies (आन्तर या मौलिक तथा बाह्य या शारीरिक हेत्वाभास) के रूप में किया गया है । कुछ हेत्वाभास जिनमे मूलतः हेतु में ही दोष होता है, उन्हे Formal (आन्तर) कहा जाता है, किन्तु कुछ किन्ही बाह्य कारणों अर्थात् हेत्वन्तर या प्रमाणान्तर के कारण सदोष प्रतीत होते हैं, वे Material (बाह्य) कहे जा सकते है । अनेक पाश्चात्यदार्शनिको का विचार है कि बाह्य हेत्वाभास (Material Fallacies) तर्कशास्त्र के क्षेत्र के बाहर है ।[१] यदि इस दृष्टि से गौतम के हेत्वाभासों का वर्गीकरण करे तो प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) और कालातीत (बाधित) हेत्वाभास बाह्य (Material), तथा शेष तीन आन्तर (Formal) सिद्ध होते हैं, एवं यदि पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारो से इन्हे न्याय (तर्क) शास्त्र के क्षेत्र से बाहर का मान लिया जाए, तो इन दोनों के परिगणन की आवश्यकता नही रह जाती, और केवल वे ही हेत्वाभास परिगणन के लिए रह जाते हैं, कणाद ने जिनका परिगणन किया है । आचार्य-बल्लभ ने केवल इसीलिए हेत्वाभासों मे बाध और सप्रतिपक्ष का परिगणन करना अस्वोकार दिया है, क्योकि ये अनुमिति के साक्षात्प्रतिबन्धक न होकर व्याप्ति पक्षधर्मता का अपहार करते हुए परम्परया अनुमान में प्रतिबन्धक होते हैं ।[२]

---

1. Notes on Tarkasangraha P. 297
२. न्यायलीलावती पृ० ६०६

जिस प्रकार अरस्तू Fallacia extra dictionem और Fallacia in dictionem नाम से क्रमशः Material और Formal हेत्वाभासों को स्वीकार किया है, उसी प्रकार गौतम ने भी दोनों प्रकार के अर्थात् सव्यभिचार विरुद्ध और असिद्ध (साध्यसम) के साथ ही प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) तथा कालातीत (बाधित) हेत्वाभासों को भी स्वीकार किया है। स्मरणीय है भारतीय दार्शनिकों ने आन्तर और बाह्य रूप से हेत्वाभासों का कोई वर्गीकरण नहीं किया है।

नव्य न्याय का उदय होने के बाद वैशेषिकों एवं नैयायिकों के परस्पर भेद मिटते गये। फलस्वरूप उत्तरवर्त्ती नैयायिकों ने गौतम स्वीकृत हेत्वाभासों को ही नामों में कुछ परिवर्त्तन स्वीकार करते हुए माना है। जिसमें उन्होंने **सव्यभिचार** अथवा **अनैकान्तिक, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष असिद्ध** और **बाध** नाम से पांच हेत्वाभास स्वीकार किये हैं।

सव्यभिचार : सव्यभिचार का ही दूसरा नाम अनैकान्तिक है। व्यभिचार पद का अर्थ है, अनियत होना अर्थात् हेतु और साध्य के बीच नियत साहचर्य का अभाव। अनैकान्तिक शब्द का भी यही अर्थ है। एकान्त का अर्थ है नियत, अतः अनैकान्तिक का अर्थ 'नियत न रहने वाला' अपितु अंशतः ही साथ रहने वाला' हुआ। दोनों पदों की समानार्थकता के कारण ही गौतम ने अनैकान्तिक शब्द द्वारा ही सव्यभिचार पद को स्पष्ट किया है।[१] जैसे 'शब्द नित्य है, स्पर्श का अभाव होने से, जहां जहां अस्पर्श का अभाव अर्थात् स्पर्श है, वहां वहां अनित्यत्व है, जैसे मिट्टी का घड़ा।' इस अनुमान में स्पर्श का अभाव हेतु अनैकान्तिक है, क्योंकि परमाणु स्पर्श गुण युक्त है, तथा नित्य है, इसके विपरीत बुद्धि स्पर्शहीन है, साथ ही अनित्य भी है। इस प्रकार चूंकि हेतु साध्य और साध्याभाव दोनों के साथ विद्यमान है, अतः वह आंशिकरूप से ही साध्य का सहचारी है, पूर्णतः (ऐकान्तिक रूप से) साध्य का नियतसहचारी नहीं है, फलतः इस हेतु को **अनैकान्तिक** कहा जाएगा।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने अनैकान्तिक की व्याख्या निम्नलिखित की है: नित्यत्व एक अन्त है, तथा अनित्यत्व दूसरा अन्त है। जो एक अन्त में रहे उसे ऐकान्तिक कहते हैं, इसके विपरीत जो एक अन्त में नियत न रह कर दोनों अन्त

---

१. न्यायसूत्र १. २. ५.

में अर्थात् दोनों और रहे उसे **अनैकान्तिक** कहते हैं ।[१] इस प्रकार सव्यभिचार का तात्पर्य है : साध्य के विषय में सन्देह जनक दोनों प्रकार अर्थात् साध्ययुक्त तथा साध्य के अभाव से युक्त दोनों स्थलों में जो विद्यमान हो; दूसरे शब्दो में : जो हेतु साध्यस्थल सपक्ष तथा साध्याभावस्थल विपक्ष दोनों में रहता हो, और इसीलिए वह साध्य के सम्बन्ध में सन्देह के निराकरण में समर्थ न हो, अथवा सन्देह उत्पन्न कर दे, उसे **अनैकान्तिक** या **सव्यभिचार** हेत्वाभास कहते है ।[२] कणाद ने इसे ही सन्दिग्ध हेत्वाभास कहा था ।

सव्यभिचार के तीन भेद माने जाते हैं : **साधारण, असाधारण** और **अनुपसंहारी** ।[३] मुक्तावलीकार साधारण आदि भेदों की संख्या पर अधिक महत्व देते हैं और तभी उन्होने 'साधारण आदि में अन्यतम हेत्वाभास **अनैकान्तिक** है, यह अनैकान्तिक की परिभाषा की है ।[४] **साधारण** : हेतु के भेद विवेचन के प्रसग में कहा जा चुका है कि हेतु में तीन धर्म मुख्यत. आवश्यक होते हैं : **पक्ष में होना सपक्ष में होना** और **विपक्ष में न होना** । यदि हेतु पक्ष और सपक्ष के साथ ही विपक्ष में भी रहे (उसमें तीसरा धर्म 'विपक्ष में न रहना' [विपक्षव्यावृत्ति] न रहे) अर्थात् वह हेतु इतना अधिक साधारण (व्यापक) हो कि पक्ष सपक्ष और विपक्ष तीनो में रहे तो उसे साधारण अनैकान्तिक कहते हैं ।[५] इस प्रकार हेतु की भाति प्रतीत होने वाला यह अहेतु जहां साध्य सन्दिग्ध है, उस पक्ष में तो रहता ही है, जहा साध्य निश्चत रूप से विद्यमान है वहां भी रहता है, इसके अतिरिक्त यह वहां भी रहता है जहां साध्य का अभाव निश्चित है ।

तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट ने साधारण की परिभाषा के समय **सपक्षमें होना** इस धर्म की उपेक्षा कर केवल 'विपक्ष मे विद्यमानता' को साधारण का लक्षण स्वीकार किया है ।[६] किन्तु उनकी परिभाषा पूर्ण नही कही जा सकती ।

---

१. वात्स्यायन भाष्य पृ० ४० ।   २. तत्व चिन्तामणि पृ० १०६३

३. (क) उपस्कार भाष्य पृ० ९६ (ख) भाषा परिच्छेद पृ० ७२
(ग) तर्क संग्रह पृ० ११०   ४. न्यायमुक्तावली पृ० ३३०

५. (क) तत्व चिन्तामणि पृ० १०७६ (ख) तर्क भाषा पृ० ९४

६. तर्क संग्रह पृ० ११०

इस परिभाषा को स्वीकार करने पर **विरुद्ध** और **साधारण** में कोई अन्तर न रह जायेगा, क्योंकि सपक्ष में न रहकर विपक्ष में रहने वाले हेतु को **विरुद्ध-हेत्वाभास कहते हैं।**

'पर्वत अग्नियुक्त है ज्ञान का विषय होने से' इस अनुमान में 'ज्ञान का विषय होना' हेतु के रूप में प्रयुक्त है। यह हेतु पर्वत मे विद्यमान है, जहां अग्नि सन्दिग्ध है और उसके निश्चय के लिए अनुमान किया जा रहा है। यह हेतु रसोई घर मे भी विद्यमान है, जहां 'अग्नि का होना' उत्तम और मध्यम प्रमाता अथवा वादी और प्रतिवादी दोनों को निश्चित रूप से ज्ञात है, किन्तु इसके साथ ही यह हेतु सरोवर में भी व्यापक है, जहां अग्नि का न होना पूर्णतः निश्चित है। फलतः यह साध्य और साध्याभाव दोनो का सहचारी होने के कारण यदि साध्य का साधक हो सकता है, तो साध्य के अभाव का भी साधक हो सकता है। इस कारण यह निर्णय का उत्पादक न होकर सन्देह को उत्पन्न करने वाला है। अतएव इसे सद्हेतु न कहकर **हेत्वाभास** कहा जाएगा।

असाधारण : यह साधारण से सर्वथा विपरीत है, यह हेतु न तो सपक्ष में ही रहता है और न विपक्ष में। यह केवल पक्ष का ही धर्म होता है। विपक्ष मे न रहना तो सद् हेतु का गुण है किन्तु यह सपक्ष मे भी नहीं रहता।[1] गगेशोपाध्याय का कथन है कि असाधारण के लक्षण में विपक्षव्यावृत्ति विशेषण देना व्यर्थ है, अतः उसका प्रयोग न कर 'समस्त सपक्ष अर्थात् साध्य युक्त स्थल में न रहना' ही असाधरण का लक्षण करना चाहिए।[2] **साधारण** हेत्वाभास अपने आवश्यक क्षेत्र से अधिक व्यापक रहता है, और यह (**असाधारण**) आवश्यक क्षेत्र से कम स्थल में अर्थात् सकुचित क्षेत्र में रहता है, इस विपरीत भाव के कारण इसे साधरण से विपरीत **असाधारण** नाम दिया गया है। जैसे 'शब्दत्व युक्त होने से शब्द नित्य है' इस अनुमान में शब्दत्व हेतु प्रयुक्त है, जो केवल शब्द मे अर्थात् पक्ष में ही विद्यमान है, अतः इस हेतु के आधार पर किसी निर्णय पर नहीं पहुंचा जा सकता। यहा नित्य आकाश और आत्मा को सपक्ष तथा अनित्य घड़ा और वस्त्र आदि को विपक्ष कहा जा सकता है; किन्तु यह

---

१. (क) तर्क संग्रह पृ० १११ (ख) तर्कभाषा पृ० ९४

२. तत्वचिन्तामणि पृ० १०९४

शब्दत्व हेतु न तो आकाश और आत्मा में साध्य के साथ रहता है और न घडा और वस्त्र में साध्य के अभाव के साथ, अतः पक्षमात्र में होने से न तो साध्य का अभाव सिद्ध कर सकता है और न साध्य की सत्ता, अपितु उभय विध सन्देह का ही जनक होगा, अतः इसे असाधारण हेत्वाभास कहा जाएगा[१]।

अनुपसंहारी : जिस हेतु का अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त न मिल सके, उसे **अनुपसंहारी** कहते हैं ।[१] यह हेतु साध्य के साथ केवल पक्ष मे ही मिल सकता है, अतः इसके सपक्ष और विपक्ष और उदाहरण नही मिल सकते। अभी गत पृष्ठों मे पक्षमात्रवृत्ति अर्थात् सपक्ष और विपक्ष मे न रहने वाले हेतु को असाधारण कहा गया था। यह हेतु भी केवल पक्ष में ही रहता है, फिर भी दोनो समान नही हैं। असाधारण में पक्ष के अतिरिक्त सपक्ष और विपक्ष दोनों ही होते हैं किन्तु हेतु केवल पक्ष में ही रहता है, जबकि अनुपसहारी मे सपक्ष और विपक्ष सभव नहीं है, क्योकि पक्ष को ही अत्यन्त व्यापक कर दिया गया है। असाधारण में पक्ष सीमित रहता है, उसके साध्य का अत्यन्ताभाव विद्यमान रहता है, वहा हेतु नही रहता, किन्तु अनुपसहारी हेतु के रहने पर साध्य का अत्यन्ताभाव कही देखा ही नही जा सकता। इसीलिए विश्वनाथ ने 'जिस हेतु के साध्य के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न हो सके, वह अनुपसंहरी है ;[२] यह लक्षण किया है। इसके साथ ही इसमें पक्ष की व्यापकता के कारण ऐसा भी कोई स्थल नही मिल पाता, जहां अनुमान करने वाला साध्य की निश्चित सत्ता स्वीकार करता हो। इसीलिए गंगेशोपाध्यायने 'जिसका पक्ष केवलान्वयि धर्म से युक्त हो' उसे अनुपसंहारी हेत्वाभास स्वीकार किया है[३] ऐसा अवसर केवल तभी मिल सकता है, जब पक्ष को इतना व्यापक बना दिया जाये कि पक्ष से अतिरिक्त सपक्ष या विपक्ष के लिए कुछ शेष रह ही न जाए। इसे ही तर्क-कौमुदीकार ने **वस्तुमात्र पक्षक या सर्वपक्षक** कहा है। इस प्रकार इस हेतु के लिए ऐसा कोई स्थल शेष रह नहीं जाता, जहां साध्य निश्चित रूप से हो अथवा निश्चित रूप से साध्य का अभाव हो। जैसे : 'सब कुछ अनित्य है, ज्ञान का विषय होने से।' इस अनुमान में 'ज्ञान का विषय' हेतु है, यह घट आदि अनित्य पदार्थों में रहता है, किन्तु फिर भी उसे सपक्ष उदाहरण नही मान सकते' क्योंकि 'सब को ही पक्षमान लेने के कारण घड़ा आदि अनित्य पदार्थ भी पक्ष हो चुके

१. तर्कसंग्रह पृ० १११ २. न्यायमुक्तावली पृ० ३३१
३. तत्वचिन्तामणि पृ० ११०९

है। यदि विशेष घड़े और वस्त्र में साध्य की सत्ता ज्ञात है, यह मान कर उसे सपक्ष कहना चाहे, तो उचित न होगा, क्योंकि प्रतिज्ञा मे उसे भी पक्ष माना जा चुका है, एक ही पदार्थ पक्ष और उदाहरण साथ साथ हो यह सम्भव नही है, तथा विशेष घड़े आदि को पक्षातिरिक्त सपक्ष मानने में प्रतिज्ञा हानि दोष होगा।

नव्य नैयायिकों के 'जिसका पक्ष केवलान्वयिधर्म से युक्त हो वह अनुपसहारी हेतु है, इस लक्षण को भी सर्वथा निर्दोष नही कहा जा सकता है, क्योंकि केवलान्वयी सद् हेतु का पक्ष भी केवलान्वयि धर्म से युक्त रहता है।

इस हेत्वाभास को अनुपसहारी नाम देने का कारण यह है कि इस मे उदाहरण न होने के कारण हेतु उदाहरण सापेक्ष नही होता। अतः 'यह ऐसा है' अथवा 'यह ऐसा नहीं है, इस प्रकार का उपसंहारात्मक उपनय[१] नही हुआ करता।

यहा एक प्रश्न हो सकता है कि यदि इन तीनों हेत्वाभासो का परस्पर भिन्न क्षेत्र है, तो ऐसा क्या साधर्म्य है जिसके कारण इन तीनों को स्वतन्त्र हेत्वाभास न मान कर समान नाम सव्यभिचार दिया गया है। इस प्रश्न के समाधान के लिए हमे हेतु की स्थिति पर विचार करना चाहिए। किसी हेतु (सद् हेतु अथवा असद् हेतु) मे धर्मो की सत्ता और अभाव की केवल चार स्थितिया हो सकती हैं। (१) सपक्षसत्व (सपक्ष मे सत्ता का होना) और विपक्ष व्यावृत्ति (विपक्ष मे हेतु का अभाव) दोनों का होना, (२) सपक्षसत्व और विपक्षव्यावृत्ति दोनों का अभाव, अर्थात् न तो हेतु को सपक्ष में साध्य के साथ देखा जा सकता है, और न उसका विपक्ष में साध्य के साथ अभाव ही देखा जा सकता है। इसमें विपक्ष में साध्य के साथ अभाव न मिलने का यह कारण नहीं होता कि वह विपक्ष में विद्यमान है, अपितु विपक्ष उदाहरण ही न मिलने के कारण विपक्ष मे अभाव दृष्टिगत नही होता। (३) सपक्षसत्व तो विद्यमान हो किन्तु विपक्षव्यावृत्ति न हो अर्थात् विपक्ष मे उसकी सत्ता देखी जा सके। (४) सपक्ष सत्व का अभाव हो किन्तु विपक्षव्यावृत्ति विद्यमान हो। इसमें सपक्ष उदाहरण तो होता है किन्तु वहा हेतु साध्य के साथ विद्यमान नही होता और इसमे विपक्ष उदाहरण भी होता है, तथा उसमे साध्य का अभाव निश्चित होता है, अतः वहां साध्य के साथ हेतु का अभाव भी रहता ही है।

---

१. न्याय सूत्र १. १. ३९.

इन हेतु धर्म सपक्षसत्व और विपक्षव्यावृत्ति की सत्ता और अभाव की प्रथम स्थिति में जब सपक्ष में हेतु और साध्य सहचरित हों तथा विपक्ष में दोनों का अभाव हो, तो ऐसे हेतु को सद् हेतु कहा जायगा, दूसरी स्थिति में दोनो का अभाव होने पर अनुपसहारी हेत्वाभास, तीसरी स्थिति मे सपक्ष में सत्ता और विपक्ष में व्यावृत्ति का अभाव होने पर हेतु और साध्य सपक्ष के साथ ही विपक्ष में भी रहते हैं, अतः अधिक स्थान में साध्य के रहने के कारण साधारण हेत्वाभास होगा। और चतुर्थ स्थिति में विपक्षव्यावृत्ति तो है, किन्तु सपक्ष सत्व नही है, अर्थात् साध्य विपक्ष में तो नहीं है, साथ ही सपक्ष में भी नहीं है, अतः सपक्ष और विपक्ष दोनों में उसका अभाव रहता है। यह स्थिति तृतीय से सर्वथा विपरीत है, अतः इसे सावारण से सर्वथा विपरीत असाधारण हेत्वभास कहा जाता है। इन चारों ही स्थिति में साध्य पक्ष मे सन्दिग्ध रहता है, साथ ही उसमे हेतु की सत्ता रहती ही है। इस प्रकार ये सभी स्थितियां हेतु के धर्म सपक्षसत्व और विपक्षव्यावृत्ति की सत्ता और अभाव पर आश्रित है, अतः समान आश्रय होने के कारण इन्हें (साधारण असाधारण और अनुपसंहारी तीनों को) सव्यभिचार नामक एक हेत्वाभास के ही अन्तर्गत रखा गया है।

यहां एक आशंका और हो सकती है कि साधारण हेत्वाभास में विपक्ष-व्यावृत्ति नही होती और केवलान्वयी हेतु में भी विपक्षव्यावृत्ति के दर्शन नही होते; इसी प्रकार असाधारण हेत्वाभास में सपक्षसत्व नही होता तथा केवल व्यतिरेकी हेतु में, भी सपक्षसत्व का दर्शन नही होता, फिर इन दोनों को अर्थात् साधारण को केवलान्वयी से तथा असाधारण को केवल व्यतिरेकी से किस प्रकार पृथक् किया जाए ?

वस्तुतः यह शंका नही केवल भ्रम है, क्योंकि इनके क्षेत्र परस्पर सर्वथा पृथक् पृथक् हैं। केवलान्वयी हेतु में विपक्ष का सर्वथा अभाव होता है जब कि साधारण में विपक्ष का अभाव नहीं होता किन्तु विपक्ष में (साध्याभाव स्थल में) हेतु की सत्ता रहती है। जैसे : पर्वत वाणी का विषय है, ज्ञान का विषय होने से' इस उदाहरण में पक्ष तो अल्पक्षेत्र का है, किन्तु हेतु का विस्तार इतना अधिक है कि साध्य और हेतु का अभाव कही देखा ही नही जा सकता। अतः इसका विपक्ष नही हो सकता; जबकि 'पर्वत अग्नि युक्त है' क्योकि वह ज्ञान का विषय है यहां साध्य सर्वव्यापी नही है, केवल हेतु व्यापक है, अतः साध्य का

अभाव स्थल विपक्ष संभव है. फलतः यहां केवलान्वयी हेतु नही किन्तु साधारण हेत्वाभास होगा। इसी प्रकार केवलव्यतिरेकी हेतु में सपक्ष का सर्वथा अभाव होता है, जबकि असाधारण हेत्वाभास में विपक्ष का अभाव नही होता किन्तु सपक्ष मे हेतु की सत्ता नही होती अर्थात् वह वहां रहता नही। जैसे : 'पृथिवी जल आदि से भिन्न है गन्धयुक्त होने से' इस अनुमान में पक्ष तो सीमित है, किन्तु साध्य इतर भेद इतना अधिक व्यापक है कि साध्य की सत्ता किसी उदाहरण में नही देखी जा सकती है, अतः सपक्ष का पूर्णतः अभाव है, फलतः यह केवल व्यतिरेकी हेतु है, जबकि 'पृथिवी अनित्य है, गन्ध युक्त होने से' इस अनुमान में साध्य सर्व व्यापक नही है। कुछ स्थानो में उसका अभाव निश्चित है, साथ ही अनेक स्थलों पर उसकी सत्ता भी देखी जा सकती है, अर्थात् साध्य की सत्ता और अभाव के कारण सपक्ष और विपक्ष दोनो ही हो सकते हैं, किन्तु हेतु इतने सकीर्ण क्षेत्र मे रहता है कि पक्ष के अतिरिक्त उसकी कही सत्ता ही नही देखी जा सकती, अतएव वह साध्य के साधन में समर्थ नही हो पाता, और उसे असाधारण हेत्वाभास कहा जाता है।

सक्षेप में हम कह सकते हैं कि अनुपसहारी साधारण और असाधारण हेत्वाभास का परस्पर भेद निम्नलिखित है :

अनुपसंहारी : पक्ष का सर्व व्यापक होना।

साधारण : हेतु का व्यापक अथवा सर्व व्यापक होना।

असाधारण : हेतु का क्षेत्र का अत्यन्त संकीर्ण होना अर्थात् हेतु का पक्षमात्र में ही रहना।

सव्यभिचार हेत्वाभास की चर्चा समाप्त करने से पूर्व हमे यह और जान लेना चाहिए कि इसके उपर्युक्त तीन भेद नैयायिकों में मुख्य रूप से स्वीकृत है किन्तु कुछ विचारक इन तीन भेदों पर अपनी सहमति नही देते। उदाहरणार्थ : केशव मिश्र अनुपसंहारी भेद को न मानकर केवल साधारण और असाधारण नाम से दो भेद ही स्वीकार करते है।[1] जबकि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग **साधारण, असाधारण, सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापी, विपक्षैकदेशवृत्ति सपक्षव्यापी; उभयपक्षैकदेशवृत्ति** तथा **विरुद्धाव्यभिचारी** नाम से छ भेद मानते है।[2] न्यायसार के लेखक भासर्वज्ञ ने **पक्षत्रयव्यापक, पक्षव्यापक विपक्ष-**

---

१. तर्कभाषा पृ० ९४ २. न्याय प्रवेश पृ० ३

सपक्षैकदेशवृत्ति, पक्षसपक्षव्यापक विपक्षैकदेशवृत्ति, पक्षविपक्षव्यापक सपक्षैक देशवृत्ति, पक्षत्रयैकदेशवृत्ति, विपक्षव्यापक पक्षसपक्षैकदेशवृत्ति, सपक्षव्यापक पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति, सपक्षविपक्षकव्यापक पक्षैकदेशवृत्ति भेद से आठ भेद स्वीकार किये हैं।[1] भासर्वज्ञ का यह विभाजन एक प्रकार से दिङ्नाग के विभाजन का संशोधन है। दिङ्नाग ने **व्यापकत्व** और **एकदेशवृत्ति** को आधार मानकर केवल सपक्ष और विपक्ष में ही इन आधारों को खोजा था, अतः इनके आधार पर तीन भेद हुए थे, किन्तु इस आधार से प्राप्त भेदों में सम्पूर्ण उदाहरणों का समावेश न होने से उन्हे साधारण असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी तीन भेद पृथक् मानने पड़े थे। जबकि न्यायसार के लेखक ने उसी आधार को (व्यापकत्व और एकदेशवृत्तित्व को) अपना कर उसका अन्वेषण सपक्ष और विपक्ष में ही न करके पक्ष मे भी किया। फलस्वरूप आठ भेद अनायास हो गये। इस संशोधन में आधार के क्षेत्र से बाहर अन्य भेदों को स्वीकार करने की आवश्यकता नही हुई; अतः भेद सख्या में अधिकता होने पर भी दिङ्नागकृत भेद की अपेक्षा इन्हे अधिक वैज्ञानिक कहा जा सकता है। किन्तु अधिकाश नैयायिकों द्वारा स्वीकृत तीन भेदों में इन सब के उदाहरणों का समावेश हो जाता है।

विरुद्ध : विरुद्ध हेत्वाभास नैयायिकों और वैशेषिको द्वारा समान रूप से स्वीकृत है। यद्यपि इसके लक्षण में **उत्तरोत्तर** परिष्कार होता रहा है। गौतम ने स्वीकृत सिद्धान्त के विरोध कथन को विरुद्ध हेत्वाभास माना था।[2] यह एक सामान्य लक्षण है, जिसमे न्याय की प्रक्रिया के अनुसार दोषत्व कहा रहता है, इसका कुछ पता नही चलता। वात्स्यायन ने भी इसकी विशेष व्याख्या न कर केवल इतना ही कहा कि 'वादी जिस सिद्धान्त का आश्रय कर वाद में प्रवृत हो रहा है यदि उसके अपने हेतु ही उसके विरोध करने वाले हों, तो उस या उन हेतुओं को विरुद्ध हेत्वाभास कहेगे।[3]

कणाद ने इसे **अप्रसिद्ध** नाम से स्मरण किया था। सभवत इसका कारण विरोधी होने के कारण साध्य साधन के लिए इसका अप्रसिद्ध होना है। कणाद

---

१. (क) न्याय सार पृ० १० (ख) न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका पृ० १२६
२. न्याय सूत्र पृ० २, ६. ३. वात्स्यायन भाष्य पृ० ४०

सूत्र के व्याख्याकारों के अनुसार यह अप्रसिद्ध पद व्याप्यत्वासिद्ध और विरुद्ध दोनों की ओर सकेत करता है।[१]

विरुद्ध की दूसरी परिभाषा 'साध्य युक्त अर्थात् सपक्ष में न होना' की गयी, इसका सर्वप्रथम उल्लेख पूर्व पक्ष के रूप मे गगेश ने किया है,[२] तथा विश्वनाथ पचानन ने कारिकावली में इसे ही स्वीकार किया है।[३] किन्तु कोई भी हेतु केवल सपक्ष में न होने से ही **असाधारण** अनैकान्तिक कहा जा सकता है, जिसकी चर्चा पूर्व पृष्ठो की जा चुकी है, क्योंकि सपक्ष में न होने पर वह पक्ष में रहेगा विपक्ष मे तो रहना ही नही है, अतः वह हेतु पक्षमात्रवृत्ति हुआ, जो कि **असाधारण** का लक्षण है।

अतएव उत्तरवर्त्ती नैयायिकों ने साध्य के अभाव में व्याप्त हेतु को विरुद्ध हेत्वाभास कहा है[४], इसे ही अधिक परिष्कृत रूप मे इस प्रकार कह सकते हैं : साध्य स्थलों मे व्यापक रूप से रहने वाले अभाव का प्रतियोगी हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।[५] इसे अत्यन्त सरलभाषा में आचार्य प्रशस्तपाद ने इस रूप में कहा था. जो हेतु अनुमेय में विद्यमान न रहे साथ ही अनुमेय के समान सजातीय सभी स्थलो मे न रहे तथा विपरीत स्थल में अर्थात् जहां साध्य न हो वहां अवश्य रहे वह विरुद्ध हेतु है।[६] न्यायसार मे इसे ही भिन्न शब्दों द्व रा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो हेतु पक्ष और विपक्ष में ही रहे अर्थात् सपक्ष में न रहे वह विरुद्ध हेत्वाभास है।[७] जैसे—'शब्द नित्य हैं कार्य होने से' इस अनुमान मे 'नित्य होना' साध्य, तथा उसके लिए प्रयुक्त हेतु 'कार्य होना' है, यह हेतु जहां जहां रहता है, वहां वहां नित्यत्व न रहकर उसका अभाव ही रहता है, आत्मा नित्य है किन्तु वह कार्य नहीं है, एवं घड़ा आदि कार्य हैं, तो वे नित्य नहीं हैं। इस प्रकार यह हेतु पक्ष शब्द में तथा विपक्ष घट आदि में रहता है, एवं सपक्ष आत्मा आदि में उसका अभाव रहता है। अतः 'कार्य होना' हेतु के द्वारा नित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, इसके विपरीत नित्यत्व

---

१. उपस्कारभाष्य पृ० ९५ २. तत्वचिन्तामणि पृ० १७७४
३. कारिकावली ७४ ४. (क) कणादरहस्यम् पृ १०१
(ख) तर्क भाषा पृ ९४ (ग) तर्क संग्रह पृ० ११२
५. तत्वचिन्तामणि पृ० १७७६ ६. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११७
७. न्यायसार पृ० ७।

(साध्य) के अभाव की ही सिद्धि होगी। फलतः प्रतिज्ञा (स्वीकृत सिद्धान्त) के विरुद्ध निर्णय प्राप्त होने के कारण इसे विरुद्ध हेत्वाभास कहेंगे, हेतु नहीं।

बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने विरुद्ध के चार भेद स्वीकार किये हैं—धर्मस्वरूपविपरीतसाधन, धर्मविशेषविपरीतसाधन, धर्मिस्वरूपविपरीतसाधन, धर्मिविशेषविपरीतसाधन।[1]

न्यायसार के लेखक भासर्वज्ञ ने इसके निम्नलिखित आठ भेद स्वीकार किये हैं, जिनमें प्रथम चार में सपक्ष रहता है, तथा शेष चार सपक्ष के अभाव मे ही होते हैं : सपक्ष रहने पर पक्षविपक्षव्यापक, विपक्ष के एक देश में तथा पक्ष में व्यापक, पक्ष और विपक्ष दोनो के एक देश में रहने वाला तथा विपक्ष में व्यापक एवं पक्ष के एक देश मे रहने वाला। सपक्ष के न रहने पर भी यही चार भेद हो सकते हैं।[2] जैसे : शब्द नित्य है, कार्य होने से इस अनुमान में साध्य नित्यत्व आत्मा आदि में निश्चित रूप से विद्यमान रहता है, अतः यहां **सपक्ष** विद्यमान है, साध्य नित्यत्व का साधक हेतु कार्यत्व है, किन्तु कार्यत्व नित्यत्व के अभाव वाले स्थलों, घड़ा वस्त्र आदि में व्यापक रूप से विद्यमान रहता है, नित्य आत्मा आकाश आदि में नहीं। अतः इस हेतु को हेत्वाभास कहा जाएगा। यहां हेतु कार्यत्व **पक्ष** शब्द तथा **विपक्ष** घड़ा वस्त्र आदि में व्यापक है, अतः इसे **पक्षविपक्ष वृत्ति** विरुद्ध कहा जाएगा।

'शब्द नित्य है जाति युक्त होकर भी इन्द्रियो द्वारा ग्रहण योग्य होने से' इस अनुमान में भी पूर्व की भाति ही नित्य आत्मा आदि **सपक्ष** तथा 'जाति युक्त होते हुए इन्द्रिय ग्राह्य होना' हेतु है. यह इन्द्रियग्राह्यता घड़ा वस्त्र आदि में रहती है, जोकि विपक्ष है, साथ ही पृथिवी आदि द्रव्यों के द्व्यणुक अनित्य हैं, किन्तु वे जातिमान् होकर भी हम सबकी इन्द्रियों से गृहीत नहीं होते। इस प्रकार हेतु विपक्ष के एक देश में ही रहता है, जबकि पक्ष में व्यापक रूप से विद्यमान है, अतः इसे **विपक्षैकदेशवृत्ति पक्षव्यापक-विरुद्ध** कहा जाएगा।

'शब्द नित्य है, प्रयत्न के अव्यवहित उत्तरवर्त्ती होने से' इस अनुमान में

---

१. न्यायप्रवेश पृ० ५,   २. न्यायसार पृ० ६।

शब्द पक्ष है, प्रथम शब्द प्रयत्नोत्तरवर्त्ती होता है, अतः यहां हेतु पक्ष में विद्यमान है, किन्तु शब्दज शब्द प्रयत्न जन्य नहीं है, अतः हेतु पक्षैकदेशवृत्ति हुआ। इसी प्रकार यह हेतु अनित्य घड़ा आदि मे तो रहता है, जोकि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होते है, किन्तु सरोवर में तरङ्गो से उत्पन्न होने वाली अनित्य तरङ्गे प्रयत्नजन्य नही, अतः यह विपक्ष के भी एक अश मे रहता है, फल यह हेतु **पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति** विरुद्ध हेत्वाभास हुआ।

'पृथिवी नित्य है कार्य होने से' इस अनुमान में कार्यत्व हेतु विपक्ष घड़ा आदि सभी अनित्य पदार्थो में तो रहता है, किन्तु पार्थिव परमाणु में, जोकि पृथिवी होने से पक्ष का एक देश है, नही रहता, अत. इस हेतु को **विपक्षव्यापक पक्षैकदेशवृत्ति** हेत्वाभास कहा जाएगा। उपर्युक्त सभी उदाहरणो में साध्य-नित्यत्व का अभाव अनित्य घड़ा आदि पदार्थो में देखा जा सकता है, अतः उपर्युक्त प्रत्येक भेद सपक्ष के रहने पर हुए।

'शब्द आकाश का विशेष गुण है, प्रमेय (बुद्धि का विषय) होने से' इस अनुमान मे प्रमेयत्व हेतु पक्ष शब्द तथा विपक्ष रूप आदि दोनों मे व्यापक रूप से रहता है. अतः यह **पक्षविपक्षव्यापक विरुद्ध** हेत्वाभास हुआ। यहां साध्य 'आकाश का विशेष गुण होना' है, जो शब्द के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नही रहता है, तथा शब्द स्वयं पक्ष है, इस प्रकार साध्य का सपक्ष होना सम्भव नही हैं।

शब्द आकाश का विशेष गुण है केवल प्रयत्न से ही उत्पन्न होने से' इस अनुमान का हेतु प्रयत्न से ही उत्पन्न होना गत पृष्ठ में दिये गये स्पष्टीकरण के अनुसार पक्ष और विपक्ष के एक देश में ही रहने वाला है, अतः यह **पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिविरुद्ध** हेत्वाभास कहा जाएगा।

'बाह्येन्द्रियग्राह्य होने से शब्द आकाश का गुण है, इस अनुमान में बाह्येन्द्रियग्राह्य होना हेतु है, जो पक्ष शब्द में तो व्यापक रूप से रहता ही है तथा विपक्ष रूप आदि मे भी विद्यमान रहता है, किन्तु अतीन्द्रिय द्रव्यो में विद्यमान संख्या आदि में, जो कि विपक्ष हैं, विद्यमान नहीं है, अतः इसे **पक्षव्यापकविपक्षैकदेशवृत्ति** विरुद्ध कहा जाएगा।

'शब्द आकाश का विशेषगुण है, अपदात्मक होने से' इस अनुमान में 'अपदात्मक होना' हेतु है, यह विपक्ष रूप आदि सभी में व्यापक है, किन्तु

पदात्मक शब्दों मे विद्यमान नही है, अतः इसे **पक्षैकदेशवृत्ति विपक्षव्यापक** विरुद्ध हेत्वाभास कहा जाएगा। स्मरणीय है कि उपर्युक्त चारो अनुमानों के साध्य 'आकाश का विशेषगुण होना' पक्ष शब्द के अतिरिक्त अन्यत्र कही नही रहता, अतः इसके सपक्ष उदाहरण नहीं मिल सकते।

नैयायिको की परम्परा मे विरुद्ध के भेदोपभेद नही किये गये हैं। उसका कारण इन भेदोपभेदों मे केवल बाह्य भेद होना है तथा कुछ अन्य हेत्वाभासों में समाहित हो जाते हैं। जबकि नैयायिकों की परम्परा में भेदोपभेद किसी मौलिक अन्तर होने पर ही स्वीकार किया जाता है, अन्यथा नही। उदाहरणार्थ विरुद्ध हेत्वाभास एक आन्तर भेद के कारण ही पूर्व वर्णित सव्यभिचार आदि से भिन्न माना गया है। जैसे सव्यभिचार का भेद साधारण हेतु सपक्ष में भी रहता है, किन्तु विरुद्ध सपक्ष में कभी नहीं रहता। असाधारण अनैकान्तिक हेतु साध्याभाव में रहता है, किन्तु सर्वत्र साध्याभाव में वह नहीं रहता, जबकि विरुद्ध साध्याभाव स्थल ही रहता है। अनुपसहारी हेतु में तो सभी के पक्ष होने के कारण अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त नही हुआ करते, जबकि विरुद्ध में दृष्टान्त अवश्य ही रहता है। **सव्यभिचार** और **विरुद्ध** में सब से मुख्य अन्तर यह है कि **सव्यभिचार** में केवल व्याप्ति दोषयुक्त रहती है जब कि **विरुद्ध** में व्याप्ति दोष के स्थान पर विरुद्ध व्याप्ति होती है। प्रथम में जहा साध्य के साधन में बाधा होती है, वहीं द्वितीय में हेतु के द्वारा साध्याभाव की सिद्धि होती है।

इस प्रकार विरुद्ध स्वय तो पूर्ववर्णित अनैकान्तिक से सर्वथा पृथक् है, किन्तु इसके भेदोपभेदो में केवल बाह्य भेद है, आन्तर नही, अतः उन्हें नैयायिक परम्परा में स्वीकार नही किया गया है।

सत्प्रतिपक्ष—जब अनुमान वाक्य में दो हेतुओं का एक साथ प्रयोग किया गया हो जिनमें से एक हेतु साध्य का साधन करता है और दूसरा हेतु साध्य के अभाव का साधन करता है, तो उन दोनों हेतुओ के समूह को सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। सत्प्रतिपक्ष का अर्थ है, जिसका प्रतिपक्ष अर्थात् साध्याभावसाधक अन्य हेतु विद्यमान है। न्यायसूत्रकार गौतम ने इसे प्रकरणसम कहा था क्योकि हेतु का ग्रहण निर्णय प्राप्त करने के लिए किया जाता है किन्तु दो हेतु होने के कारण निर्णय के स्थान पर प्रकरण की चिन्ता अर्थात् सन्देह उत्पन्न हो जाता है।[1] जैसे 'शब्द नित्य है शब्दत्व की भाति श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य

---

१. न्यायसूत्र १.२.७

होने से तथा शब्द अनित्य है घड़े के समान कार्य होने से' इस अनुमान में 'श्रोत्र ग्राह्य होना' हेतु नित्यता को सिद्ध करता है तथा 'कार्य होना' हेतु अनित्यता का साधक है इस प्रकार दो हेतुओं द्वारा प्रत्येक के साध्य का अभाव सिद्ध किया जा रहा है। विरुद्ध में केवल एक हेतु रहता है तथा वह साध्य का अभाव ही सिद्ध कर सकता है साध्य को नही, जबकि इसमें दो हेतु परस्पर विरोधी फल की सिद्धि करते हैं। वैशेषिक सत्प्रतिपक्ष को स्वतन्त्र हेत्वाभास नहीं मानते। उन्होंने अप्रसिद्ध असत् और अनध्यवसित नाम से तीन हेत्वाभास ही माने हैं, जिसकी चर्चा पूर्व पृष्ठ में की जा चुकी है।

महादेव राजाराम बोडास ने तर्क संग्रह के विवरण में वैशेषिकों के मत की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'वैशेषिक सत्प्रतिपक्ष का अन्तर्भाव बाधित में करते हैं',[१] उनका यह कथन विचारणीय है, क्योंकि वैशेषिकों ने बाधित को स्वीकार ही नही किया है। यह अवश्य है कि कुछ व्याख्याकारों ने **सत्प्रतिपक्ष** और **बाधित** दोनों को ही विरुद्ध के समानार्थक **अप्रसिद्ध** के अन्तर्गत समाहित करने का प्रयत्न किया है।[२] यद्यपि उन्होंने ही इस अन्तर्भाव को सन्तोषजनक न समझ कर अन्य समाधान भी दिये हैं। बाधित में सत्प्रतिपक्ष का अन्तर्भाव किया भी नही जा सकता, क्योंकि सत्प्रतिपक्ष में अनुमान का बाधन समान बलवाले अन्य अनुमान द्वारा किया जाता है, जबकि बाधित में अधिक बलशाली प्रत्यक्ष द्वारा विरोध किया जाता है। दीधितिकारने सत्प्रतिपक्ष का लक्षण करते हुए इस तुल्य बल को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। उनका कहना है कि जहां साध्यविरोधी व्याप्ति आदि से युक्त हेतु अथवा परामर्श प्राप्त होरहा है, वह हेतु **सत्प्रतिपक्ष** कहाता है।[3] संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जहां तुल्य बलवालों का विरोध हो, तुल्य बल वाले अन्य हेतु द्वारा हेतु के फल अर्थात् अनुमति का प्रतिरोध किया जाता हो, उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं,[४] तथा जहां असमान बल वालों का विरोध हो उसे असत्प्रतिपक्ष (बाधित) कहते हैं।

सत्प्रतिपक्ष के प्रसङ्ग में एक प्रश्न हो सकता है कि इसमें साध्य और साध्याभाव साधन के लिए जिन दो हेतुओं का प्रयोग किया जाता है उनमें

---

१. Notes on Tarkasangraha P. 304

२. प्रशस्त पाद सूक्ति (जागदीशी) पृ० ५६६ ३. वही पृ० ५६६

४. (क) तत्वचिन्तामणि ११४१ (ख) गदाधरी पृ० १७८८

से क्या दोनों ही हेतु सद्हेतु होते हैं अथवा असद्हेतु अथवा एक सद्हेतु और दूसरा असद् हेतु ? साध्य और साध्याभाव साधक दो हेतुओं में दोनो ही सद्हेतु नहीं हो सकते, क्योंकि एक पक्ष में साध्य और साध्याभाव एक काल में नही रह सकते कि उनका दो भिन्न हेतुओं द्वारा साधन किया जा सके। उदाहरणार्थ: सत्प्रतिपक्ष के उदाहरण के रूप में पूर्व उपस्थित किये गये अनुमान में पक्ष **शब्द** नित्य भी हो और अनित्य भी, यह सम्भव नही है; दोनों को असद्हेतु भी नही माना जा सकता, क्योंकि शब्द को नित्य अथवा अनित्य मे से एक तो होना ही चाहिए, यदि शब्द नित्य है तो नित्यत्व साधक हेतु असद्हेतु होगा, और यदि वह अनित्य है, तो नित्यत्व साधक हेतु को असद्हेतु तथा अनित्यत्व साधक हेतु को सद् हेतु होना चाहिए। इस प्रकार दोनों में से एक हेतु को ही असद् हेतु अर्थात् सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहना चाहिए दोनों को नही। जबकि सत्प्रतिपक्ष की उपर्युक्त परिभाषा दोनों हेतुओं में समान रूप से संगत होती है, अःत यह परिभाषा दोषपूर्ण है। इसके अतिरिक्त जो हेतु असद् हेतु हो रहा है, उसमे हेतु के धर्म **पक्षसत्व सपक्षसत्व** और **विपक्षव्यावृत्ति** में से किसी एक का अथवा अनेक का अभाव होगा, अत: उस धर्म के अभाव के कारण वह अनैकान्तिक आदि हेत्वाभास में अन्तर्भूत हो जाएगा उसके पृथक् मानने की आवश्यकना न होगी। उदाहरणार्थ यदि हेतु विपक्ष में विद्यमान है और सपक्ष मे भी है तो साधारण अनैकान्तिक होगा, यदि वह विपक्ष में नहीं है और सपक्ष में भी नहीं है तो पक्षमात्रवृत्ति होने से उसे असाधारण अनैकान्तिक कहा जाएगा इत्यादि। फलत: उस हेतु विशेष को अनैकान्तिक आदि हेत्वाभास में ही समाहित मानना चाहिए पृथक् नही।

किन्तु नैयायिकों का विचार है कि सत्प्रतिपक्ष में दो हेतु एक साथ उपस्थित होते हैं, उनकी व्याप्ति का स्मरण और परामर्श भी साथ साथ ही होते है क्रमश: नहीं। भिन्न काल में दो अनुमानों में परस्पर विरोधी होने पर तो एक सद् अनुमान और दूसरा असद् अनुमान होगा, तथा असद् अनुमान का हेतु तो अनैकान्तिक आदि हेत्वाभासों में से अन्यतम होगा, सत्प्रतिपक्ष नही। किन्तु जहां दो अनुमान समान समय में उपस्थित होते हैं, वहां साध्य और साध्याभाव साधक दोनो हेतुओं के समूहालम्बनात्मक ज्ञान के कारण दोनों व्याप्तियों की स्मृति भी एक साथ होती है, फलत: दोनों प्रकार के परामर्श भी एक साथ उपस्थित होते हैं, अत: एक काल में विरुद्ध दो कार्य करने के कारण

एक भी कार्य उत्पन्न नहीं हो पाता।[1] अतः उन दो हेतुओं में से किसी एक की भी पृथक् प्रतीति न होने के कारण उन्हे सद् हेतु नही कह सकते। इस प्रकार दोनों ही हेतु असद् हेतु के रूप में प्रतीत होंगे, फलतः इनका अन्तर्भाव अनैकान्तिक आदि में न किया जा सकेगा। यही कारण है कि नैयायिकों ने **सत्प्रतिपक्ष** को पृथक् हेत्वाभास के रूप में स्वीकार किया है।

कणाद तर्कवागीश के अनुसार 'साध्याभावव्याप्य हेतु का पक्ष में होना ही सत्प्रतिपक्ष है।[2] इनके मत में सत्प्रतिपक्ष में दो हेतुओं का होना आवश्यक नही है। जैसे 'सरोवर अग्नि से युक्त है क्योंकि वह सरोवर है' इस अनुमान में सरोवर पक्ष है, उसमें अग्नि की सिद्धि की जा रही है, इसके लिए हेतु 'सरोवर होना' ही दिया गया है। चूकि यह हेतु केवल सरोवर में ही रहता है, जो कि पक्ष है तथा केवल पक्ष में रहने वाले हेतु को **असाधारण अनैकान्तिक** कहते हैं।[3] अतः भाषारत्नकार के सत्प्रतिपक्ष का असाधारण में ही अन्तर्भाव हो जाएगा उसको पृथक् स्वीकार करने की आवश्यकता नही है, पृथक् स्वीकृत **सत्प्रतिपक्ष तो** पक्षमात्रवृति हेतु से सर्वथा भिन्न है।

असिद्ध : असिद्ध हेत्वाभास नैयायिक और वैशेषिक दोनों द्वारा स्वीकृत है।[4] गौतम ने इसे साध्यसम कहा था। क्योंकि वह हेतु ही साध्य के समान साधन की अपेक्षा रखता है अतः वह साध्य के समान होने से **साध्यसम** कहा जाता है[5] उदयनाचार्य की परिभाषा के अनुसार जहां व्याप्त पक्ष के धर्म के रूप में प्रतीत हो उसे सिद्धि कहते हैं तथा जो उसके विपरीत हो उसे असिद्धि कहते हैं। सरल शब्दों में सिद्धि का न होना ही असिद्धि कहा जाता है। चूकि पक्षधर्मता ज्ञान से परामर्श उत्पन्न होता है, अतः पक्षधर्म के रूप में साध्य की प्रतीति के बिना परामर्श की उत्पत्ति संभव नही है। इस प्रकार परामर्श की उत्पत्ति न होना ही असिद्धि है, यह भी कहा जा सकता है। असिद्ध सव्यभिचार से सर्वथा भिन्न है, असिद्ध में परामर्श नहीं होता, जबकि सव्यभिचार में परामर्श होता तो है किन्तु दोषपूर्ण। जैसा कि इस प्रकरण के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है;

---

१. तत्वचिन्तामणि पृ० ११६७ २. भाषारत्न पृ० १८३

३. इसी ग्रन्थ के पृ० २३१ देखें।

४. (क) प्रशस्त पाद पृ० ११६ (ख) न्याय सूत्र १. २. ४

५. न्याय सूत्र १. २. ८

परामर्श के लिए तीन ज्ञान आवश्यक हैं पक्षता (पक्ष का ज्ञान) पक्षधर्मता (हेतु का पक्ष-धर्म होना) तथा व्याप्ति ज्ञान। इन तीनों में से किसी एक के भी दोषपूर्ण होने पर असिद्धि दोष हो सकता है[1] जैसे पक्ष का ज्ञान दोषपूर्ण होने पर आश्रयासिद्धि, हेतु का ज्ञान सदोष होने पर स्वरूपासिद्धि तथा व्याप्ति का ज्ञान दोष पूर्ण होने पर व्याप्यत्वासिद्धि दोष होगा। इसी कारण न्याय शास्त्र की परम्परा में असिद्ध हेत्वाभास के तीन भेद माने गये है।

यहां परम्परा शब्द के व्यवहार का तात्पर्य यह है कि कुछ आचार्यो ने तीन के स्थान पर चार आठ अथवा अधिक भेद भी किये हैं। उदाहरणार्थ आचार्य प्रशस्तपाद असिद्ध के चार भेद मानते हैं : उभयासिद्ध, अन्यतरासिद्ध, तद्भावासिद्ध तथा अनुमेयासिद्ध।[2] उनके अनुसार 'पक्ष में वादी और प्रतिवादी दोनों द्वारा हेतु की सत्ता को स्वीकार न करना **उभयासिद्ध हेत्वाभास** है' जैसे शब्द नित्य है सावयव होने से इस अनुमान मे हेतु 'अवयव युक्त होना' है, किन्तु कोई भी दार्शनिक सम्प्रदाय शब्द को सावयव नहीं मानता, अतः वादी और प्रतिवादी किसी भी सम्प्रदाय के क्यों न हों दोनों को ही शब्द का सावयव होना स्वीकार न होगा अतः इस हेतु को **उभयासिद्ध हेत्वाभास** कहा जाएगा।

चूंकि मीमांसक शब्द को कार्य अर्थात् किसी कारण से उत्पन्न नहीं मानते, अतः उनके साथ वाद के प्रसङ्ग में यदि शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिए कार्यत्व को हेतु माना जाए तो वह हेतु वादी प्रतिवादी मे अन्यतर मीमांसक को स्वीकार न होने से **अन्यतरासिद्ध** हेत्वाभास कहा जाएगा।

चूंकि धूम और अग्नि का नियत साहचर्य है, अतः धूम के द्वारा अग्नि की सिद्धि की जाती है, किन्तु धूम की भांति प्रतीत होने के कारण वाष्प को हेतु बनाकर यदि साध्य अग्नि का साधन के किया जाए, तो चूंकि बाष्प धूम नहीं है, अतः उस हेतु (वाष्प) को **तद्भावासिद्ध** हेत्वाभास कहा जाएगा।

चूंकि न्यायशास्त्र की परम्परा में तमस् (अन्घकार) को तेज का अभाव माना जाता है, अतः उसी तमस् को यदि कृष्णरूप के कारण पार्थिव सिद्ध करना चाहे तो उस अनुमान में कृष्णरूपवत्व को **अनुमेयासिद्ध** हेत्वाभास कहेंगे।

---

१. तत्व चिन्तामणि पृ० ११८० २. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ११६

बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग भी केवल चार प्रकार के असिद्ध मानते हैं : उभयासिद्ध, अन्यतरासिद्ध, सन्दिग्धासिद्ध और आश्रयासिद्ध ।[1]

आचार्य भासर्वज्ञ ने असिद्ध के चौदह भेद माने हैं : स्वरूपासिद्धः, व्यधिकरणासिद्ध, विशेष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध, भागासिद्ध आश्रयासिद्ध, आश्रयैकदेशासिद्ध, व्यर्थविशेष्यासिद्ध, व्यर्थविशेषणासिद्ध, सन्दिग्धासिद्ध, सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध, सन्दिग्धविशेषणासिद्ध, विरुद्धविशेष्यासिद्ध और विरुद्धविशेषणासिद्ध ; तथा ये भेद भी यदि वादी और प्रतिवादी में दोनों को ही अमान्य हों तो उभयासिद्ध तथा अन्यतर को अमान्य होने पर अन्यतरासिद्ध भेद से विभक्त होकर अट्ठाइस प्रकार के हो जाते है ।[2]

आचार्य बल्लभ के अनुसार लिङ्ग के रूप में अनिश्चित हेतु को असिद्ध हेतु कहते हैं,[3] अर्थात् जो हेतु पक्षधर्म के रूप में ज्ञात न हो और जिसकी व्याप्ति का ज्ञान न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते है ।[4] किन्तु असिद्ध की यह परिभाषा अधिक उपयुक्त नही है, क्योंकि व्याप्ति का अभाव और पक्ष धर्मताज्ञन का अभाव इन दोनों की पृथक् पृथक् असिद्धि आचार्य बल्लभ भी नही मानते । यदि यह कहा जाए कि 'व्याप्ति और पक्षधर्मताज्ञान से सिद्धि होती है, तथा व्याप्ति एवं पक्षधर्मताज्ञान के अभाव में सिद्धि नहीं होती, अतः उस अभाव से युक्त हेतु को असिद्धि कहेंगे' तो यह कथन उचित न होगा, क्योंकि व्याप्ति आदि का अभाव न होने पर ही हेतु सद्हेतु होता है, अनैकान्तिक आदि प्रत्येक हेत्वाभास में व्याप्ति का अभाव तो रहता ही है, अतः असिद्ध का लक्षण प्रत्येक हेत्वाभास में अतिव्याप्त ोगा ।[5]

भासर्वज्ञ ने पक्ष में हेतु का रहना अनिश्चित होने पर उस हेतु को असिद्ध हेत्वाभास कहा था ।[6] किन्तु असिद्ध का यह लक्षण सोपाधिक (उपाधि सहित) हेतु में अव्याप्त रहता है जबकि उपाधियुक्त हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं होती, तथा उसे अन्य किसी हेत्वाभास में समाहित नही किया जा सकता ।

इसीलिए दीधितिकार ने अनैकान्तिक अर्थात् साधारण आसाधारण और

१. न्यायप्रवेश पृ० ३
२. न्यायसार पृ० ७-६
३, न्यायलीलावती पृ० ६११
४, न्यायलीलावती प्रकाश पृ० ६११
५. तत्वचिन्तामणि पृ० १८४५,
६. न्याय सार पृ० ७

अनुपसंहारी से भिन्न यथार्थ ज्ञान का विषय होते हुए भी परामर्श के विरोधी होने वाले हेतु को असिद्ध हेत्वाभास कहा है।[1]

असिद्धि की सबसे अधिक स्पष्ट परिभाषा गगेशने की है, उनका कहना है कि हेतु के आश्रय, स्वरूप अथवा व्याप्यत्व का सिद्ध न होना ही असिद्धि है तथा इनसे प्रत्येक की सिद्धि का ज्ञान न होने से अनुमिति में बाधा होती है।[2]

इस प्रकार असिद्ध के पूर्व निर्दिष्ट भेद करना ही अधिक उपयुक्त होगा।

आश्रयासिद्ध—आश्रयासिद्ध शब्द स्वतः ही अपनी परिभाषा स्पष्ट करता है अर्थात् पक्ष के धर्म हेतु के आश्रय का अभाव जिस हेतु में हो वह **आश्रया-सिद्ध** है। जैसे—'आकाशकमल सुगन्धित है कमल होने से' इस अनुमान में कमल होना (कमलत्व) हेतु के आश्रय 'आकाश कमल' का ज्ञान होता ही नहीं, अतः इस हेतु को **आश्रयासिद्ध** हेत्वाभास कहते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में पक्ष सामान्यकमल नही है, किन्तु **आकाशीयकमल** है, जिसका धर्म कमलत्व सामान्य न होकर आकाशीयत्वविशिष्ट कमल का धर्म है, इस प्रकार पक्षता-वच्छेदक धर्म **आकाशीयत्वविशिष्टकमलत्व** अथवा नैयायिक भाषा में **आकाशी-यत्वावच्छिन्नकमलत्व** होगा; क्योकि नैयायिको का सिद्धान्त है कि जब सामान्य विशेषण को छोड़कर विशेषणविशिष्ट किसी धर्म का कथन किया जाता है, तब वह धर्म विशेष्य का नहीं किन्तु विशेषण का ही धर्म माना जाता है (सति विशेष्ये बाधे विशिष्टाबुद्धिः विशेषणमुपसंक्रामति)। इस सिद्धान्त के अनुसार पक्षतावच्छेदक धर्म आकाशीयत्व होगा कमलत्व सामान्य नही, तथा इस प्रकार यहां पक्षतावच्छेदक धर्म का अभाव होने से पक्षता न होगी।

स्वरूपासिद्ध—यह शब्द भी अपने में अत्यन्त स्पष्ट है, अर्थात् जहां हेतु का स्वरूप स्वय ही सिद्ध नही होता। हेतु की सिद्धि किसी प्रमाण से ज्ञात नही होती। जैसे 'शब्द गुण है चक्षुर्ग्राह्य होने से' इस अनुमान में शब्द के गुणत्व की सिद्धि के लिए दिया गया हेतु 'उसका चक्षुरिन्द्रियग्राह्य होना' स्वयं ही असिद्ध है। इस प्रकार पक्ष में हेतु का होना सिद्ध न होने से इसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। स्वरूपासिद्ध और आश्रयासिद्ध में अन्तर यह है कि आश्रया-सिद्ध में पक्षसिद्ध नहीं होता; क्योंकि या तो वह अयथार्थ होता है अथवा दोष-

---

१. दीधिति पृ० १८५३-५४ २. तत्वचिन्तामणि पृ० १८५२

युक्त । जबकि स्वरूपासिद्ध में हेतु और उसका आश्रय पक्ष दोनों ही यथार्थ होते हैं, किन्तु उनका परस्पर सहभाव नहीं होता ।

कुछ विद्वान् स्वरूपासिद्ध के चार प्रकार मानते हैं—शुद्धासिद्ध, भागासिद्ध, विशेषणासिद्ध और विशेष्यासिद्ध ।[1] जैसे : 'शब्द गुण है, चक्षुरिन्द्रियग्राह्य होने से' यहां हेतु **शुद्धासिद्ध है** । 'घटपट आदि पृथिवी हैं घट होने से' यहा 'घट होना' हेतु पक्ष के एक अंश घट में तो सिद्ध है किन्तु द्वितीय अंश पट आदि में घटत्व न होने से असिद्ध है, इस प्रकार एक भाग में असिद्ध होने से इसे **भागासिद्ध** हेत्वाभास कहते है । इसी प्रकार 'वायु प्रत्यक्ष है, रूपवान् होते हुए स्पर्शवान् होने से' इस अनुमान में सविशेषण हेतु का 'विशेषण' **रूपवान् होना** वायु में सिद्ध नहीं हो सकता, अतः इसे **विशेषणासिद्ध** हेत्वाभास कहते हैं, तथा 'वायु प्रत्यक्ष है स्पर्शवान् होते हुए रूपवान् होने से' इस अनुमान मे सविशेषण हेतु का विशेषण अंश स्पर्शवान् होना तो सिद्ध है, किन्तु विशेष्य अंश रूपवान् होना सिद्ध नहीं है, अतः इस हेतु को **विशेष्यासिद्ध** हेत्वाभास कहते हैं । इन चारो ही भेदो में स्वरूपासिद्ध का सामान्यलक्षण 'हेतु का पक्ष मे सिद्ध न होना' समान रूप से विद्यमान है क्योंकि प्रत्येक स्थिति में हेतु पक्ष में सिद्ध नही होता । जैसाकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि हेतु के पाच धर्मों में से सभी धर्मों के विद्यमान रहने पर वह हेतु सद्हेतु तथा किसी एक के भी विद्यमान न रहने पर वह हेतु हेत्वाभास होता है । प्रस्तुत असिद्ध भेद मे पक्ष सत्व (पक्षधर्मत्व) का अभाव रहता है, अतः यह भी सव्यभिचार आदि के समान हेत्वाभास है ।

व्याप्यत्वासिद्ध—असिद्ध का तृतीय भेद **व्याप्यत्वासिद्ध** है । इसमें हेतु साध्य का व्याप्य नहीं बन पाता । अन्नंभट्ट के अनुसार उपाधि सहित हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं ।[2] **उपाधि** उस धर्म विशेष को कहते हैं, जिसके रहने पर ही हेतु साध्य के साथ रहे तथा न रहने पर न रहे । यह धर्म साध्य युक्त सभी स्थलों में रहता है, किन्तु हेतुयुक्त सभी स्थलों में नही रहता ।[3] उपाधि-शब्द की व्युत्पति के अनुसार 'जो समीपवर्त्ती को अपने धर्म से प्रभावित करले उसे उपाधि कहते हैं । जैसे लाल फूल समीपवर्ती स्फटिक मणि को अपनी

१. तर्क किरणावली पृ० ११३.

२. तर्क संग्रह पृ० ११४ ३. वही पृ० ११४

ालिमा से प्रभावित करता है उसस्थिति में स्फटिक की लालिमा स्वाभाविक न होकर उपाधिकृत कही जाएगी तथा फूल को **उपाधि** कहा जाएगा। इसी प्रकार सर्वव्यापक आकाश घट के कारण घट परिमाण में परिमित हो जाता हैं, यहां आकाश का सीमित परिमाण स्वाभविक न होकर उपाधि के कारण उत्पन्न कहा जाएगा, तथा घड़े को **उपाधि** कहा जाएगा। इस प्रकार हम कह सकते है कि, उपाधि वह धर्म है, जिससे कोई पदार्थ कुछ काल के लिए कुछ विशेष धर्म से युक्त प्रतीत होता है।' यद्यपि वस्तु का अपना स्वतन्त्र धर्म होता है किन्तु वह उपाधि के कारण प्रतीत न होकर उपाधिगत धर्म ही उस वस्तु में निजधर्म के रूप मे प्रतीत होता है। जैसे 'पर्वत धूमयुक्त है क्योंकि वह अग्नि युक्त है' इस अनुमान मे **साध्य** 'धूम युक्त होना है' तथा **हेतु** 'अग्नियुक्त होना'; किन्तु साध्य धूम साधन अग्नि के साथ सदा नही रहता, उदाहरणार्थ गरम लोहे के गोले में हेतु अग्नि है, किन्तु साध्य धूम नहीं। साध्य भले ही अधिक-स्थान में रहने वाला हो, किन्तु हेतु को अधिक स्थान में रहने वाला अर्थात् व्यापक नही होना चाहिए। उसे तो व्याप्य अर्थात् समान अथवा कम स्थानों में रहने वाला होना चाहिए। यह व्याप्यत्व प्रस्तुत हेतु में नहीं है। यदि विचार करें तो प्रतीत होता है कि **गीले ईंधन का संयोग** एक ऐसा धर्म है कि जब वह हेतु के साथ रहता है तो साध्य भी रहता है, जैसे रसोई घर मे गीले ईधन के साथ हेतु अग्नि है तो साध्य धूम भी है, किन्तु गरम लोहे के गोले में हेतु के साथ वह विशेष धर्म 'गीले ईधन का अग्नि से संयोग' नही है, तो वहां साध्य धूम भी नहीं है। इस प्रकार यह धर्म धूम का नियत सहचारी है किन्तु यह गीले ईंधन का संयोग अग्नि के साथ नियतरूप से नहीं रहता अतएव इस स्थिति विशेष को **उपाधि** कहते हैं। इस उपाधि से युक्त रहने पर ही 'अग्नि युक्त होना' हेतु साध्य 'धूम का साधक हो सकता है अन्यथा नही; अतएव इस उपाधि से युक्त होने के कारण 'अग्नि युक्त होना हेतु **व्याप्यत्वासिद्ध** है।

दीपिकाकार के अनुसार उपाधि के चार प्रकार हैं: **केवल साध्यव्यापक, पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक, साधनाधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक** तथा **उदासीन-धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक**।[1] पूर्व पंक्तियों में वर्णित 'गीले इन्धन का संयोग केवल साध्य के रहने पर ही हेतु के साथ रहता है 'अन्यथा नहीं' अतः वह **केवल साध्यव्यापक** उपाधि है। 'वायु प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रय

---

१. तर्कदीपिका पृ० ११४

होने से' इस अनुमान के हेतु 'प्रत्यक्ष स्पर्शाश्रयत्व' के साथ सर्वत्र प्रत्यक्ष योग्यता नहीं होती, क्योंकि नैयायिकों के अनुसार बहिरिन्द्रिजन्य द्रव्य प्रत्यक्ष वहीं होता है, जहा उद्भूत रूप भी विद्यमान हो, अतः जहा जहां उद्भूत रूप के साथ प्रत्यक्ष स्पर्शाश्रयत्व विद्यमान है, वही वहीं द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नही, जैसे मानस प्रत्यक्ष मे। प्रस्तुत अनुमान में वायु पक्ष है, उसका धर्म बहिर्द्रव्यत्व (स्थूल द्रव्य होना) है, उससे युक्त प्रत्यक्ष पृथिवी जल और अग्नि मे है, उनमें 'उद्भूत रूप' भी विद्यमान है, तथा इस पक्षधर्म 'बहिर्द्रव्यत्व' का आत्मा आदि मे अभाव है, उन्हे छोड़कर अन्यत्र साध्य के साथ 'उद्भूत रूपवत्व' रहता है, इस प्रकार वह पक्षधर्मावच्छिन्न (पक्षधर्म से युक्त) में साध्य के साथ व्यापक है, तथा हेतु प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रय होना' वायु में विद्यमान है किन्तु वहां उदभूत रूप नही है. इस प्रकार यह साधन के साथ अव्यापक भी है फलतः यह 'उद्भूत रूप वाला होना' उपाधि पक्षधर्मावच्छिन्न साध्यव्यापक कही जाएगी। 'ध्वंसाभाव नाशवान् है क्योंकि वह उत्पन्न होता है' इस अनुमान में उत्पन्न होना हेतु में 'भावत्व अर्थात् भाव पदार्थ होना' उपाधि है, वह क्योकि 'जो जो उत्पन्न होता है वह वह नाशवान् है, यह व्याप्ति केवल भाव पदार्थो में ही सगत होती है, अतः व्याप्ति में 'भावपदार्थ होने पर' यह विशेषण आवश्यक है, क्योकि प्रागभाव उत्पन्न न होने पर भी नाशवान् है। इस प्रकार भावत्व उपाधि उत्पन्न होने वाले अनित्य पदार्थो में रहती है, उत्पन्न न होने वाले पदार्थो में नही। इसलिए **भाव पदार्थ होना** जन्यत्व (उत्पन्न होना) हेतु से युक्त अनित्यत्व में व्यापक है। इस प्रकार इस उपाधि को **साधनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक** कह सकते है। 'प्रागभाव नाशवान् है, ज्ञान का विषय होने से' इस अनुमान में ज्ञान का विषय होना हेतु है तथा **भावत्व** (भाव पदार्थ होना) उपाधि है, जो जो **भाव पदार्थ** ज्ञान के विषय हैं, वे ही **विनाशी** है, अत्यन्ताभाव भाव पदार्थ नहीं है अतः वह विनाशी भी नही है। इसके साथ ही यह भावत्व उत्पन्न होने वाले पदार्थो मे भी विद्यमान रहता है। यह जन्यत्व (उत्पन्न होना) धर्म न तो पक्ष का धर्म है और न साधन का, अपितु दोनों से भिन्न (उदासीन) का धर्म है, जिसके साथ साथ भावत्व (उत्पत्ति) उपाधि रहती है; अतः इस उपाधि को **उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक** उपाधि कहा जाएगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्याप्यत्वासिद्ध हेतु (हेत्वाभास) साध्य का नियत सहचारी नहीं है और इसीलिए ऐसे हेतुओं में हेतु और साध्य की व्याप्ति

नही हो सकती, जबकि स्वरूपासिद्ध हेतु (हेत्वाभास) का पक्षधर्म होना सम्भव नही होता ।

विश्वनाथ आदि नव्य नैयायिक साध्य सहचरित हेतु के लिए यह आवश्यक मानते हैं कि वह धर्मान्तर से युक्त न हो अर्थात् हेतु वाचक पद सविशेषण न हो ।[1] यदि हेतु धर्मान्तर से युक्त हो तो वह साध्यव्याप्य नहीं रह जाता । ऐसी स्थिति में व्याप्यत्व का अभाव होने पर वे व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास मानते हैं । जैसे पर्वत अग्नि वाला है नील धूम युक्त होने से' इस अनुमान में 'नील धूम वाला होना' हेतु है, जबकि अग्नि और धूम के सहभाव दर्शन में धूम सामान्य है, नील धूम नही । यद्यपि प्रतीत तो यह होता है कि धूम और नील धूम परस्पर अभिन्न है, किन्तु वस्तुतः धर्म विशेष का संयोग होने के कारण दोनों ही पूर्णतः भिन्न है ।[2] क्योंकि धर्म विशेष का सयोग वस्तु को भिन्न गुणों वाला बना देता है, अतः वस्तु भी भिन्न ही हो जाती है ।

व्याप्यत्वासिद्ध की परिभाषा सम्बन्ध में नैयायिकों के प्राचीन और नवीन सम्प्रदायों में अत्यधिक मत भेद है । विश्वनाथ व्याप्यत्वासिद्ध की परिभाषा में उपाधि की कही चर्चा भी नहीं करते, जबकि अन्नभट्ट उपाधि को ही व्याप्यत्वासिद्ध का आधार मानते है ।[3] तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने दोनों प्रकार का व्याप्यत्वासिद्ध स्वीकार किया है ।[4]

कुछ विद्वान् सोपाधिक हेतु को असिद्ध के अन्तर्गत न रखकर सव्यभिचार में अन्तर्भूत मानते हैं । उनका कथन है कि उपाधि व्याप्ति में दोष उत्पन्न करती है; तथा व्याप्ति दोष से परामर्श में बाधा होती है, इस प्रकार उपाधि व्याप्ति में दोष उत्पन्न करते हुए परामर्श के प्रतिबन्ध द्वारा अनुमिति की प्रतिबन्धक है । फलतः उपाधि हेतु का दोष नहीं है, अपितु अनुमिति के करण परामर्श के प्रतिबन्ध में अन्यथासिद्ध है । सोपाधिक हेतु का मुख्य दोष तो व्यभिचार है, जो उपाधि द्वारा उत्पन्न होता है । इस प्रकार व्यभिचार द्वारा प्रतिबन्धक होने से व्याप्यत्वासिद्ध हेतु सव्यभिचार हेतु से अभिन्न सिद्ध होता है ।

---

१. न्यायमुक्तावली पृ० ३४७-४८ २. दिनकरी पृ० ३४८
३. तर्क संग्रह पृ० ११४ ४. तर्क भाषा पृ० ४४-४५

इस प्रसंग में यह प्रश्न हो सकता है कि जब व्याप्यत्वासिद्ध और सव्यभिचार अभिन्न प्रतीत होते हैं तो क्या कारण है कि नैयायिकों ने इसे (व्याप्यत्वासिद्ध को) सव्यभिचार से पृथक् स्वीकार किया है ? इस प्रश्न के समाधान के रूप में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यद्यपि व्याप्ति दोष दोनो में समान रूप से रहता है और इसी कारण दोनों अभिन्न प्रतीत भी होते है, किन्तु यह प्रतीति यथार्थ नहीं है, क्योंकि व्यभिचार की प्रतीति भावात्मक रूप से होती है, जबकि असिद्धि की प्रतीति अभावात्मक होती है। व्यभिचार दोष स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, जबकि असिद्धि सामान्यतः प्राप्त है, वह भाव रूप से स्पष्ट नहीं होती । जैसे शब्द नाशवान् है सत्तावान् होने से' इस अनुमान मे नाशवान् होना और सत्तावान् होना साध्य और साधन के रूप में व्यवहृत हो रहे हैं, किन्तु ये दोनों परस्पर नियत सहचारी हैं या नही ? यह सरलता पूर्वक नही कहा जा सकता । साधारण रूप से तो यही प्रतीत होता है कि ये दोनों ही धर्म सभी वस्तुओ में सामान्यतया विद्यमान रहते है, अतः इनमें कौन व्याप्य है और कौन व्यापक यह प्रतीति सुलभ नहीं होती। न्यायबोधिनीकार गोवर्धन व्यभिचार में साध्य के अभाव वाले स्थल में साधन का रहना तथा असिद्ध में (साध्य के अभाव वाले स्थल में) साधन के अभाव का अभाव स्वीकार किया है । इस प्रकार व्यभिचार दोष भावात्मक है, जबकि असिद्ध अभावात्मक । इस अन्तर को भी केवल शाब्दिक कहा जा सकता है, सम्भवतः इसीलिए अन्नंभट्ट ने व्याप्यत्वासिद्ध में उपाधि को आवश्यक माना है ।

बाधितः—नैयायिकों द्वारा स्वीकृत पांचवा हेत्वाभास बाधित है । गौतम-ने इसे **कालातीत** नाम से स्वीकार किया था । गौतम कृत **कालातीत** की परिभाषा स्वयं अपने में अधिक स्पष्ट नहीं है, इसीलिए एक अज्ञातनामा आचार्य ने, जिनका उल्लेख भाष्यकार वात्स्यायन ने किया है, न्यायवाक्य के अवयवों मे क्रम विपर्यय को ही **कालातीत** स्वीकार किया था ।[1] किन्तु उनके मत को परवर्त्ती किसी विद्वान् ने स्वीकार नही किया । क्योंकि सस्कृत भाषा की यह एक सामान्य परम्परा रही है कि 'जिस पद का जिस पद के साथ अर्थतः सम्बन्ध रहता है, पदों के दूर रहने पर भी उस अर्थ की प्रतीति होती ही है, अर्थ के असमान रहने पर आनन्तर्य भी प्रतीति का कारण नहीं हो पाता ।[2]

१. न्याय भाष्य पृ० ४२ २. वही पृ० ४२

काव्य में क्रम विशेष के आधार पर अर्थ की व्यञ्जना में अन्तर आना भले ही दूसरी बात है।[१] गौतम ने न्याय वाक्य में क्रम विपर्यय को हेत्वाभास न मानकर ही उसे अप्राप्तकाल निग्रहस्थान नाम से स्वीकार किया है।[२] वात्स्यायन के अनुसार **कालातीत** का तात्पर्य है; जो हेतु काल अतीत हो जाने कारण अब साध्य के साधन में समर्थ नहीं है। जैसे: 'शब्द नित्य है क्योंकि वह संयोग से व्यंग्य होता है, इस अनुमान में संयोग से व्यजित होना' हेतु है, किन्तु शब्द की उपलब्धि के समय वह सयोग नहीं रहता, अत: उपलब्धि के समय संयोग द्वारा व्यञ्जना न होने से (संयोग द्वारा व्यग्य होने का काल अतीत हो जाने के कारण) इस प्रकार के हेतु को उनके अनुसार कालातीत हेत्वाभास कहा जा सकता है।[3]

परवर्त्ती नैयायिकों ने जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से बाधित हो उसे **बाधित** हेत्वाभास माना है। बाधित के प्रसङ्ग में नव्यनैयायिकों की इस नवीन मान्यता के सूत्र भी वात्स्यायनभाष्य में खोजे जा सकते हैं; जैसे: पूर्व उदाहरण में कालातीत के लक्षण का संगमन करते हुए वे कहते है कि 'व्यंजक संयोग का समय व्यंग्य रूप के समय से भिन्न नहीं होता व्यंजक दीपक के प्रकाश और घट के संयोग होने पर व्यंग्य घट की प्रतीति होती है, तथा दीप प्रकाश एवं घट के संयोग की निवृत्ति हो जाने पर घट की प्रतीति भी समाप्त हो जाती है। दारू और परशु का सयोग होने पर शब्द की प्रतीति होती है किन्तु उस संयोग के नाश हो जाने पर भी दूरस्थ व्यक्तियों को शब्द की प्रतीति होती है, इसलिए यह प्रतीति सयोग से निर्मित नहीं है। क्योंकि कारण के अभाव होने पर कार्य का भी अभाव होता है।'[४] वात्स्यायन की यह निषेध प्रक्रिया एक प्रकार का **अनुमान** है जिसके द्वारा पूर्व अनुमान के हेतु 'संयोग व्यंग्य होना' हेतु का स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है। इस प्रकार अनुमान द्वारा बाध की प्रक्रिया को देखकर प्रमाणान्तर से साध्य का

---

१. 'वाक्य में पदक्रम के महत्व' के सम्बन्ध में मेरे शोध प्रबन्ध 'महिमभट्ट कृत काव्य दोष विवेचन एक अध्ययन' का क्रमदोष प्रकरण देखिए।

२. न्याय सूत्र पृ० ५. २. १०

३. (क) न्याय भाष्य पृ० ४२ (ख) न्याय खद्योत पृ० १८६

४. न्याय भाष्य पृ० ४२

बाध दूसरे शब्दों में साध्याभाव का ज्ञान, बाधित है ऐसा नैयायिकों ने स्वीकार किया है।

इस प्रकार नवीन मत मे जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से बाधित हो रहा हो उसे बाधित या कालातीत हेत्वाभास कहते है।[1] किन्तु यह प्रमाणान्तर बलवत्तर होना चाहिए, अन्यथा समबल होने पर या प्रमाणान्तर के निर्बल होने पर प्रस्तुत हेतु का भी बाध न हो सकेगा। गंगेशोपाध्याय तथा अन्नंभट्ट आदि नैयायिकों के अनुसार साध्याभाव प्रमाणान्तर से निश्चित होना चाहिए, साथ ही प्रमात्मक भी।[2] इसीलिए उन्होंने उस हेतु को बाधित हेत्वाभास माना है, जिसके पक्ष में साध्य का अभाव प्रमाणान्तर द्वारा निश्चित हो चुका है। साध्याभाव को प्रमात्मक ही क्यों होना चाहिए इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि साध्याभाव ज्ञान के अप्रमात्मक होने पर साध्याभाव सन्देह एवं साध्याभाव भ्रम से अनुमिति का प्रतिबन्ध नहीं होता।[3] तत्वचिन्तामणि के व्याख्याकार रघुनाथ शिरोमणि का विचार है कि यद्यपि बाधित हेत्वाभास में साध्याभावज्ञान प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान ही होता है, अयथार्थ नहीं, फिर भी उस ज्ञान के प्रमात्व को अनुमिति के प्रतिबन्ध में कारण नही मानना चाहिए, क्योकि 'पक्ष में साध्य के अभाव का ज्ञान प्रमा है' इस ज्ञान में यथार्थता के ज्ञान का विषव पक्ष में साध्य का अभाव नहीं किन्तु उसका ज्ञान, तया ज्ञान के ज्ञान का सम्बन्ध अनुमितिगत साध्य से साक्षात् नही है, अतः वह ज्ञान अनुमिति का प्रतिबन्धक नही हो सकता है।[4]

बाधित हेत्वाभास के लक्षण को निर्दोष बनाने के लिए **अवच्छिन्न** शब्द का प्रयोग करने की आवश्यकता है, जिसके फलस्वरूप वह आवश्यक हो जाएगा कि सम्पूर्ण पक्ष में साध्य का अभाव निश्चित हो, अंशमात्र में नही। फलतः यह वृक्ष बन्दर के संयोग से युक्त है, विशिष्ट प्रकार का कम्पन होने से' इस अनुमान में, मूल में (मूलावच्छेदेन) अथवा तने में बन्दर के सयोग का अभाव ज्ञात होने पर भी अनुमान में बाधा न होगी तथा ऐसे स्थलों में बाधित लक्षण की अतिव्याप्ति न होगी।

---

१. तर्क भाषा पृ० ४६

२. (क) तत्व चिन्तामणि पृ० ११९५ (ख) तर्क संग्रह पृ० ११६

३. तत्वचिन्तामणि पृ० १२१२–१३ ४. अनुमान दीधिति पृ० १२०८

यहां यह स्मरणीय है कि सव्यभिचार आदि हेत्वाभासों में परामर्श के प्रतिबन्ध द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्ध होता है जबकि बाधित में साक्षात् अनुमिति का ही प्रतिबन्ध होता है ।

भासर्वज्ञ ने **बाधित** हेत्वाभास के **प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमान विरुद्ध, प्रत्यक्षैकदेश विरुद्ध, अनुमानैकदेशविरुद्ध** एवं **आगमैकदेशविरुद्ध** भेद से छः भेद किये हैं,[1] किन्तु इन भेदों में प्रतिबन्ध की प्रक्रिया में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है और नही ही उसमें कोई वैशिष्ट्य है, अत. नैयायिकों ने इसके विभाजन की आवश्यकता नही समझी । यदि किस प्रमाण द्वारा साध्य का अभाव निश्चित हो रहा है, इस आधार पर बाधित के भेद करना चाहे तो प्रत्येक दर्शन में प्रमाणों की मान्यता के आधार पर बाधित के भेद करने होंगे । यदि उन प्रमाणों के एक देश के विरोध के आधार पर भी भेद स्वीकार किये जाएं तो नैयायिको के मत में: **प्रत्यक्ष बाधित, प्रत्यक्षैकदेश बाधित, अनुमान बाधित, अनुमानैकदेश बाधित, उपमान बाधित, उपमानैकदेश बाधित, आगम बाधित, आगमैकदेश बाधित** भेद से आठ प्रकार के शुद्ध बाधित तथा दो या अधिक प्रमाणों द्वारा अथवा उनके एकदेश द्वारा साध्याभाव ज्ञात होने पर बाधित के बहत्तर भेद संकीर्ण हो सकते हैं ।[2] किन्तु नैयायिकों ने इस प्रकार के भेदोपभेद को आवश्यक नहीं माना है ।

---

१. न्यायसार पृ० ११

२. बाधित हेत्वाभास के संभावित संकीर्ण भेद इस प्रकार हैं:— (१) प्रत्यक्षानुमान बाधित (२) प्रत्यक्षोपमान बाधित, (३) प्रत्यक्षागम-बाधित; (४) प्रत्यक्षैकदेशानुमानबाधित, (५) प्रत्यक्षैकदेशोपमानबाधित, (६) प्रत्यक्षैकदेशागमबाधित; (७) प्रत्यक्षानुमानैकदेश बाधित । (८) प्रत्यक्षोपमानैकदेशबाधित, (९) प्रत्यक्षागमैकदेश बाधित (१०) प्रत्यक्षैकदेशानुमानैकदेशबाधित, (११) प्रत्यक्षैकदेशोपमानैकदेशबाधित, (१२) प्रत्यक्षैकदेशागमैकदेशबाधित; इस प्रकार प्रत्यक्षबाधित के बारह भेद होंगे तथा अनुमान के ग्यारह, उपमान के दस एवं आगम के नौ कुल मिलाकर संकीर्ण के बयालिस भेद हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त तीन-चार प्रमाणों के बीस संकर प्रकार भी संभव हैं। फलतः कुल बहत्तर भेद हो सकते हैं ।

संक्षेप में हेत्वाभास के भेद प्रभेद निम्नलिखित हैं :—

न्याय के अनुसार
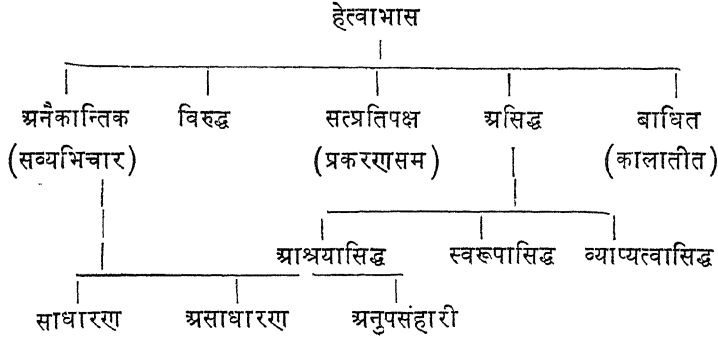
वैशेषिक के अनुसार
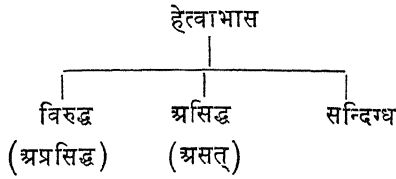
पांच हेत्वाभासों के विवेचन के समय एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि इनकी संख्या पांच ही क्यों रखी गयी है ? क्या इन पांच हेतु दोषों के अतिरिक्त अन्य कोई दोष ऐसे नहीं हैं, जो अनुमिति की प्रक्रिया में बाधक हों ? यदि है तो उनका परिगणन क्यों नही किया गया ? इस प्रश्न के समाधान के रूप में हम इतना ही कह सकते हैं कि अनुमिति प्रक्रिया में बाधक पक्षगत उदाहरणगत आदि अनेक दोष हो सकते हैं, बौद्ध आदि दार्शनिकों, कुछ नैयायिको तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने उन्हें स्वीकार भी किया, जिनकी चर्चा हेत्वाभासों के विवेचन के प्रारम्भ में की भी जा चुकी है, किन्तु नैयायिकों ने उन्हें हेत्वाभासों के समान महत्व प्रदान नहीं किया है। उसका कारण यह है कि अनुमान की प्रक्रिया में कोई दोष चाहे वह प्रतिज्ञा से सम्बन्धित हो या पक्ष से अथवा उदाहरण से वह किसी न किसी अंश में हेतु को दोष पूर्ण अवश्य करता है। जैसा कि हम देख चुके हैं बाधित में प्रतिज्ञा प्रमाण विरुद्ध होती है, आश्रयासिद्ध में पक्ष सदोष रहता है, जिसके

फलस्वरूप हेतु में भी दोष आ जाता है, क्योंकि हेतु ही प्रतिज्ञा और निगमन के बीच सम्बन्ध की स्थापना करने वाला है, हेतु के आधार पर ही पक्ष और उदाहरण में समानता की स्थापना कर निर्णय प्राप्त किया जाता है, तथा वही सम्पूर्ण न्याय प्रक्रिया (पञ्चावयववाक्य) का केन्द्र है; फलत. किसी प्रकार का भी दोष हेतु को प्रभावित किये बिना नही रह सकता, अतएव अधिकांश दोषों का समावेश हेत्वाभासों में हो सकता है ।

जैसा कि हम पहले देख चुके है : न्यायशास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार अनुमिति प्राप्त करने के लिए निर्दोष परामर्श आवश्यक है । निर्दोष परामर्श के लिए तीन बातें आवश्यक हैं : पक्षता पक्षधर्मता और व्याप्ति । साथ ही इन तीनो का भी निर्दोष होना आवश्यक है । अनुमान सम्बन्धी समस्त दोष इन तीनों में से किसी एक में अथवा अनेक मे अवश्यमेव समाहित होगे । जब दोष पक्षधर्मता (हेतुता) में विद्यमान होगा तब वह निस्सन्देह हेत्वाभास का विषय होगा । जब वह (दोष) पक्षता में रहेगा तो पक्ष निश्चित रूप से अवास्तविक होगा, जैसे: गगनारविन्द अथवा ऐसी वस्तु जिसमें हेतु नही रह सकता, ऐसी दोनों स्थितियां आश्रयासिद्ध और स्वरूपासिद्ध मे आ सकती हैं । हैं । व्याप्ति मे दोष होने पर अनैकान्तिक व्याप्यत्वासिद्ध आदि हेत्वाभास का क्षेत्र होगा । पाश्चात्य दर्शन में स्वीकृत Illicit process of minor term में भी व्याप्ति दोष ही रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ दोषों का समावेश गौतम स्वीकृत जाति अथवा निग्रह स्थान में हो जाता है, क्योंकि उनके अनुसार हेत्वाभास भी तो निग्रह स्थान का एक प्रकार ही है । इन सबके अतिरिक्त न्यायशास्त्र में अन्योन्याश्रय अनवस्था तथा चक्रक दोषों को भी स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया जाता है, जिनकी चर्चा हम तर्क विवेचन के समय कर चुके हैं । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि न्यायशास्त्र में स्वीकृत हेत्वाभास दोषों का समस्त विवेचन नहीं है, अपितु कुछ मुख्य दोषों का परिगणन मात्र है ।

पाश्चात्य तर्क शास्त्र में दोषों के सर्व प्रथम दो भेद किये गये हैं : बाह्य तर्क दोष (Material अथवा Non-logical fallacies) तथा अन्तरङ्ग तर्क दोष (Formal अथवा Logical fallacies) इनमें से वहां बाह्य दोष का विवेचन न करके केवल अन्तरङ्ग दोषों का ही विवेचन किया गया है । वहां अन्तरङ्ग दोषों को चार भागों में विभाजित किया गया है :—

1. Undistributed Middle Term
2 Illicit Processes of major term तथा Illicit Processes of minor term.
3. Negative premises for affirmative conclusion तथा affirmative premises for negative conclusion.
4. Four or more terms.

प्राचीन नैयायिकों द्वारा स्वीकृत अनुमिति दोष तथा उनकी समीक्षा:-

गौतम ने वाद के प्रसंग में, दूसरे शब्दों में अनुमान के प्रसंग मे दोष के रूप में निम्नलिखित बाइस निग्रह स्थानों तथा चौबीस जातियो का विवेचन किया है। निग्रहस्थान —प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थक, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त तथा हेत्वाभास ।[1]

जातिः—साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम, साध्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम, प्रसङ्गसम, प्रतिदृष्टान्तसम, अनुत्पत्तिसम, संशयसम, प्रकरणसम, अहेतुसम, अर्थापत्तिसम, अविशेषसम, उपपत्तिसम, उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम, अनित्यसम, नित्यसम तथा कार्यसम ।[2]

दोषों के इन वर्गो में निग्रहस्थान का तात्पर्य है पराजय की स्थिति में पहुंचना। अर्थात् इन दोषों के आ जाने पर वादी अथवा प्रतिवादी को पराजित घोषित किया जा सकता है। पूर्व पंक्तियों में गिनाये हुए इन निग्रहस्थानों में से अर्थान्तर, पुनरुक्त और निरर्थक ऐसे दोष हैं, जो वादी या प्रतिवादी के कथन से ही साक्षात् सम्बन्धित हैं · जबकि वह प्रासंगिक अर्थ से बाहर जाता है या बार बार एक बात को ही दुहराता है अथवा निरर्थक कथन करता है, एवं उसे वहीं पकड़ लिया जाता है। अविज्ञातार्थ, अननुभाषण, अप्रतिभा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुपयोग तथा मतानुज्ञा ऐसे दोष हैं, जिनका न्याय वाक्य से (अनुमिति साधक वाक्य से) कोई सम्बन्ध नहीं होता।

---

१. न्यायसूत्र ५. २. १.   २. वही ५. १. १.

इनका सम्बन्ध केवल वार्त्तालाप से ही है क्योंकि इनमें कभी तो वादी की बात दूसरे नही समझते, कभी वह निरुत्तर होकर चुप हो जाता है, कभी प्रतिभा हीन हो जाता है, कभी प्रतिवादी के निग्रह के अवसर को चूक जाता है, कभी अनवसर उसके निग्रह की घोषणा चाहता है और कभी अपने पक्ष में दोष को स्वीकार करके भी प्रतिवादी के पक्ष में समान दोष की कल्पना करता है।

निग्रह स्थानों में प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अपसिद्धान्त तथा हेत्वाभास ऐसे है, जिनका सम्बन्ध न्यायवाक्य अथवा अनुमिति की प्रक्रिया से होता है, अतः इन्हे न्याय दोष कहा जा सकता है। इनमें प्रतिज्ञाहानि आदि प्रथम चार तथा अपसिद्धान्त में तो वादी ही स्वयं ऐसा कथन करता है कि उसका निर्णय साध्य का विरोधी सिद्ध होता है। हेत्वन्तर मे हेतुवाक्य में एक हेतु देकर व्याप्ति प्रदर्शन में अन्य हेतु दिया जाता है। इन सभी में हेतु सदोष रहता है, तथा हेत्वाभासों में हेतु का सदोष रहना तो आवश्यक है ही।

जातियों में तो व्याप्तिदोष प्रधान रूप से रहता है, क्योंकि व्याप्ति की अपेक्षा के बिना ही केवल थोड़े से समान धर्म आदि को देखकर वादी द्वारा प्रतिवादी को तथा प्रतिवादी द्वारा वादी को उत्तर दिया जाना ही जाति का लक्षण है।[1] इस प्रकार जाति एवं निग्रहस्थान व्याप्ति दोष होने के कारण हेत्वाभास मे समाहित किये जा सकते हैं। केवल अर्थान्तर आदि कुछ ऐसे अवश्य है, जिनका समावेश हेत्वाभास में सम्भव नही है किन्तु उनका सीधा सम्बन्ध अनुमिति से भी नहीं है।

जाति और निग्रह स्थानों के अतिरिक्त गौतम ने छल नामक एक अन्य दोष का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार वादी अथवा प्रतिवादी के वाक्यों में सम्भावित अन्य अर्थ करके उसके ही कथन का खण्डन करना छल कहा जाता है। यह छल तीन प्रकार का है: वाक्छल, सामान्यछल और उपचार-

---

१. न्यायखद्योत पृ० २००-२०१

छल ।[1] वाक्छल से गौतम का तात्पर्य है : वक्ता द्वारा ऐसे शब्दों का प्रयोग करने पर, जिनके कि दो अर्थ हो सकते हैं, वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थान्तर की कल्पना करना ।[2] जैसे नवीन विवाहित देवदत्त के लिए किसी ने कहा कि 'देवदत्त नववधू वाला है' यहां नव शब्द का नवीन अर्थ वक्ता को अभिप्रेत है, किन्तु नव शब्द का नौ सख्या अर्थ मानकर प्रतिवाद करना कि 'देवदत्त तो एक वधू वाला ही है, अत. नववधू वाला है यह कथन असत्य है' इत्यादि वाक्छल कहा जाता है । सामान्य रूप से सभावित अर्थ के अभिप्राय से प्रयुक्त वाक्य में सामान्य साहचर्य को नियत साहचर्य मानते हुए उसमें दोष का कथन करना सामान्यछल कहा जाता है ।[3] जैसे किसी ब्राह्मण के सम्बन्ध में 'यह विद्या बुद्धि शील आदि गुणों से सम्पन्न ब्राह्मण है' कहने पर ब्राह्मण विद्या बुद्धि और शील आदि से सम्पन्न हो यह आवश्यक नहीं, अनेक ब्रात्य ब्राह्मण होकर भी विद्या आदि से रहित होते हैं, इत्यादि कहते हुए वक्ता के कथन मे दोष की कल्पना सामान्यछल है । शब्द की शक्ति विशेष का आश्रय लेकर प्रयुक्त वाक्य में अन्य शक्ति को आधार बनाकर वक्ता के कथन का खंडन करना उपचारछल है ।[4] जैसे: किसी पद विशेष पर आकस्मिक रूप से पहुंचकर असम्भावित वचन बोलने वाले व्यक्ति के लिए 'यह कुर्सी की आवाज है' कहने पर कुर्सी तो जड़ पदार्थ है, वह कहीं बोल सकती है ? कहते हुए (अर्थात् लक्षणाशक्ति द्वारा प्रयुक्त शब्द का अर्थ अभिधा शक्ति से लेकर) वक्ता के अभिप्राय का खण्डन करना उपचार छल है ।

कुछ दार्शनिकों द्वारा वर्णित **पक्षाभास व्याप्त्याभास** तथा **दृष्टान्ताभास** हेत्वाभास के ही अंग है । जैसे दिङ्नाग द्वारा स्वीकृत **प्रत्यक्षविरुद्ध, आगम-विरुद्ध, लोक विरुद्ध** स्पष्ट रूप से **बाधित** हेत्वाभास हैं, क्योकि इनके साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से निश्चित रहता है । **स्ववचनविरुद्ध** या तो न्याय (अनुमिति) के क्षेत्र से बाहर होगा अन्यथा विरुद्ध में समाहित हो जाएगा । **अप्रसिद्धविशेष्य, अप्रसिद्ध विशेषण** तथा **अप्रसिद्धोभय** हेतु भी चूकि प्रति-वादी द्वारा अस्वीकृत उदाहरण पर आश्रित होते हैं, जबकि उदाहरण को उभय स्वीकृत होना चाहिए अतः उदाहरण के अभाव में सपक्ष और विपक्ष

---

१. न्यायसूत्र १.२. १०-११ २. वही १.२. १२.
३. वही १.२.१३ ४. वही १.२.१४

से पृथक् पक्षमात्र में हेतु के विद्यमान होने से ये हेतु **अनैकान्तिक** हेत्वाभास में समाहित हो सकते हैं। इसी प्रकार **व्याप्त्याभास** में व्याप्ति या तो व्यभिचरित होगी अथवा असिद्ध होगी। प्रथम स्थितिमें उसका अन्तर्भाव **अनैकान्तिक** में तथा द्वितीय स्थिति में **व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास** में हो जाएगा। **दृष्टान्ताभास** में चूं कि ऐसा दृष्टान्त होता है, जहां साध्य और हेतु के सहभाव (व्याप्ति) का अभाव निश्चित होता है, अथवा साध्य हेतु का सहभाव सन्दिग्ध रहता है, इसीलिए साध्य की सत्ता निश्चित न होने से उन्हें दृष्टान्ताभास कहा जाता है। इस प्रकार के सभी स्थलो में व्याप्ति व्यभिचरित होगी ही; अत. ऐसे दोषों का अन्तर्भाव **अनैकान्तिक** अथवा **असिद्ध** में किया जा सकता है।

साधनाप्रसिद्धि तथा **साध्याप्रसिद्धि** आदि दोष असिद्ध के अन्दर समाहित किये जा सकते हैं। **अन्योन्याश्रय अनवस्था** तथा **चक्रक** केवल दो अथवा अधिक दोषो का एकत्र सहभाव है, ये स्वतन्त्र दोष नही है। अतएव नैयायिकों द्वारा पांच हेत्वाभासो की स्वीकृति अनुचित नहीं कही जा सकती।

उपमान

नैयायिको द्वारा स्वीकृत प्रमाणों में तृतीय प्रमाण उपमान है, इसे भासर्वज्ञ (नवम शताब्दी) को छोड़कर गौतम से लेकर उत्तर कालीन नैयायिकों अन्नभट्ट केशव मिश्र तथा उनके सभी टीकाकारों ने स्वीकार किया है। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद तथा उनके व्याख्याकारों ने यद्यपि इसकी चर्चा नहीं की है, अथवा इसका अनुमान में अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है, किन्तु नव्य न्याय का उदय होने पर जब न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों का समन्वय कर दिया गया, तब से उस परम्परा में भी यह प्रमाण स्वीकृत हो गया है, ऐसा कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त चार्वाक बौद्ध एवं सांख्य को छोड़कर शेष सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में इसे स्वीकृति दी गयी है।

गौतम ने प्रसिद्ध साधर्म्य के आधार पर साध्य के साधन को उपमान कहा था।[१] इसे ही अधिक स्पष्ट करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि 'ज्ञात वस्तु के साम्य के आधार पर ज्ञापनीय वस्तु का ज्ञान कराना उपमान है। उपमान का

---

१. न्याय सूत्र पृ० १. १. ६.

प्रयोजन संज्ञा और संज्ञी के अर्थ सम्बन्ध की प्रतीति है। जैसे : गौ के समान ही नील गाय होती है, यह जानते हुए किसी पिण्ड में प्रत्यक्ष द्वारा गौ में विद्यमान धर्मों को देख कर इसे ही नील गाय कहते हैं। इस प्रकार इससे नाम और नाम वाले पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। इसे ही उपमिति कहते हैं।[1] यह उपमिति केवल साधर्म्य के आधार पर ही नहीं, किन्तु वैधर्म्य के आधार पर भी होती है।[2] जैसे जल आदि से विरुद्ध धर्म वाली पृथिवी है, यह ज्ञान रहने पर गन्ध रहित पाषाण को देखकर उसे जल तेज आदि द्रव्यों के धर्मों से रहित द्रव्य देखकर यह पृथिवी है, यह ज्ञान होता है। साधर्म्य और वैधर्म्य के अतिरिक्त असाधारण धर्म के द्वारा भी उपमिति हो सकती है, जैसे: 'पांच अंगुलियों से युक्त चार पैर और लम्बी नासिका से युक्त मुख वाला काले लम्बे बालों से युक्त शरीर वाला मांसाहारी वन्य पशु भालू कहा जाता है' इस ज्ञान के अनन्तर कभी वन में उपर्युक्त सभी गुणों से युक्त पशु को देखकर 'इसे भालू कहते हैं' यह ज्ञान होता है। इसी कारण परवर्ती नैयायिकों ने लक्षण वाक्य में साधर्म्य और वैधर्म्य को स्थान न देकर नाम और नाम वाले के सम्बन्धज्ञान को ही उपमिति का लक्षण माना है।[3] तर्ककिरणावलीकार ने उपमिति के तीन भेद माने हैं: **सादृश्यविशिष्ट पिण्डदर्शन, असाधारणधर्मविशिष्ट पिण्डदर्शन** तथा **वैधर्म्यविशिष्ट पिण्डदर्शन**।[4]

इस उपमिति ज्ञान की उत्पत्ति में गवयपिण्ड में गोसादृश्य आदि का ज्ञान करण हुआ करता है। विश्वनाथ सादृश्यज्ञान के स्थान पर सादृश्य के दर्शन को ही उपमिति का करण मानते हैं।[5] उनके अनुसार 'गौ के सदृश नीलगाय होती है' इस वाक्य का स्मरण उसका व्यापार है। जैसे: 'यह नीलगाय है, इस उपमिति ज्ञान के प्रति वन में किसी पिण्ड विशेष में गौ में विद्यमान रहने वाले धर्मों का दर्शन अथवा दर्शन से उत्पन्न ज्ञान करण होता है, एवं 'गौ के सदृश नीलगाय होती है' इस पहले सुने हुए सादृश्यवाक्य (अतिदेश वाक्य) का स्मरण उसका व्यापार है, जिसके फलस्वरूप नीलगाय पशु को नीलगाय

१. न्याय भाष्य पृ० १५ २. भाषारत्न पृ० १८७
३. (क) तर्क भाषा पृ० ४७ (ख) तर्क संग्रह पृ० ११६
(ग) तर्क किरणावली पृ० १२०
४. तर्क किरणावली पृ० १२१ ५. न्याय मुक्तावली पृ० ३५१

कहते है, यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यहां यह स्मरणीय है कि उपमिति में 'सामने दिखाई पडने वाले इस पिण्ड को नीलगाय कहते हैं, यह ज्ञान नहीं हुआ करता, अपितु नीलगाय का वाचक नीलगाय पद है, यह ज्ञान होता है, अन्यथा कालान्तर मे अन्य नीलगाय को देखकर 'यह नीलगाय है' यह प्रतीति प्रत्यक्ष द्वारा न मानकर सर्वत्र उपमान द्वारा ही माननी होगी, किन्तु सर्वत्र नीलगाय के दर्शन होने पर अतिदेश वाक्य का स्मरण और सादृश्यज्ञान आदि नहीं हुआ करता। अतएव 'नीलगाय का वाचक नीलगाय पद है' इस ज्ञान को उपमिति माना जाता है, 'यह नीलगाय है' इस ज्ञान को नहीं।[1]

मीमासक और वेदान्ती उपमिति के पूर्वोक्त लक्षण के स्थान पर 'सादृश्य ज्ञान के कारण को उपमान' मानते हुए 'गौ नीलगाय के सदृश होती है' इस ज्ञान को उपमिति मानते हैं। उनकी प्रक्रिया में भी नीलगाय में विद्यमान गौ के समान धर्मों का ज्ञान ही करण होता है, अन्तर केवल फल मे है।[2]

पाश्चात्य तर्कशास्त्र मे उपमान के समानान्तर Analogy (सादृश्य) को स्वीकार किया गया है, किन्तु उपमान उससे सर्वथा भिन्न है। सादृश्य (Analogy) मे समानता के आधार पर किसी विषय में उसके अज्ञात गुणों की जानकारी दी जाती है, जबकि उपमान में सज्ञा और सज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है। सादृश्य का सर्वाधिक प्रयोग गणित में मुख्यत· रेखागणित मे होता है। जैसे 'क और ख परस्पर समान हैं एव ख और ग परस्पर समान हैं' यह ज्ञान प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से होने पर क और ग भी परस्पर समान है यह ज्ञान सादृश्य (Analogy) के द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उपमान प्रमाण पाश्चात्य तर्कशास्त्र के सादृश्य (Analogy) से सर्वथा भिन्न है। सादृश्य का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत हो सकता है, इसकी चर्चा अनुमान प्रकरण में की जा चुकी है।

वैशेषिक सम्प्रदाय में इस प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत किया

---

१. वही पृ० ३५१–३५३ २. (क) वेदान्त परिभाषा पृ० १६३
(ख) शास्त्र दीपिका पृ० ७६

जाता रहा है ।[१] आचार्य प्रशस्तपाद ने यद्यपि उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में शब्दत. किया है किन्तु चूकि वे शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव भी अनुमान में ही करते हैं, अतः उनके मत में भी उपमान का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में ही मानना चाहिए ।[२] कणाद रहस्यकार ने तो इस अन्तर्भाव प्रक्रिया को शब्दतः स्वीकार किया है ।[3] सांख्य में भी उपमान प्रमाण को स्वीकार नहीं किया जाता, उस मत में वाचस्पति मिश्र ने इसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में ही स्वीकार किया है । उनका कहना है कि चूकि नीलगाय का चक्षु से सन्निकर्ष होता है, तथा सन्निकर्ष द्वारा ही 'वह गौ के सदृश है' यह ज्ञान भी होता है, अतः सन्निकर्षण जन्य होने से वह प्रत्यक्ष ज्ञान ही है, और इसी कारण स्मरण की जाती हुई गौ मे भी नीलगाय के सादृश्य का स्मरण भी प्रत्यक्ष ही है ।[४] वैशेषिकों के अनुसार इसका अनुमान मे अन्तर्भाव करने के लिए निम्नलिखित प्रकार से अनुमान द्वारा सज्ञासंज्ञि सम्बन्ध की स्थापना की जाती है : नीलगाय शब्द नीलगाय का वाचक है . लक्षणा आदि अन्य व्यापार न होते हुए भी नीलगाय के लिए इस शब्द का प्रयोग होने से । अन्यव्यापारो के अभाव में जो शब्द विद्वानो द्वारा जिस अर्थ मे प्रयुक्त होता है, वह उसका वाचक ही होता है, जैसे गौ शब्द गौ पिण्ड का वाचक है; अतः अनुमान से ही नीलगाय शब्द नीलगाय अर्थ से सम्बद्ध होता है ।[५]

किन्तु नैयायिक उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण ही मानते है । उनका कहना है कि उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में नही किया जा सकता, क्योंकि इस वस्तु (नीलगाय) का नाम नीलगाय है' यह ज्ञान केवल विषय एवं इन्द्रियों के सन्निकर्ष के द्वारा ही नहीं होता । प्रत्यक्ष तो केवल इतना ही ज्ञान कराता है कि 'यह वस्तु (नीलगाय) गौ के धर्मो के सदृश धर्मो से युक्त है । 'यह नील गाय है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष पर उतना आधारित नहीं है, जितना कि आप्त पुरुष द्वारा प्राप्त 'नील गाय गौ के सदृश होता है' इस ज्ञान के स्मरण पर आधारित है । इस प्रकार आप्त वाक्य से प्राप्त ज्ञान के स्मरण तथा सादृश्य के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष का विषय नही माना जा सकता ।

---

१. उपस्कार भाष्य पृ० २२५ २. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १०६-१०
३. कणाद रहस्यम् पृ० १०६ ४. साख्यतत्वकौमुदी पृ० २७-२८
५. उपस्कार भाष्य पृ० २२६

इसे अनुमान भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनुमान पूर्णतः व्याप्ति ज्ञान पर आधारित हुआ करता है, किन्तु इसमे (उपमान मे) लिङ्ग और लिङ्गी का व्याप्ति सम्बन्ध अथवा उसका ज्ञान नही हुआ करता ।[1] क्योकि साध्य और हेतु का अर्थात् ज्ञातव्य और ज्ञात के सादृश्य का पूर्वदर्शन प्रमाता को कभी नही हुआ है । जैसे नीलगाय ज्ञातव्य या साध्य है, गौ की समानता ज्ञात का सादृश्य या हेतु है । जहां जहा गौसादृश्य है, वह वह नीलगाय है, इस प्रकार के नियत साहचर्य (व्याप्ति) का दर्शन यदि कही भी सपक्ष दृष्टान्त में प्रमाता को हो, तो वह प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले पशु मे सादृश्य रूप हेतु को देखकर यह नीलगाय है, यह अनुमान कर सकता है, किन्तु उसे कही व्याप्ति का दर्शन नही हुआ है, अतः इसे अनुमान नही कह सकते ।

उपमान का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण मे भी नही किया जा सकता, क्योकि शब्द प्रमाण द्वारा विषय सम्बन्धी जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह स्वय मे पूर्ण होता है, उसके लिए विषय के प्रत्यक्ष की आवश्यकता नही होती । यदि विषय का पहले ही प्रत्यक्ष हो जाये तो शब्द ज्ञान की आवश्यकता नही रह जाती । उपमान मे भी 'नीलगाय गौ के समान होती है' यह अश आप्त वचन होने से शब्द प्रमाण के क्षेत्र मे आता है, किन्तु उपमिति ज्ञान के लिए इतना ही पर्याप्त नही है, इसके लिए तो नीलगाय पिण्ड का प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक है, गौ के धर्मो का तथा उपर्युक्त आप्तवचन का स्मरण भी आवश्यक है. साथ ही गौ और नीलगाय के धर्मो में समानता का ज्ञान भी अनिवार्यतः आवश्यक है । अतः इसे शब्द प्रमाण के अन्तर्गत भी नहीं कहा जा सकता ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाणो से भिन्न एक स्वतन्त्र प्रमाण है ।

शब्द प्रमाण

शब्द से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को शाब्द ज्ञान कहते हैं । शब्द का तात्पर्य आप्तवाक्य से है । इसका ही दूसरा नाम आगम भी है । चार्वाक बौद्ध और वैशेषिकों को छोड़कर समस्त दार्शनिक सम्प्रदायो में इस प्रमाण को

१. रत्नलक्ष्मी पृ० १८८

स्वीकार किया जाता है । गौतम ने शब्द की परिभाषा करते हुए आप्त के उपदेश को शब्द कहा था ।[1] परवर्ती नैयायिकों ने कुछ परिवर्त्तन के साथ 'आप्त वाक्य' को शब्द माना है ।[2] वात्स्यायन के अनुसार 'आप्त' का तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसने धर्म का अर्थात् वर्णनीय का साक्षात्कार किया है, वह चाहे ऋषि हो या आर्य अथवा म्लेच्छ' ।[3] डा. गंगानाथ झा के अनुसार 'आप्त वही हो सकता है जो लोभ आदि दोषों से शून्य हो । उनका कहना है कि आप्त दो प्रकार के हैं : सर्वज्ञ और असर्वज्ञ । चूंकि सर्वज्ञों में अप्रामाण्य के कारण रागद्वेष आदि नही होते अत: उनकी सर्वज्ञता के ज्ञान से ही उनके वचनों की प्रमाणिकता हो जाती है, तथा असर्वज्ञ के प्रामाण्य के लिए तीन बातें आवश्यक है : वर्णनीय का यथार्थ ज्ञान, यथार्थ ज्ञान को प्रकट करने की इच्छा तथा वाग् इन्द्रिय का ठीक होना ।[4] कोई व्यक्ति इन गुणों से युक्त है या नही इसका निश्चय व्यक्ति के सम्पर्क में आने से होता है ।

नैयायिकों की परिभाषा के अनुसार वाक्य का अर्थ शक्ति सम्पन्न पद समूह है ।[5] साहित्यिकों के अनुसार वाक्य का अर्थ वह पद समूह होता है जहा पद परस्पर साकाक्ष हो, किन्तु उसमें भिन्न पदों या पदार्थो की आकाक्षा न हो, साथ ही उसमे क्रिया की प्रधानता हो एव शेष पद गौण होकर अपने अर्थ का बोध करा रहे हों ।[6] किन्तु नैयायिकों का विषय मुख्य रूप से शब्द और अर्थ पर विचार करना नही है, अतः उन्होंने इस सूक्ष्मता से वाक्य की परिभाषा नहीं की है । नैयायिकों के 'शक्ति सम्पन्न' पद में शक्ति का अर्थ 'ईश्वर की इच्छा' है । उनकी मान्यता है कि 'अमुक पद से अमुक अर्थ का बोध हो ईश्वर की इस इच्छा के कारण ही लोक व्यवहार में किसी शब्द विशेष का कोई अर्थ विशेष हुआ करता है । लौकिक मनुष्यों द्वारा रखे गये नाम भी 'दसवे दिन पिता नामकरण करे' ('दशमेऽहनि पिता नामकरण कुर्यात्') इस श्रुति वाक्य के कारण (पिता द्वारा रखा गया पुत्र का नाम भी) ईश्वर की इच्छा ही है । नव्य नैयायिक ईश्वर की इच्छा के स्थान पर

---

१. न्याय सूत्र १.१.७.
२. (क) तर्कभाषा पृ० ४७.
 (ख) तर्कसंग्रह पृ० १२२
३. न्याय भाष्य पृ० १६
४. न्यायखद्योत पृ० ८५
५ तर्क संग्रह पृ० १२२
६. व्यक्ति विवेक पृ० ३८

केवल इच्छा को ही शक्ति का कारण मानते हैं, अतः आधुनिक लौकिक संकेतों में भी शक्ति रहती ही है ।[१] उनके अनुसार आधुनिक संकेतित अपभ्रंश शब्दों से अर्थ का बोध शक्ति के भ्रम के कारण होता है ।[२] मीमांसक ईश्वरेच्छा, अथवा मनुष्येच्छा को शक्ति न मानकर शक्ति नामक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, जो शब्दों में नित्य रूप से विद्यमान रहता है ।

इस प्रकार सभी मतों में शब्दों मे शक्ति स्वीकार की जाती है, तथा उस शक्ति से सम्पन्न पद समूह (वाक्य) के ज्ञान से शाब्द ज्ञान उत्पन्न होता है । इस शाब्दज्ञान में पद का ज्ञान करण है, ज्ञायमान पद नही । पद को करण मानने पर मौनी व्यक्ति की चेष्टा आदि से जो प्रतीति होती है उसके लिए पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता होगी । शाब्द ज्ञान के प्रसङ्ग मे वृत्तियो के ज्ञान के साथ पद के ज्ञान से उत्पन्न होने वाली पदार्थो की उपस्थिति पदज्ञान का व्यापार हुआ करता है ।

सामान्य रूप से शब्द के दो प्रकार है : ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक । ध्वन्यात्मक शब्दों का नैयायिकों के अनुसार कोई अर्थ नही होता, इन शब्दो के द्वारा केवल ध्वनि का ही ज्ञान होता है : किन्तु आधुनिक भाषा विज्ञान ध्वनियो को भी अर्थ की अभिव्यक्ति का साधन मानता है । सगीत शास्त्र भी ध्वनियों को सार्थक मानता है । वर्णात्मक शब्द के दो भेद हैं : सार्थक और निरर्थक । सार्थक शब्द शक्तिविशेष से सम्पन्न होते हैं, और वे ही वाक्यों में व्यवहार किए जाते हैं । शक्तिरहित शब्द निरर्थक कहे जाते हैं । शक्ति विशिष्ट सार्थक शब्दों को ही पद कहते है ।

नैयायिकों के अनुसार शक्ति विशिष्ट पद चार प्रकार के हैं : **यौगिक रूढि** योगरूढि और यौगिकरूढि ।[3] जहां पदों के अवयवों के अर्थ के ज्ञान के द्वारा ही पदार्थ की प्रतीति होती है वह **यौगिक** पद कहा जाता है । जैसे पाचक आदि पद । इस पद में पच् धातु तथा कर्त्ता अर्थ में प्रयुक्त अक (ण्वुल्) प्रत्यय के अर्थ की प्रतीति के बाद 'पकानेवाला इस अर्थ की प्रतीति होती है । जहां पद के अवयवों के अर्थ की अपेक्षा के बिना ही समुदायशक्ति से ही पदार्थ की प्रतीति होती है **उसे रूढि** पद कहते है । जैसे मण्डल पद,

१. न्यायमुक्तावली पृ० ३५९ २. दिनकरी पृ० ३५९
३. न्याय मुक्तावली पृ० ३८१ ।

यहां अवयवार्थ की प्रतीति न होकर समुदाय शक्ति से समुदाय रूप अर्थ की प्रतीति होती है। जिन पदों में अवयव शक्ति से प्राप्त अर्थ मे ही समुदाय-शक्ति भी है, उन पदों को **योगरूढि** कहते है जैसे : पंकज आदि। यहा कीचड़ वाचक पक शब्द के पूर्व रहने पर उत्पत्ति क्रिया के बोधक जन् धातु से कर्त्ता अर्थ मे ही 'ड' प्रत्यय किया गया गया है।[1] सप्तम्यन्त 'पंक' शब्द 'जन' धातु और 'ड' प्रत्यय इन तीनो अवयवो के अर्थ को मिलाकर कीचड़ में उत्पन्न होनेवाला कमल इस अर्थ की प्रतीति होती है। पंकज शब्द की समुदाय शक्ति से भी उसी कमल अर्थ की प्रतीति होती है, अतः इसे **योगरूढि** पद कहते है। ऐसे प्रसङ्गों मे समुदाय शक्ति से उपस्थित 'कमल' मे अवयव के अर्थ का अन्वय सान्निध्य के कारण हो जाता है।[2] जहां यौगिक और रूढि अर्थों का स्वतन्त्र रूप से एक पद से ही ज्ञान होता है, उन्हे यौगिकरूढि पद कहते है, जैसे : उद्‌भिद आदि। यहा भूमिका उद्भेद करनेवाले वृक्ष आदि अर्थ की प्रतीति होती है।

नैयायिकों के अनुसार वृत्ति दो प्रकार की है **शक्ति और लक्षणा**।[3] शक्ति को ही शास्त्रान्तर मे **अभिधा** नाम दिया जाता है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है शक्ति का अर्थ स्मरण के अनुकूल पद का पदार्थ से सम्बन्ध है। इस प्रसंग मे दार्शनिको मे अत्यधिक मतभेद है कि पद का जिस पदार्थ से सम्बन्ध है, वह पदार्थ व्यक्ति रूप है, अथवा जातिरूप या जाति आदि रूप ? व्यक्ति में सकेत मानने पर चूकि व्यक्ति अनन्त है एव अनन्त व्यक्तियो में सकेत का ग्रहण सम्भव नही है, अतः इस पक्ष में किसी पद से नवीन व्यक्ति का बोध सम्भव नही हो पाता; तथा जाति मे शक्ति मानने पर एक पद का उच्चारण करने पर जातिमात्र का बोध होना चाहिए। एवं प्रवृत्ति निवृत्ति आदि क्रियाएं जाति मे होनी चाहिए अर्थात् गौ को लाओ आदि आदेश को सुनकर गौ जाति का लाना आदि होना चाहिए, जो कि सम्भव नही है, इस प्रकार दोनो ही पक्षों मे दोषों की सम्भावना है।

बौद्ध (वैनाशिक) चूंकि नित्य जाति नामक पदार्थ स्वीकार नही करते, तथा व्यक्ति के अनन्त होने के कारण दोष की सभावना देखते है, साथ ही

---

१. (क) पाणिनीय अष्टाध्यायी ३. २. ५७ (ख) काशिका पृ० १८५।
२. न्याय मुक्तावली पृ० ३८३. ३. भाषारत्न पृ० १९०

व्यक्ति भी उनके अनुसार क्षणिक हैं, अतः वे **अपोह** नामक पदार्थ मानकर उसमें शक्ति मानते है। अपोह का तात्पर्य है गौ आदि से भिन्न पदार्थों से भिन्न, अर्थात् गौ आदि से भिन्न अश्व आदि हैं, उन अश्व आदि से भिन्न, गौ आदि को अपोह कहा जायेगा।

मीमासको का विचार है कि यह शक्ति व्यक्ति में सम्भव नही है, क्योंकि गुण क्रिया आदि पदार्थ एक दूसरे से भिन्न हैं, एक गुण शुक्लता भी दूध, शंख, हंस के पख, रजत आदि पदार्थों में भिन्न भिन्न है, फिर भी इन सब को किसी एक धर्म विशेष के कारण शुक्ल कहा जाता है। प्रत्येक मानव पशु पक्षी और कीड़े आदि की गति सर्वथा भिन्न है, उन मानव आदि में भी प्रत्येक की गति किसी अन्य के समान नही है, अतः उनमें परस्पर भेद है, किन्तु फिर भी 'जाना' **क्रिया** का व्यवहार किसी धर्म विशेष के कारण सर्वत्र किया जाता है, वह धर्म विशेष जाति ही है; अतः जाति में ही शक्ति माननी चाहिए। किन्तु जाति व्यक्ति के बिना रह नही सकती, वाक्यार्थ बोध के लिए अतः व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है।

शब्द शास्त्र मे केवल जाति में शक्ति न मानकर **जाति गुण क्रिया** और **यदृच्छा** में शक्ति मानी गयी है।[1] साहित्य शास्त्र में इसी प्रकार **जाति** आदि चारो में शक्ति मानी गयी है। किन्तु वे 'चार पदार्थों में शक्ति है' ऐसा न कहकर **उपाधि** में शक्ति मानते हैं। उनका तर्क है कि व्यक्ति अनन्त है अतः प्रत्येक व्यक्ति मे संकेत ग्रहण संभव नही है, कुछ व्यक्तियों में सकेत मानने पर अन्य व्यक्तियों का पद से ज्ञान सभव न होगा, तथा जाति का ले जाना असभव मानकर कार्य मे प्रवृत्ति न होगी, होने पर भी गौ जाति का ले जाना या लाना सभव न होगा, अतः वे **जाति** और **व्यक्ति** दोनों के स्थान पर उपाधि मे सकेत मानना ही उचित समझते है।[2]

नैयायिको का विचार है कि केवल व्यक्ति में अथवा केवल जाति में संकेत ग्रहण करना संभव नही है क्योकि दोनों ही पक्षों मे दोष विद्यमान है। जाति मे शक्ति मानकर आक्षेप से व्यक्ति की प्रतीति मानना भी संभव नहीं है, क्योकि व्यक्ति प्रतीति से अव्यवहितपूर्व वृत्ति की सत्ता न रहने के कारण व्यक्ति की प्रतीति को शाब्द ज्ञान का विषय न कहा

---

१. महाभाष्य १. १. २. २. २. काव्य प्रकाश पृ० २६

जा सकेगा, अतः जाति विशिष्ट व्यक्ति में ही संकेत (शक्ति) मानना उचित है।[1]

प्रभाकर और उनके अनुयायी शक्ति दो प्रकार को मानते हैं : **स्मारिका** (स्मरण करानेवाली), **अनुभाविका** (अनुभव करानेवाली)। स्मारिका शक्ति **जाति** में रहती है, तथा अनुभाविका कार्यत्व से युक्त मे।[2] स्वामी के वाक्य को सुनकर जब सेवक कार्य में प्रवृत्त होता है, वहा बालक उस प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाले कार्यत्व युक्त ज्ञान का अनुमान करता है, तथा कार्यत्व विशिष्ट ज्ञान के कारण ही सेवक आदेश पाकर कार्य मे प्रवृत्त हो रहा है, ऐसा वह निश्चय करता है, तथा वह कार्यत्व शब्द मे ही विद्यमान रहता है।

नैयायिकों के अनुसार शक्ति का ग्रहण यद्यपि व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवचन व्यवहार वाक्यशेष विवरण तथा प्रसिद्ध पदो के सान्निध्य से होता है,[3] तथापि उनका विचार है कि सर्वप्रथम शक्ति का ग्रहण व्यवहार से ही होता है। उदाहरणार्थ सर्व प्रथम जब बालक देखता है कि एक व्यक्ति (स्वामी) ने अपने सेवक से कहा कि 'घड़ा ले आओ' वह सेवक घड़ा ले आता है। बालक यह सब देखकर घड़ा लाने की क्रिया से सेवक के प्रयत्न का अनुमान करता है, तथा उस प्रयत्न से घडा लाने के सम्बन्ध में उसके ज्ञान का अनुमान करता है। तदन्तर इस ज्ञान का क्या हेतु है ? यह जानने की इच्छा होने पर उपस्थित शब्द को ही उस अनुमान द्वारा ज्ञान का हेतु मानता है। इस के बाद अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर घडा, वस्त्र आदि प्रत्येक पद का अर्थ निश्चित करता है।[4]

व्यवहार के अतिरिक्त शक्ति के ग्रहण के अनेक साधनो मे कोश आप्त पुरुषों के वचन एवं विवरण प्रमुख है। सस्कृत भाषा का व्याकरण भी शक्तिग्रहण का एक प्रमुखतम साधन कहा जा सकता है। सामान्यरूप से व्याकरण द्वारा वाक्य रचना तथा उसके प्रसंग में होने वाले शब्दो के परिवर्त्तनों पर ही विचार किया जाता है, किन्तु संस्कृत व्याकरण वाक्यव्यवहार में आने वाले

---

१. प्रदीप पृ० ३६   २. भाषारत्न पृ० २१३

३. न्याय मुक्तावली पृ० ३५६   ४. भाषारत्न पृ० २०६

पदों में धातु और प्रत्ययों की कल्पना करके प्रत्येक पदों को धातुज स्वीकार करता है, व्याकरण की इस सफल मान्यता के फलस्वरूप मध्यकाल में संस्कृत भाषा व्याकरण द्वारा ही सीखी जाती रही है। परिचित पदों के सान्निध्य से भी कभी-कभी शक्ति का ग्रहण होता है। इसके अतिरिक्त उपमान प्रमाण के द्वारा भी अनेक बार शक्ति का ग्रहण किया जाता है। सांख्य वैशेषिक आदि जो उपमान प्रमाण नहीं मानते अथवा वेदान्ती, जो उपमान द्वारा नीलगाय का ज्ञान न करके 'घर में स्थित गौ नीलगाय के सदृश है' यह ज्ञान उपमान का फल मानते हैं, उनके मत में उपमान अर्थात् सादृश्य के द्वारा भी शक्तिग्रह होता है। कभी-कभी शक्ति का ग्रहण वाक्य के शेष से भी होना है, जैसे दो अपरिचित व्यक्ति अथवा वस्तुओं के पूर्व सूचना के बाद प्राप्त होने पर एक का परिचय मिलते ही शेष का भी ज्ञान हो जाता है।[1]

लक्षणा—शक्य सम्बन्ध को **लक्षणा** कहते हैं, इसके द्वारा शक्य से अशक्य अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे : 'गंगा में घोष (अहीरों का ग्राम) है' इत्यादि वाक्यों में गंगा आदि पदों के द्वारा तटरूप अर्थ की प्रतीति होती है। गंगा पद में तटरूप अर्थ को प्रकट करने की शक्ति नहीं है, किन्तु शक्य 'प्रवाह' अर्थ से सम्बन्धित अशक्य तट अर्थ की प्रतीति होती है, इसे ही लक्षणा कहते हैं। यह लक्षणा शक्ति शब्द मे विद्यमान आरोपित शक्ति है, स्वाभाविक नही। साहित्यिकों के अनुसार किसी शब्द पर इस शक्ति का आरोप उस समय किया जाता है, जब मुख्य अर्थ संगत न हो रहा हो अर्थात् अभिधा (शक्ति) द्वारा प्राप्त अर्थ की वाक्यार्थ में संगति न होती हो।[2] किन्तु नैयायिकों के अनुसार केवल मुख्य अर्थ की असंगति होने पर ही इस वृत्ति का आश्रय नही लिया जाता। कभी-कभी मुख्य अर्थ की संगति संभव होने पर भी तात्पर्य की संगति के अभाव में भी लक्षणा आवश्यक होती है। जैसे—'भाले खड़े हैं' इस वाक्य में भाला नामक शस्त्रविशेष का स्थिर रहना अर्थ संगत हो सकता है, किन्तु वक्ता का तात्पर्य शस्त्रविशेष के खड़े होने से नही, किन्तु उस शस्त्र को लिए हुए मनुष्यों से है, अतः ऐसे स्थलों पर तात्पर्य की संगति के लिए ही लक्षणा वृत्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। इसी प्रकार रखे हुए भोज्य पदार्थ को प्रायः खा जाने वाली बिल्ली की आशंका से स्वामी ने सेवक से कह दिया कि

१. न्यायमुक्तावली पृ० ३५७ २ काव्यप्रकाश २.९.

'इस भोजन की बिल्ली से रक्षा करते रहना' सेवक इस वाक्य का अर्थ 'केवल बिल्ली से ही भोजन की रक्षा का कर्त्तव्य' नही मानता, अपितु 'भोजन को खा जाने अथवा अभक्ष्य बना देने वाले कुत्ते आदि सभी से रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य हैं' ऐसा समझता है। यहां यद्यपि वाक्यार्थ की संगति बिल्ली से भोजन की रक्षा में हो सकती थी, किन्तु तात्पर्य की सगति 'भोजन को अभक्ष्य बना देने वाले कुत्ता आदि' अर्थ को लिये बिना नही बनती; अत: ऐसे स्थलों में दोष से बचने के लिए तात्पर्य की असङ्गति (तात्पर्यानुपत्ति) को ही नैयायिक लक्षणा का मूल मानते है।

लक्षणा द्वारा शक्य अर्थ को छोड़कर जिस अशक्य अर्थ की प्रतीति होती है उन दोनों अर्थो के बीच सम्बन्ध का होना आवश्यक है। यह सम्बन्ध **सादृश्य, कार्यकारणभाव, संयोग, आधाराधेयभाव** आदि किसी भी प्रकार का हो सकता है। इन सम्बन्धो के आधार पर नैयायिको तथा अन्य दार्शनिकों साहित्यिकों आदि ने लक्षणा का विभाजन दो भेदों में किया है— **गौणी** और **शुद्धा**। जहां शक्य और अशक्य अर्थों के बीच सादृश्य रहता हो वहां **गौणी लक्षणा** मानी जाती है, तथा जहां दोनो अर्थो के बीच सादृश्य के अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध हो उसे शुद्धा लक्षणा कहते हैं।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि लक्षणा का आरम्भिक काल में प्रयोग सादृश्य के आधार पर ही किया जाता रहा होगा, इसी कारण सादृश्यमूलक लक्षणा को एक प्रकार मानकर सादृश्य से भिन्न सम्बन्धों से होने वाली लक्षणा को दूसरा नाम देकर सभी सम्बन्धों को एकत्र कर दिया गया है। साहित्यिको ने इन भेदों के भी अनेक उपभेद किये है, किन्तु न्यायशास्त्र में उनकी चर्चा नही की गयी है।

लक्षणा का एक अन्य प्रकार से भी विभाजन किया जाता है कि लक्ष्य अर्थ का ज्ञान करते समय शक्य अर्थ को ग्रहण किया गया है अथवा नही। इस आधार पर नैयायिकों ने लक्षणा के तीन भेद किये हैं—**जहल् लक्षणा, अजहत् लक्षणा** तथा **जहदजहत् लक्षणा**[2] जहा वाच्यार्थ की संगति सर्वथा नही होती, वहां लक्ष्य अर्थ में वाच्य अर्थ को छोड़ दिया जाता है, वाच्यार्थ को छोड़ देने के कारण इस लक्षणा को **जहत् लक्षणा** कहते हैं। जहां वाच्य अर्थ की संगति पूर्णतया संगत हैं किन्तु तात्पर्य की संगति के लिए लक्षणा का आश्रय लिया

१. भाषारत्न पृ० २१६ २. तर्क दीपिका पृ० १२८

जाता है उसे **अजहत् लक्षणा** कहते हैं। **जहदजहत् लक्षणा** में वाच्यार्थ के एक अश की संगति होती है तथा दूसरे अश की सगति नही हो पाती अतः कुछ अर्थ छोड भी दिया जाता है तथा कुछ बना भी रहता है। इसके प्रसिद्ध उदाहरण 'तत्वमसि' इत्यादि उपनिषद् वाक्य है। 'यह वही देवदत्त है' इत्यादि वाक्यों मे 'वह' पद पूर्वकालीन देवदत्त का सकेत करता है, जो कि भूतकाल का विषय होने के कारण अब नही है, अतः उस अश का त्याग विद्यमान है तथा उससे भिन्न होते हुए भी भूतकालिक देवतत्त में विद्यमान अधिका-धिक धर्मो की उसमे सत्ता होने से कुछ अश का अत्याग भी है, इस प्रकार ऐसे उदाहरणों मे भी जहदजहद् लक्षणा कही जा सकती है।[1]

नैयायिको के अनुसार वृत्तियां केवल दो ही हैं। व्यञ्जना और तात्पर्य आदि वृत्तियों को न्यायशास्त्र में स्वीकार नही किया गया है।[2] साहित्यिकों द्वारा स्वीकृत व्यञ्जना का तिरस्कार करते हुए नैयायिको का कथन है कि 'गंगा में घोष है' इत्यादि वाक्यों में गगा पद से तट अर्थ लक्षणा द्वारा एव उसमें विद्यमान शीलता तथा पवित्रता की प्रतीति व्यञ्जना से मानना उचित नहीं है, क्योंकि लक्षणा का मूल 'तात्पर्य की सगति न होना है' अतः तात्पर्य ज्ञान पर्यन्त लक्षणा शक्ति का ही कार्य माना जाएगा, अतः उसकी प्रतीति भी लक्षणा ारा ही हो जाएगी।[3] अर्थशक्तिमूला व्यञ्जना के स्थलो में जहां विधि से निषेध की अथवा निषेध से विधि की प्रतीति होती है उन स्थलों में भी नैयायिक व्यञ्जना मानने को प्रस्तुत नहीं हैं, इनके अनुसार ऐसे स्थलों में अन्य अर्थ की प्रीति अनुमान के माध्यम से होती है।[4] जैसे 'प्रिय ! तुम जाना ही चाहते हो तो जाओ, तुम्हारा पथ मंगलमय हो, मेरा भी जन्म वहीं हो जहां आप जाकर रहेगे''[5] इत्यादि वाक्यों में 'यदि आप मुझे छोड़कर जायेगे तो मै जीवित न रह सकूंगी अत. आप विदेश न जाएं' इत्यादि अर्थ की प्रतीति साहित्यिक व्यञ्जना द्वारा मानते हैं, क्योंकि उनका विचार है कि 'जाओ' इत्यादि विधि सूचक पदों के द्वारा 'न जाओ' इत्यादि निषेध अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा भी संभव नहीं है, अतः ऐसे स्थलों पर तो व्यञ्जना-वृत्ति माननी ही चाहिए।' किन्तु नैयायिक इस तर्क से सहमत नही है, इनके

---

१. नीलकण्ठ प्रकाशिका पृ० ३२७
२. तर्क दीपिका पृ० १२९-३०
३. तर्क किरणावली पृ० १२९
४. तर्क दीपिका पृ० १२९-३०
५. सुभाषितावलि १०४०

अनुसार यहां 'न जाओ' अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा हो सकती है। क्योंकि यही वाक्य के उत्तरार्ध में 'वही मेरा जन्म हो जहा आप जा रहे है' यह कहा गया है, किन्तु मृत्यु के बिना तो पुनर्जन्म का होना सम्भव नही है, अत: पुनर्जन्म रूप हेतु के कथन से मृत्युरूप साध्य की सिद्धि अनुमान द्वारा हो जाएगी, अत. ऐसे स्थलो पर भी व्यञ्जना वृत्ति के मानने की आवश्यकता नहीं है।

वस्तुत: नैयायिक अनेक स्थलो पर प्रमाता की प्रतीति को प्रमाण की सत्ता का आधार मानते हैं, मैं उपमान द्वारा ज्ञान प्राप्त करता हूँ' इत्यादि प्रतीति को भी उपमान और शब्द प्रमाण को स्वीकार करने में हेतु मानते हैं।[1] इसी आधार पर विशेष स्थलों पर 'मैं शब्द द्वारा रसादि अर्थ की प्रतीति कर रहा हूँ' इत्यादि सहृदय जनो की प्रतीति को आधार मान कर शब्द से विशिष्ट रसादि अर्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जनावृत्ति की भी सिद्धि की जा सकती है; और इसी आधार पर तर्कसंग्रह के प्राचीन टीकाकार नीलकण्ठ ने व्यञ्जना वृत्ति को अन्तत. स्वीकार भी किया है।[2]

इस प्रकार नैयायिकों के अनुसार संक्षेप में पदगत वृत्ति के भेद निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :—

---
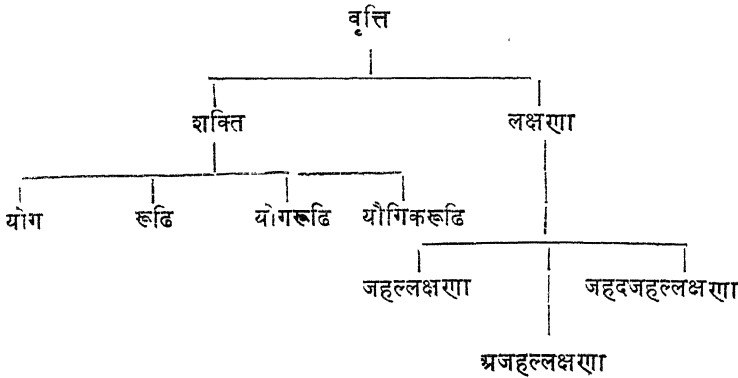
१. (क) मुक्तावली प्रभा पृ० ५४३ (ख) तर्कदीपिका पृ० १४१

२. नीलकण्ठ प्रकाशिका पृ० ३३०

शाब्दज्ञान के प्रति करण पद ज्ञान के अतिरिक्त तीन अन्य कारण भी नैयायिक मानते हैं : **आकांक्षा योग्यता और सन्निधि**।[१] द्व्यर्थक पदों के प्रयोग के अवसर पर इनके अतिरिक्त **तात्पर्यज्ञान** भी कारण हुआ करता है।[२] इन कारणो के अभाव में किन्ही पदों का अर्थ वाक्यार्थ का अग नही बन सकता है। केशवमिश्र के अनुसार तो आकाक्षा आदि के अभाव में कोई पदसमूह वाक्य भी नही कहा जा सकता।[३]

आकांक्षा :—पद की आकांक्षा का अर्थ है उस पद के अभाव में अन्वय का अभाव होना, तथा पद के प्रयोग होने पर उस अन्वय के अभाव का न होना।[४] यहां स्मरणीय है कि आकांक्षा का ज्ञान शाब्दज्ञान में कारण नही हैं, किन्तु आकांक्षा का निश्चय उसके प्रति कारण है। जैसे 'घड़े को लाओ' इस वाक्य में घड़ा, कर्म विभक्ति, लाना धातु तथा आज्ञा अर्थक क्रिया-प्रत्यय चार खण्ड हैं। यहां कर्म विभक्ति 'को' में 'घड़ा' पद की आकाक्षा है क्योंकि 'घड़ा' पद के अभाव में कर्मविभक्ति 'को' का वाक्यार्थ में अन्वय नहीं हो सकता, तथा 'घड़ा' पद के रहने पर उस विभक्ति का अन्वय हो जाता है। यही स्थिति धातु और क्रिया पद की है।

योग्यता :—एक पदार्थ का अन्य पदार्थ से संगति होना योग्यता है,[५] जैसे उपर्युक्त वाक्य में घड़े से सम्बन्धित कर्मत्व का 'लाना' क्रिया से संगति विद्यमान है, अर्थात् घड़ा 'लाना' **क्रिया** का **कर्म** हो सकता है, अतः यहां योग्यता विद्यमान है, किन्तु 'अग्नि से सीचो' इस वाक्यों में अग्नि 'सींचना' क्रिया का करण अर्थात् साधन नही बन सकता, अतः अग्नि रूप कारण में 'सीचना' क्रिया के प्रति **योग्यता** का अभाव है, अतः इस वाक्य में अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती।

सन्निधि : सन्निधि का अर्थ है वाक्यगत पदों का बिना विलम्ब के उच्चारण करना। दूसरे शब्दों में बिना विलम्ब के पदार्थो की उपस्थिति को **सन्निधि** कहते है।[६] जैसे : यदि कोई वक्ता किसी एक पद का उच्चारण करता है, कालानन्तर वह दूसरे पद का उच्चारण करता है, तो इस प्रकार उच्चारण

---

१. तर्क संग्रह पृ० १३४ २, भाषारत्न पृ० २०३
३. तर्कभाषा पृ० ४७ ४. तर्क किरणावली पृ० १३५
५. भाषारत्न पृ० २०० ६. तर्कदीपिका पृ० १३६

किये गये शब्दों के मध्य सन्निधि का अभाव माना जाएगा। चूंकि जब एक पद का उच्चारण किया जाता है, तो उसके पदार्थ की उपस्थिति मानव मस्तिष्क में होती है, उसके अनन्तर ही दूसरे पद का उच्चारण होने पर दूसरे पदार्थ से पूर्व पदार्थ का बुद्धिगत सम्बन्ध स्थापित होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण वाक्य में विद्यमान पदार्थों की संगति सन्निधि के रहने पर बन जाती है, अतः उस वाक्य का अर्थ प्रगट हो जाता है, सन्निधि के अभाव से प्रत्येक पदार्थों की संगति न हो सकने से वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। इस प्रकार सन्निधि के अभाव का अभाव वाक्यार्थ प्रतीति मे आवश्यक है, तथा सन्निधि के लिए आवश्यक है कि वाक्यगत पदों के मध्य काल सम्बन्धी व्यवधान न रहे।

वाक्यार्थ की प्रतीति यह मानसिक प्रक्रिया 'राजपुर प्रवेश न्याय' से अर्थात् क्रमिक प्रतीति मानने वालों के अनुसार है। कुछ आचार्य वाक्यार्थ की क्रमिक प्रतीति न मान कर 'खले कपोत न्याय' से सामूहिक अर्थात् सहप्रतीति मानते हैं, उस मत मे सन्निधि के अभाव में पदार्थों की सह उपस्थिति न होने के कारण वाक्यार्थ प्रतीति होना तो सर्वथा ही असम्भव है।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि शब्दों की उत्पत्ति तो सदा ही क्रमश. होती है, प्रत्येक पद के मध्य कुछ न कुछ काल का व्यवधान तो रहता ही है, अत सन्निधि का अभाव तो सर्वदा ही रहना चाहिए, फिर किसी भी वाक्य से अर्थ की प्रतीति कैसे सम्भव हो सकती है? वैयाकरण तो शब्द को नित्य मानते हैं, उनके मत में शब्द की अभिव्यक्ति के अनन्तर भी **स्फोट** रूप शब्द विद्यमान रहता है, अतःउस **स्फोट** रूप शब्द की सन्निधि रहती है। नैयायिक प्रत्येक पूर्व पद का सविकल्पक ज्ञान होने के अनन्तर उत्तर पद के ज्ञान के समय पूर्व पद की निर्विकल्पक रूप से प्रतीति मानते है, अत· उत्तर काल में निर्विकल्पक ज्ञान में प्रत्येक पद और पदार्थ की सत्ता रहने से प्रतीति में बाधा नही होती।[1]

इस प्रसंग में पुनः आशंका हो सकती है कि जैसे एक पद के उच्चारण के अनन्तर कुछ क्षणों का व्यवधान रहने पर भी प्रतीति रहती है, उसी प्रकार अधिक क्षणों के व्यवधान में भी प्रतीति क्यों नहीं होती। यदि यह माना जाए कि अल्पक्षणों के व्यवधान में सन्निधि का अभाव नहीं होता तो उचित न होगा, क्योंकि व्यवधान साम्य के कारण या तो दोनों ही स्थलों पर सन्निधि

---

१. भाषारत्न पृ० १९२

का अभाव स्वीकार किया जाना चाहिए अथवा दोनों ही स्थानों पर उसकी सत्ता।

इस आंशका के सम्बन्ध में यह कहना ही उपयुक्त होगा कि सन्निधि के अभाव का अभाव वाक्यार्थ प्रतीति में साक्षात् कारण नही है, अपितु सन्निधि का अभाव आकाक्षा को समाप्त कर देता है, तथा इस अभाव का अभाव होने पर प्रत्येक पदो अथवा पदार्थो के मध्य आकाक्षा की प्रतीति होती है, फलस्वरूप अर्थ की प्रतीति आकांक्षा के द्वारा ही होती है, सन्निधि द्वारा नहीं, सन्निधि केवल आकांक्षा को जीवित रखने का साधन है। यही कारण है कि काव्य रूप महावाक्य के पढने के समय अथवा बड़ी मे सभाओ में भाषण के समय पाठ अथवा भाषण के मध्य में स्थगित कर देने पर भी अग्रिम दिन प्रसग का कथन करने से ही आकाक्षा सजीव हो जाती है एव महावाक्य के अर्थ की प्रतीति में बाधा नही होती। व्यक्ति विशेष के भाषण के समय भी जो स्वभावतः मन्दगति से बोलता है चार पाच क्षणों (निमेषो) का अन्तर होने पर भी आकाक्षा बनी रहती है, अतः सन्निधिका अभाव प्रतीत नही होता। किन्तु अत्यन्त शीघ्र बोलने वाले व्यक्ति द्वारा दो वाक्यों के पदो का मिश्रण कर (प्रथम वाक्य के एक पद के अनन्तर दूसरे वाक्य का एक पद रखते हुए) उच्चारण करने पर शीघ्र उच्चारण करने के कारण संभव है कि प्रथम वाक्य के प्रत्येक पदों तथा द्वितीय वाक्य के प्रथम पदों के बीच काल की दृष्टि से अन्तर कम हो फिर पर भी आकाक्षा के व्याहत होने के कारण सन्निधि का अभाव ही माना जाता है और अर्थ की प्रतीति नही होती।[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सन्निधि अर्थ प्रतीति में साक्षात्कारण न हो कर आकांक्षा के पोषक होने के रूप मे ही कारण है, अतः इसे अर्थ प्रतीति में कारण न मानकर अन्यथासिद्ध मानना चाहिए। सन्निधि का अभाव काल के व्यवधान से अथवा

---

१. सन्निधि की परीक्षा की यह प्रक्रिया लिखित वाक्यो में अधिक स्पष्टता से देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ : रा म जा ता है , मो ह न आ ता है । इन लिखित वाक्यों में प्रत्येक वर्ण अथवा पद के बीच पर्याप्त अन्तर रहने पर भी अर्थ प्रतीति होती है। किन्तु 'रामोमहजानताआ हैता है' में दो वाक्य के वर्णो अथवा पदों का मिश्रण होने पर अन्तर भले ही कम हो किन्तु आकांक्षा में व्याघात होने के कारण अर्थ प्रतीति नहीं होती।

शब्दों के व्यवधान से हो सकता है। काव्य में कभी कभी चारुत्व की दृष्टि से पदों का व्यवधान करके सन्निधि का अभाव किया जाता है, किन्तु उस सन्निधि के अभाव के कारण अर्थ प्रतीति का अभाव न होकर सौन्दर्य की ही वृद्धि होती है, काव्याचार्यों ने ऐसे स्थलों को यथासख्य अलकार कह कर सम्मानित किया है।[१]

तात्पर्य ज्ञान : अनेकार्थक वाक्यों में आकाक्षा आदि के साथ तात्पर्य का ज्ञान भी वाक्यार्थ की प्रतीति में अनिवार्यतः आवश्यक होता है। जैसे 'सैन्धव' पद नमक और घोडा दोनो अर्थों का वाचक है, किन्तु वाक्य में वक्ता किस तात्पर्य से उस शब्द का प्रयोग कर रहा है, उसका ज्ञान न होने पर वाक्यार्थ की प्रतीति सम्भव न होगी, अथवा होने पर सदोष प्रतीति होगी।*

इस प्रकार आकांक्षा आदि के सहित शक्तिविशिष्ट आप्तपुरुष से उच्चारण किये गये पद समूह से उत्पन्न होने वाला ज्ञान **शाब्द ज्ञान** है।

प्रमाणिकता की दृष्टि से पदसमूहरूप वाक्य के दो भेद हो सकते हैं : **लौकिक और वैदिक**। लौकिक वाक्य आप्तोक्त होने पर प्रमाण माने जाते है। अन्यथा अप्रमाण। वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने के कारण पूर्णतः प्रमाण माने जाते है। परम्परा प्राप्त स्मृति आदि ग्रन्थ वेदमूलक होने पर ही प्रमाण माने जाते है, अन्यथा नही। वेदो के ईश्वरोक्त होने के सम्बन्ध मे विविध दार्शनिक सम्प्रदायों मे मतभेद है। उदाहरणार्थ : मीमांसक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार ही नही करते, अतः उनके मत मे वेदों के ईश्वरोक्त होने का प्रश्न ही नही उठता। किन्तु वे वेदो को नित्य और अनादि मानते हैं, अतएव उनके मत में वेद स्वतः प्रमाण हैं। नैयायिकों का विचार है कि चूंकि शब्द अनित्य हैं, तथा वाक्य शब्दसमूह रूप है, एव वेद वाक्यसमूह रूप है, अत. वे नित्य नही हो सकते। इसके अतिरिक्त वे अनुमान के द्वारा वेदों को पौरुषेय भी सिद्ध करते है। उसकी प्रक्रिया यह है : वेद पौरुषेय हैं, क्योंकि वे वाक्य समूह रूप है, महाभारत आदि के समान।' इस अनुमान के साथ ही वे मीमांसकों द्वारा स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकृत वेदों के वचन से भी इन्हे ईश्वर कृत

---

* यहां तात्पर्य ज्ञान का अर्थ है कि वक्ता ने किस अर्थ की प्रतीति के लिए उस शब्दका प्रयोग किया है, उसका ज्ञान होना।

१. काव्य प्रकाश १०. १०८

सिद्ध करते है, क्योंकि वेद में ही कहा गया है कि उस परमेश्वर से ही ऋक् यजु: साम और छन्द उत्पन्न हुए है ।[1]

यद्यपि वेद को नित्य सिद्ध करने के लिए मीमांसको की ओर से तथा पौरुषेय सिद्ध करने के लिए नैयायिकों की ओर से अनुमान किये जाते हैं, किन्तु वे उनकी अपनी कुछ मान्यताओं पर आधारित हैं, एव पूर्व मान्यताओं को आधार मानकर ही किये गये अनुमान यथार्थ नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे मान्यताए स्वयं साध्य है ।

वेदों के प्रामाण्य के सम्बन्ध में भी नैयायिक अनुमान का आश्रय लेते हैं । गौतम का कहना है कि जैसे विष आदि नाशक मन्त्र तथा आयुर्वेद आप्तवाक्य है, एव फलदर्शन के अनन्तर प्रमाण सिद्ध होते है । उसी प्रकार आप्तवाक्य होने से वेद भी प्रमाण सिद्ध होते हैं ।[2]

चार्वाक बौद्ध और जैनदार्शनिक न तो ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते है, और न वेदो की नित्यता को ही । उनके मत में वेद भी अन्य लौकिक वाक्यो के समान ही है ।

इस प्रकार हम देखते है कि नैयायिको ने प्रत्यक्ष अनुमान उपमान तथा शब्द ये चार प्रमाण तथा इन से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति और शाब्द भेद से यथार्थ अनुभव के चार भेद स्वीकार किये है ।

प्रमाण चार ही क्यों ?

प्रमाणों पर विचार करते हुए एक प्रश्न इनकी संख्या के सम्बन्ध मे उपस्थित होता है कि नैयायिकों ने प्रमाणों की संख्या चार ही क्यों स्वीकार की है ? जबकि सांख्यवादी तीन, वैशेषिक और बौद्ध केवल दो प्रमाणो को ही स्वीकार करते है । अथवा वेदान्त मे छ. पुराणों मे आठ तथा अलंकार शास्त्र मे नौ प्रमाण स्वीकार किये गये है, तो प्रमाण चार ही क्यो माने जाए ? इस प्रसंग मे नैयायिको का कहना है कि प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द प्रमाणो मे विविध सम्प्रदायो द्वारा स्वीकृत प्रमाणो का अन्तर्भाव हो जाता है, अतः प्रमाण चार से अधिक मानने की आवश्यकता नही है, तथा इन

---

१. यजुर्वेद ३१. ७, २. न्याय सूत्र २.१.६८

स्वीकृत प्रमाणों का अन्तर्भाव किसी एक अथवा अनेक प्रमाणों में होना सम्भव नही है, अत. इन चार प्रमाणों का मानना अनिवार्य ही है। न्याय-स्वीकृत प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की स्वतन्त्र उपादेयता की चर्चा उन उन प्रमाणों की चर्चा के समय की जा चुकी है, उनसे अतिरिक्त विविध सम्प्रदायो द्वारा स्वीकृत प्रमाणों का उन सम्प्रदायो के अनुसार परिचय तथा उनका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में अन्तर्भाव निम्नलिखित रूप से होगा :—

अर्थापत्तिः मीमांसा और वेदान्त मे अर्थापत्ति प्रमाण स्वीकार किया गया है। अर्थापत्ति का अर्थ है : उपपाद्य अर्थात् कार्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना।[1] यह कल्पना अर्थापत्ति प्रमा कही जाएगी। इसके साथ ही जिसके द्वारा यह कल्पना सम्भव है, उस साधन को अर्थापत्ति प्रमाण कहते है। जैसे : कोई दम्भी व्यक्ति दिन में भोजन नही करता, फिर भी उसका शरीर नित्य हृष्ट पुष्ट ही दीखता है, किन्तु भोजन के बिना इस प्रकार की पुष्टि सम्भव नहीं है, अतः पुष्टि रूप कार्य से भोजन रूप कारण के होने की कल्पना की जाती है, किन्तु दिन मे भोजन का अभाव प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है, परिशेषात् पुष्टिरूप कार्य के द्वारा रात्रिभोजनरूप कारण की सिद्धि अर्थापत्ति के माध्यम से होती है। यहा उपपाद्य पुष्टि रूप कार्य का ज्ञान करण तथा पुष्टि के कारण भूत उपपद्यमान कारण 'रात्रि भोजन' इसका फल है। यह अर्थापत्ति वेदान्त में दो प्रकार की मानी जाती है : दृष्ट अर्थापत्ति और श्रुत अर्थापत्ति। अभिधान अनुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति भेद से श्रुत अर्थापति भी दो प्रकार की है।

नैयायिकों की मान्यता है कि अर्थापत्ति कोई स्वतन्त्र प्रमाण नही, अपितु अनुमान ही है। जैसे : पूर्वोक्त उदाहरण में पुष्टि कार्य को देखकर उसके कारण भोजन की कल्पना की जाती है, यह कारण से कार्य का अनुमान ही है। यहा अनुमान की प्रक्रिया निम्नलिखित रूप से हो सकती है 'देवदत्त भोजन करता है, हृष्ट पुष्ट होने से, जो भोजन नही करता वह हृष्ट पुष्ट नहीं होता, जैसे क्षीणकाय निराहारी यज्ञदत्त, जो क्षीणकाय नही है, वह भोजन न करने वाला नही है, अतः देवदत्त भोजन न करने वाला नही है, अर्थात् वह भोजन करता है। चूंकि दिन मे भोजन का अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण

---

१. वेदान्त परिभाषा पृ० २४६

से सिद्ध है अतः परिशेषात् वह रात्रि में भोजन करता है।' इस प्रकार अर्थापत्ति का समस्त क्षेत्र अनुमान के अन्तर्गत समाहित हो जाता है, अतः उसको पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है ।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि मीमांसक और वेदान्ती अनुमान के केवल-व्यतिरेकि भेद को स्वीकार नहीं करते, यही कारण है कि उन्हें अर्थापत्ति नाम से एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना पड़ता है, किन्तु नैयायिक केवलव्यतिरेकि अनुमान को स्वीकार कर एक पृथक् प्रमाण मानने के गौरव से बच जाते हैं। इस गौरव लाघव की चर्चा केवलव्यतिरेकि अनुमान पर विचार करते हुए की जा चुकी है ।

अभाव :—वेदान्त के अनुसार ज्ञान रूप करण से उत्पन्न न होने वाले अभावानुभव के असाधारण कारण को अभाव प्रमाण कहते है ।[1] इसका ही दूसरा नाम अनुपलब्धि है । कार्य के अभाव को देखकर कारण के अभाव का ज्ञान तो अनुमान का विषय हो सकता है. किन्तु कार्य के अभाव का ज्ञान हुए बिना कारण के अभाव का ज्ञान सभव नही है, तथा उस कार्य के अभाव का (वृष्टि के अभाव का) ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा सभव नही है, क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रिय एव विषयों के सन्निकर्ष के द्वारा होता है, तथा यह सन्निकर्ष सम्बन्ध रूप है, सम्बन्ध संयोग और समवाय नाम से दो प्रकार का है, जो केवल भाव पदार्थो मे रहता है, क्योंकि सयोग गुण है, जो द्रव्य मे आश्रित रहा करता है, तथा अभाव द्रव्य नही है, अत. उसमे सयोग का रहना संभव नही है । समवाय सम्बन्ध केवल अयुत सिद्ध पदार्थ · गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, अवयव-अवयवी तथा विशेष और नित्यद्रव्य : में ही रहता है, अभाव चूंकि अयुतसिद्ध द्रव्य नही है, अतः उसमें समवाय सम्बन्ध भी नहीं रह सकता । इस प्रकार सम्बन्ध के अभाव में अभाव का अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा संभव नही है, अतः अभाव (अनुपलब्धि) नामक एक पृथक् प्रमाण मानना चाहिए ।

नैयायिक अभाव के प्रत्यक्ष के लिए विशेषण विशेष्यभाव नामक अतिरिक्त सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु वेदान्त के अनुयायियों का विचार है कि विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध ही नही हो सकता; क्योकि सम्बन्ध में तीन

---

१. वही पृ० २५८

धर्म अनिवार्यत रहते हैं, दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि सम्बन्ध के तीन लक्षण है : 'वह सम्बन्धियों से भिन्न हो,' 'दोनो सम्बन्धियों पर आश्रित रहता हो' तथा 'एक हो'; जैसे : 'घड़ा और भूतल के संयोग में, संयोग न तो घड़ा है और न भूतल ही, अतः दोनों से सर्वथा भिन्न है। यह संयोग न केवल घड़े मे रहता है और न केवल भूतल में, अतः दोनो मे आश्रित भी सिद्ध है, दो पदार्थों में ही आश्रित होने से वह एक है, यह भी सिद्ध हो जाता है, अतः संयोग एक सम्बन्ध है ।

यही स्थिति तन्तु और पट में रहने वाले समवाय सम्बन्ध की है। समवाय एक सम्बन्ध है, क्योंकि वह तन्तु और पट इन दो सम्बन्धियों से भिन्न है, वे दोनों द्रव्य पदार्थ है, जबकि समवाय एक स्वतन्त्र पदार्थ है; यह उभयाश्रित भी है, क्योंकि कारण तन्तु कार्य पट मे समवाय सम्बन्ध से ही रहता है । इसके अतिरिक्त दोनों कार्य और कारण मे रहने वाला यह सम्बन्ध एक ही है। इस प्रकार समवाय में भी सम्बन्ध के सभी लक्षण घटित हो जाते हैं, अतः इसे सम्बन्ध कहा जा सकता है ।

विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध में सम्बन्ध का एक भी लक्षण सगत नही होता । उदाहरणार्थः सम्बन्धी को सम्बन्धियों भिन्न होना चाहिए किन्तु यह उनसे भिन्न न होकर सम्बन्धि स्वरूप है । जैसे: 'दण्डी पुरुष' इस प्रतीति मे दण्डी विशेषण है और पुरुष विशेष्य । इन दोनो में रहने वाली विशेषणता इन दोनो से भिन्न कोई पदार्थ नही है, अपितु इनका स्वरूप ही है, फलतः विशेषणता और विशेष्यता को सम्बन्धियो से अलग नही, किन्तु सम्बन्धि-स्वरूप ही मानना होगा ।

विशेषण विशेष्यभाव को सम्बन्धिस्वरूप मानना इसलिए भी आवश्यक है कि 'घटाभावयुक्त भूतल है' इस प्रतीति में घटाभाव विशेषण होता है तथा 'भूतल' विशेष्य, इसके विपरीत भूतलीय घटाभाव में 'घटाभाव' विशेष्य है और भूतल विशेषण । इस प्रकार घटाभाव (अभाव) विशेषण और विशेष्य दोनों ही सिद्ध होता है। यदि यह विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्धि-स्वरूप न होकर उससे भिन्न माना जाएगा, तो अभाव में रहने वाली विशेषणता और विशेष्यता भी घटाभाव (अभाव) से भिन्न कोई पदार्थ होगी। न्यायशास्त्र में अभाव सहित सात पदार्थ माने गये है, इनमें विशेष्यता और

विशेषणता का परिगणन कही भी नही किया गया है, अतः इसे इन में से ही किसी में अन्तर्भूत होना चाहिए, जैसे : संयोग सम्बन्ध तो गुण है, समवाय एक स्वतन्त्र पदार्थ है । विशेषणता और विशेष्यता को द्रव्य नहीं कह सकते, क्योकि इसमे गुण और क्रिया नही है, इसे गुण भी नहीं कह सकते, क्योंकि गुण केवल द्रव्य के आश्रित रहता है, यह अभाव मे भी आश्रित है । इसी कारण इसे कर्म भी नहीं कहा जा सकता । इसे जाति भी (सामान्य) नहीं कह सकते, क्योंकि जाति-जाति में नही रहती, जबकि विशेषणता और विशेष्यता जाति मे भी रहती हैं, विशेष तो केवल नित्य द्रव्यों में ही रहता है, जबकि ये नित्य और अनित्य दोनो में रहते हैं । समवाय केवल अयुत द्रव्यो मे ही रहता है, किन्तु यह अन्यत्र भी रहती है, अत. यह समवाय से भी भिन्न है । इसे अभाव पदार्थ भी नही कह सकते, क्योंकि ये भाव पदार्थो में रहने पर प्रतियोगी के साथ साथ रहती हैं जब कि अभाव और उसका प्रतियोगी एक साथ नही रह सकते । इस प्रकार इसे सभी पदार्थो से भिन्न मानना आवश्यक हो जाएगा, किन्तु इसे अष्टम पदार्थ कही स्वीकार नही किया जाता, अतः इसे सम्बन्धियों से भिन्न न मान कर अभिन्न ही मानना होगा । फलतः इसे सम्बन्धिस्वरूप मानना ही उचित है, किन्तु उस स्थिति मे इसमे सम्बन्ध का प्रथम लक्षण संगत नही होता ।

सम्बन्ध का दूसरा लक्षण 'उभयाश्रित होना' भी इनमें नही है, क्योंकि विशेषणता सम्बन्ध केवल विशेषण में रहता है, विशेष्य मे नही; तथा विशेष्यता सम्बन्ध केवल विशेष्य में रहता है, विशेषण में नही । इस प्रकार इसमें 'उभायाश्रित होना' लक्षण भी सगत नही होता ।

सम्बन्ध का तृतीय क्षण 'एक होना' है । वह भी विशेष्यता और विशेषणता मे सगत नही होता, क्योकि दोनो परस्पर सर्वथा भिन्न है, साथ ही इनके आश्रय भी भिन्न है, जैसे: विशेष्यता विशेष्य में रहती है, विशेषण मे नहीं, तथा विशेषणता विशेषण मे रहती है, विशेष्य मे नही । इस प्रकार सम्बन्ध के लक्षण विद्यमान न होने के कारण विशेषण विशेष्यभाव को सम्बन्ध नही माना जा सकता, फलतः विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध को मान कर स्वीकृत अभाव का प्रत्यक्ष भी स्वीकार नही किया जा सकता । अतएव अभाव के प्रत्यक्ष के लिए अभाव अथवा अनुपलब्धि नामक स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए ।

अभाव प्रमाण की स्थापना के प्रसङ्ग मे नैयायिक उपर्युक्त तर्क से सहमत

नहीं है। उनका कहना है कि 'प्रत्यक्ष द्वारा इन्द्रिय सम्बद्ध वस्तु का ही ज्ञान होता है' यह सिद्धान्त केवल भाव पदार्थों के प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में ही है। अभाव के सम्बन्ध मे नहीं। अभाव का प्रत्यक्ष तो संयोग और समवाय सबन्ध के बिना ही केवल विशेषण विशेष्यभाव के द्वारा ही हो जाएगा। एतदर्थ विशेषण विशेष्यभाव के सम्बन्ध होने की कोई आवश्यकता नही है। यहा यह आशंका की जा सकती है कि 'सम्बन्ध के अभाव में भी प्रत्यक्ष मानने पर विश्व के समस्त पदार्थों का एक साथ ही सम्बन्ध के बिना भी प्रत्यक्ष मानना होगा, इस प्रकार असम्बद्धार्थ ग्राहकता दोष होगा'। किन्तु यह आशंका तो अभाव को प्रमाण मानने पर भी दूर नही हो सकती, क्योंकि उस पक्ष में भी यह प्रश्न होगा कि अभाव प्रमाण द्वारा अभाव का ज्ञान मानने पर भी सम्बन्ध का अभाव तो समान रूप से ही विद्यमान रहता है, इस प्रकार असम्बद्धार्थ ग्राहकता दोष तो अभाव प्रमाण को स्वीकार करने पर भी रहेगा ही।[1] किन्तु नैयायिक विशेषण विशेष्यभाव को सम्बन्ध स्वीकार करते है, अतः इस मत मे इस दोष की सम्भावना नहीं है।

आचार्य प्रशस्तपाद अभाव प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण में न करके अनुमान मे करते हैं। उनका कहना है कि जैसे उत्पन्न कार्य को देखकर अप्रत्यक्ष कारण का भी ज्ञान अनुमान द्वारा कर लिया जाता है, इसी प्रकार अनुत्पन्न कार्य भी कारण के अभाव मे प्रमाण है।[2] अर्थात् 'कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार जैसे कार्य को देख कर कारण के अनुमान कर लिया जाता है, इसी प्रकार कार्य के अभाव को देख कर कारण के अभाव का भी अनुमान किया जाता है। इस प्रकार अभाव का ज्ञान अनुमान द्वारा हो जाता है। इस अनुमान का प्रकार निम्नलिखित रूप से हो सकता है : "इस भूमि पर घड़े का अभाव है, प्रतिबन्धक के बिना भी उसका प्रत्यक्ष न होने से, जो वस्तु विद्यमान होती है, प्रतिबन्धक अन्धकार आदि के अभाव मे उसका प्रत्यक्ष होता है, जैसे वही भूतल पर विद्यमान वस्त्र का प्रत्यक्ष हो रहा है, चूंकि प्रतिबन्धक के बिना भी घडे का प्रत्यक्ष नही हो रहा है अतः यहा (भूतल पर) वह (घड़ा) नही है।

---

१. तर्कभाषा पृ० १२५   २. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १११

ऐतिह्यप्रमाण—कुछ दार्शनिक ऐतिह्य को भी स्वतन्त्र प्रमाण मानते है, उनका विचार है कि ऐतिह्य द्वारा भूतकाल के विषय का ज्ञान होता है; जबकि प्रत्यक्ष द्वारा केवल वर्तमान का ही ज्ञान होता है अतः वह प्रत्यक्ष से भिन्न है। ऐतिह्य अनुमान मे भी भिन्न है, क्योकि अनुमान व्याप्ति विशिष्ट हेतु का प्रत्यक्ष द्वारा साक्षात्कार होने पर ही संभव है, किन्तु ऐतिह्य मे **हेतु और व्याप्ति** का सर्वथा अभाव है, अतः वह **अनुमान** नही हो सकता। उपमान सादृश्यज्ञान पर आधारित होता है अथवा तद्रूप, जबकि ऐतिह्य का सादृश्य से कोई सम्बन्ध भी नही है, अतः वह **उपमान** भी नही हो सकता। शब्द प्रमाण के लिए चूंकि वक्ता का आप्त होना आवश्यक माना गया है, किन्तु ऐतिह्य में प्रमाता को वक्ता का दर्शन भी नही होता, अतः उसका अन्तर्भाव **शब्द** प्रमाण में भी नहीं होता। इस प्रकार चारो प्रमाणो मे अन्तर्भाव न होने से ऐतिह्य प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए।

इस प्रसंग में नैयायिको का कथन है कि ऐतिह्य कोई स्वतन्त्र प्रमाण नही है; जैसे : प्रवाद परम्परा से प्राप्त वाक्य से 'इस वटवृक्ष पर यक्ष निवास करता है' यह ज्ञान ऐतिह्य का विषय कहा जाता है, किन्तु वह प्रमाणिक नही है, क्योंकि उस वृक्ष में यक्ष की सत्ता को कब किसने देखा है ? न देखने पर वह रहता भी है या नही ? इसमें सन्देह ही होगा।' चूंकि अनुमान आदि सभी प्रमाणो मे प्रत्यक्ष आधार रूप से रहता है, तथा इस प्रमाण में प्रत्यक्ष का आधार नही है, अत. वह प्रमाण नहीं है। यदि उस यक्ष को किसी व्यक्ति ने देखा है, तथा वह व्यक्ति स्वस्थ इन्द्रियो वाला आप्तपुरुष है, तो उसके वचन को प्रामाणिक माना जाएगा, किन्तु उस स्थिति मे वह आगम (शब्द) प्रमाण का विषय होगा, उसके लिए अतिरिक्त प्रमाण मानने की आवश्यकता नही है।

सम्भव प्रमाण—कुछ दार्शनिको ने संभव नामक एक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'क्विटल' मे 'किलोग्राम' 'हजार' में 'सौ' हो सकते हैं, इत्यादि ज्ञान **सम्भव** प्रमाण द्वारा होता है, अतः उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए।

किन्तु नैयायिको का विचार है कि सौ संख्याओं के बिना हजार संख्या **बन** ही नहीं सकती, अतः **अविनाभाव मूलक** व्याप्ति से अनुमान द्वारा ही उक्त ज्ञान प्राप्त होता है, एतदर्थ सभव प्रमाण मानने की आवश्यकता नही है।[1]

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १११

इस प्रसग में स्मरणीय है कि सम्भव प्रमाण को मानने वाले उसे व्याप्ति निरपेक्ष मानते हैं, जबकि वैशेषिक अथवा नैयायिक उसे व्याप्तिसापेक्ष स्वीकार कहते हैं, तथा व्याप्ति सापेक्ष ज्ञान तो निश्चित रूप से अनुमान से भिन्न नही कहा जा सकता। विरोध केवल व्याप्ति निरपेक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में है। एक पक्ष में वह व्याप्ति निरपेक्ष होकर भी प्रमाण है, जबकि इसे वास्तविक रूप से प्रामाणिक नही मानना चाहिए। क्योंकि ब्राह्मण में विद्या सम्भव है, अतः ब्राह्मण विद्वान् है, क्षत्रिय में शौर्य सम्भव है, अतः यह राजपुत्र शूर है, ये वचन प्रामाणिक नही माने जाते, क्योंकि इनका अपवाद देखा जाता है। व्याप्ति रहने पर संभावना मे सन्देह नहीं रहता, तथा व्याप्ति ज्ञानपूर्वक हेतु द्वारा प्राप्त ज्ञान **अनुमान** कहा जाता है, अतः व्याप्तिपूर्वक सम्भव प्रमाण भी अनुमान ही है।

प्रमाण्यवाद

विविध दार्शनिको द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे भी अनेक मत है। नैयायिकों का सिद्धान्त है कि प्रमाणों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता दोनो परतः ग्राह्य है, अर्थात् प्रमाण द्वारा ज्ञान उत्पन्न होने पर प्रमाता की उस प्रमेय के विषय में प्रवृत्ति होती है, तथा प्रवृत्ति के सफल होने पर पूर्व प्रमाण की प्रामाणिकता का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार उस अनुमान द्वारा प्रत्यक्ष आदि प्रमाण की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। प्रामाणिकता के समान अप्रामाणिकता को भी नैयायिक पूर्व प्रकार से ही **परतः** मानते हैं। इसके ठीक विपरीत सांख्यवादी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता दोनों को **स्वतः** मानते हैं।[1] क्योंकि प्रमाण की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के लिए तब तक अन्य अनुमान को कारण नहीं माना जा सकता जब तक कि उस अनुमान की प्रामाणिकता सिद्ध न हो; तथा प्रामाण्यसाधक अनुमान की प्रामाणिकता अन्य अनुमान पर आश्रित होगी किन्तु वह भी प्रामाणिकता को तब तक न सिद्ध कर सकेगा, जब तक कि स्वय उस अनुमान की प्रामाणिकता सिद्ध न हो जाए। इस प्रकार परतः प्रमाण्यपक्ष मे अनवस्था दोष होगा।

---

१. सर्वदर्शन संग्रह पृ० २७९

मीमांसकों का विचार है कि प्रमाण की प्रामाणिकता तो स्वतः सिद्ध है कि किन्तु जहां कहीं वह अप्रामाणिक प्रतीत होता है, वहा उस अप्रामाणिकता की प्रतीति स्वत न होकर किसी प्रमाणान्तर के कारण होती है। प्रामाणिकता के ग्रहण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में मीमासको में भी तीन सम्प्रदाय हैं।

प्रभाकर के अनुसार प्रत्येक ज्ञान के तीन अंश होते हैं : **मिति मातृ** और **मेय** अर्थात् **ज्ञान, ज्ञानाश्रय और ज्ञान का विषय**। इनके अनुसार घट विषयक ज्ञान 'यह घट है' एव 'मैं घट विषयक ज्ञानवान् हूँ' इस प्रकार समूहालम्बनात्मक व्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है; चूंकि व्यवसाय स्वतः प्रकाशरूप होता है, अत उसका प्रामाण्य भी प्रकाश के समान ही स्वतः गृहीत होगा। चूंकि उनके मतानुसार विशिष्ट बुद्धि के प्रति विशेषण ज्ञान को कारण स्वीकार नहीं किया जाता, अतः प्रामाण्यविशिष्ट बुद्धि के लिए ज्ञान मे प्रामाण्य विशेषण के न होने पर भी प्रामाण्य विशिष्ट बुद्धि ही होगी। इसके अतिरिक्त मीमांसक चूंकि वेद को ईश्वर कृत मानते है, अत ईश्वरीय रचना की प्रामाणिकता के लिए वे किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा स्वीकार नही करते।[1]

मुरारिमिश्र के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य उसके अपने अनुव्यवसायात्मक रूप के कारण ही ग्राह्य होता है। इनके अनुसार 'यह घट है' इस व्यवसायात्मक ज्ञान के अनन्तर 'मै घट के रूप में घट को जानता हूँ' यह **अनुव्यवसाय रूप**, ज्ञानविषयक ज्ञान लौकिकमानसप्रत्यक्ष द्वारा उत्पन्न होता है; इस अनुव्यवसाय से व्यवसाय ज्ञानगत प्रामाण्य गृहीत होता है।

कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रत्येक ज्ञान अतीन्द्रिय होता है, एव उसका ग्रहण ज्ञातता हेतु युक्त अनुमिति के द्वारा होता है। इनके अनुसार 'स्वतोग्राह्य' का अर्थ स्व अर्थात् स्वकीयज्ञाततालिङ्ग युक्त अनुमिति से ग्राह्य है; घट विषयक ज्ञान मे अनुमिति का प्रकार इस प्रकार होगा . 'यह घट घटत्ववत् विशेष्यक घटत्वप्रकारक ज्ञान का विषय है क्योंकि यह घटत्व प्रकारक ज्ञातता से युक्त है, जो घटत्व प्रकारक ज्ञातता से युक्त नही है, वह घट नही हो सकता, जैसे पट। यह ज्ञातता रूप धर्म घट के ज्ञान से उत्पन्न घट में

---

१. श्लोकवार्तिक २.६८

विद्यमान तथा उस से भिन्न प्रकटता रूप धर्म है, जिसका कि प्रत्यक्ष होता है। इस ज्ञातता का अनुमान भी किया जा सकता है, अनुमान प्रकार निम्नलिखित होगा :—यह ज्ञातता घटत्वयुक्त घटत्वप्रकारक ज्ञान से उत्पन्न है, क्योंकि यह घट मे विद्यमान घटत्व प्रकारक ज्ञातता है ।

मीमांसकों के तीनो ही सम्प्रदायों मे ज्ञान दो दशाओं मे उत्पन्न होने से दो प्रकार का माना जाता है—**अभ्यासदशापन्न और अनभ्यासदशापन्न** । ज्ञान का यह स्वत: प्रामाण्य **अभ्यासदशापन्न** ज्ञान में ही होता है **अनभ्यासदशापन्न** ज्ञान में नहीं ।

वस्तुत: मीमांसकों का यह स्वत: प्रामाण्य उनके अपने मत में भी सिद्ध नहीं होता । क्योंकि जब ज्ञान अभ्यासदशापन्न और अनभ्यासदशापन्न दो प्रकार का है, तो दोनों के स्वत: प्रामाण होने पर ही ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य कहा जा सकता है, अन्यथा नही । जब मीमासक स्वय ही अनभ्यासदशापन्न ज्ञान को स्वत: प्रमाण न मानकर परत: मानते हैं, तो उनके मत में ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य कैसे कहा जा सकता है । अभ्यासदशापन्न ज्ञान में भी अभ्यास क्या है ? क्रिया का बार-बार होना तथा अनेक बार सफल प्रवृत्ति ही तो अभ्यास है । यदि इस सफल प्रवृत्ति के रहने पर ही ज्ञान का प्रामाण्य होता है, अन्यथा नहीं, तो इस प्रवृत्ति साफल्य को नैयायिकों के समान प्रामाण्य का कारण क्यों न माना जाए ?

इसके अतिरिक्त मुरारि मिश्र के मत मे प्रथम व्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, तथा वह स्वयं प्रामाणिक नहीं होता । अपितु उस ज्ञान से अनुव्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा व्यवसायात्मक ज्ञान की प्रामाणिकता का ग्रहण होता है, इस प्रकार इस मत में भी ज्ञान का परत: प्रामाण्य ही सिद्ध होता है । यही स्थिति कुमारिल भट्ट के मत की है, वहां घड़े के ज्ञान से **ज्ञातता** की उत्पत्ति होती है एवं उसके द्वारा पूर्वज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध होती है । **ज्ञातता** को प्रामाणिकता का कारण मानने पर सबसे बड़ा दोष है, भूतकालीन और भविष्यत्कालीन ज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध न होना है । क्योंकि मीमांसकों के अनुसार घटविषय **ज्ञातता** का आश्रय घट स्वयं है, किन्तु नष्ट अथवा अनुत्पन्न घट की सत्ता वर्त्तमान में न होने के कारण आश्रय के अभाव में आश्रित **ज्ञातता** का भी अभाव होगा, एव प्रामाण्य के कारण **ज्ञातता** का अभाव होने से कार्य प्रामाण्य का भी अभाव होगा । इस प्रकार

ज्ञातता को प्रामाण्य का कारण मानने पर वर्त्तमान से भिन्न कालीन विषयो के ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध न हो सकेगा ।

ज्ञान को स्वत: प्रमाण मानने पर एक और दोष है, वह यह कि 'यदि ज्ञान का प्रामाण्य स्वत. ग्राह्य होता, तो अनभ्यास दशा मे उत्पन्न ज्ञान में 'यह ज्ञान **प्रमा** है या नही' इस प्रकार का सर्वजन स्वीकृत प्रामाण्य सशय न होता, क्योकि यदि वहां विद्यमान ज्ञान स्वत. ज्ञात है, तो उसका प्रामाण्य भी ज्ञात ही है, यदि ज्ञान के ज्ञात होने पर भी प्रामाण्य ज्ञात नही है, तो ज्ञान का स्वत· प्रामाण्य असिद्ध ही रहा, यदि ज्ञान ही अज्ञात है, तो धर्मिज्ञान के अभाव में सशय का होना भी संभव नही है; अत प्रामाण्य स्वतोग्राह्य नही है ।[1]

इसके अतिरिक्त मीमांसकों को **ज्ञातता** नामक एक अतिरिक्त धर्म की कल्पना का गौरव भी वहन करता है । साथ ही **ज्ञातता** को स्वीकार करने में अनवस्था दोष उत्पन्न होता है । क्योंकि विषय के सम्बन्ध में ज्ञान के प्रामाण्य के लिए **ज्ञातता** आवश्यक है, **ज्ञातता** का ज्ञान भी प्रामाणिक है, इस ज्ञान के लिए **ज्ञातता** विषयक **ज्ञातता** का ज्ञान आवश्यक है । और उस द्वितीय **ज्ञातता** के ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए तृतीय **ज्ञातता** । इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा ।

मीमांसक यथार्थ ज्ञान का प्रामाण्य स्वत: तथा अयथार्थ ज्ञान का अप्रा-माण्य परत: मानते हैं, **ज्ञातता** को स्वीकार करने पर जैसे यथार्थ ज्ञान होने पर ज्ञान से **ज्ञातता** उत्पन्न होती है उसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान होने पर भी ज्ञानत्व सामान्य के कारण **ज्ञातता** की उत्पत्ति होगी ही, फलत: **ज्ञातता** द्वारा पूर्व प्रकार से ही अप्रामाण्य भी स्वत: ही होना चाहिए ।

इस प्रकार हम देखते है कि अनेक दोषों की संभावना के कारण ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण स्वत: और अप्रामाण्य का ग्रहण परत: होता है, मीमांसकों का यह मत ग्राह्य नहीं हो सकता ।

बौद्धो का मत मीमांसकों से सर्वथा विपरीत है, वे प्रामाण्य को परत: और अप्रामाण्य को स्वत: मानते हैं, किन्तु मीमांसकों के मत में प्रामाण्य के स्वत:

---

१. तर्क किरणावली पृ० १४५

और अ ामाण्य को परतः होने में जो दोष पूर्व पंक्तियों में दिखाया गया है, प्रामाण्य के परतः और अप्रामाण्य के स्वतः ग्राह्य होने में भी वे दोष विद्यमान होंगे ही, अतएव नैयायिकों ने इस मत को भी स्वीकार नही किया है।

बौद्धों में शान्तरक्षित अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो को ही स्वतः तथा अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को ही परतः ग्राह्य मानते है। यदि अभ्यासदशापन्न ज्ञान मे प्रामाण्य और अप्रामाण्य के ग्राह्यत्व का कारण अभ्यास माना जाये, तो शान्तरक्षित और नैयायिकों के मत में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि अभ्यास भी अनेक बार होने वाली प्रवृत्ति है, तथा नैयायिक सफल प्रवृत्ति को ही प्रामाण्य और अप्रामाण्य के ग्रहण में आधारभूत कारण मानते हैं।

जैसीकि ऊपर की पंक्तियो में चर्चा हो चुकी है, नैयायिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही परतः मानते है। इस मत में ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय के द्वारा तथा प्रामाण्य या अप्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्ति की सफलता और असफलतामूलक **अनुमान** से होता है। उदाहरणार्थ यदि जलका प्रत्यक्ष होने पर उसे लेने की प्रवृति और इसमें सफलता होती है, तो 'पूर्व ज्ञान की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे अनुमान किया जाता है कि 'पूर्व उत्पन्न जल का प्रत्यक्ष ज्ञान **प्रमा** है, क्योंकि वह सफल प्रवृत्ति का उत्पादक है, जो सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न नही करता वह ज्ञान **प्रमा** नहीं है; जैसे 'मरुमरीचिका मे जल ज्ञान' इस प्रकार व्यतिरेकि अनुमान से प्रायः सर्वत्र ज्ञान में प्रमात्व निश्चित किया जाता है। इस प्रकार प्रवृत्ति के द्वारा जिस ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का ग्रहण किया जाता है, उस ज्ञान को अभ्यासदशापन्न ज्ञान कहते हैं।

अनभ्यासदशापन्न वह ज्ञान है, जिसमें अब तक प्रवृत्ति नहीं हो सकी है, अत. उसके सम्बन्ध में सफलता और असफलता का प्रश्न भी नही है, ऐसे ज्ञान में नैयायिकों के अनुसार प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का ग्रहण **सफल प्रवृत्तिजनक ज्ञान का सजातीय होने** से होता है।

मीमांसक वेदों को नित्यमानकर उसे स्वतः प्रमाण मानने का प्रयत्न करते हैं, उसके उत्तर में नैयायिकों का कथन है कि चूंकि शब्द आदिमान् तथा इन्द्रियग्राह्य है, अतः अनित्य है। इसके अतिरिक्त अनित्य सुख दुख के समान शब्द के लिए भी तीव्र मन्द आदि विशेषणों का प्रयोग होता है, इस

प्रकार कार्य के समान व्यवहार होने से शब्द भी अनित्य है ।[१] फलतः शब्द का नित्यत्व असिद्ध होने से शब्द रूप वेद का प्रामाण्य भी स्वत. सिद्ध नहीं हो सकता ।

नैयायिकों के परतः प्रामाण्य के सम्बन्ध मे प्रश्न होता है कि 'केवल प्रत्यक्ष ज्ञान ही परतः प्रमाण है' अथवा 'अनुमान आदि प्रमाण भी' ? यदि अनुमान भी परत. प्रमाण है, तो प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रामाणिकता के साधक अनुमान की प्रामाणिकता के लिए अन्य अनुमान की, तथा उसके प्रामाण्य के लिए अन्य अनुमान की आवश्यकता होगी, इस प्रकार **अनवस्था** दोष उपस्थित होगा । यदि यह माना जाए कि अनुमान के प्रामाण्य के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, तो प्रकारान्तर से ज्ञान का (अनुमान ज्ञान का) स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होने से नैयायिक पक्ष मे **प्रतिज्ञा हानि** दोष उपस्थित होता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नैयायिकों के परतः प्रामाण्य वाद में उनकी युक्तिया अधिक सबल नहीं है ।

वस्तुतः प्रामाण्य के प्रसंग में इन दोषों का समाधान सम्भव नहीं है, सभी मतों में कोई न कोई दोष रहेंगे ही । इस प्रसंग में हम इतना ही कह सकते हैं कि मनुष्य की विषय विशेष के प्रति प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति विषय सम्बन्धी ज्ञान मात्र से होती रहती है, तदर्थ ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य के ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती । इतना ही नही अपितु प्रवृत्ति के लिए मानव ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य के ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं समझता । यदि यह कहा जाए कि बहुधा उसके मानस में 'मेरा यह ज्ञान प्रामाणिक है या नहीं' इस प्रकार के सन्देह का उदय भी नही होता, तो भी अनुचित न होगा । ज्ञान के प्रामाण्य अप्रामाण्य का ज्ञान तो प्रवृत्ति के बाद होने वाली सफलता के बाद ही होता है, पूर्व नहीं ।

इस प्रकार बुद्धि विवेचन के प्रसंग में हमने देखा है कि बुद्धि अर्थात् ज्ञान के सर्व प्रथम दो भेद है । **अनुभव** और **स्मृति** । अनुभव भी दो प्रकार का है : **यथार्थ** और **अयथार्थ** । नैयायिकों के अनुसार यथार्थ अनुभव के चार भेद हैं : **प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति** और **शाब्द** । प्रत्यक्ष के प्रथम दो भेद हैं : **लौकिक** और **अलौकिक** । लौकिक प्रत्यक्ष करण भेद से छ प्रकार का है : **घ्राणज, रासन, चाक्षुष, त्वाच, श्रौत्र** एवं **मानस** । अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है : **सामान्यलक्षण ज्ञानलक्षण** और **योगज** । **स्वार्थ** और **परार्थ**

भेद से **अनुमान** के दो प्रकार हैं। उपमिति के भेद प्रभेदों को न्यायशास्त्र में स्वीकार नहीं किया गया है। **लौकिक और वैदिक** शब्दों के भेद से शब्द प्रमाण भी दो प्रकार का है। अयथार्थ अनुभव के चार भेद है: **संशय, विपर्यय तर्क** और **अनध्यवसाय**। स्मृति चूंकि अनुभव जन्य है, एव अनुभव के मूलतः दो भेद किये गये हैं, अतः स्मृति के भी दो भेद किये जाते है. **यथार्थ स्मृति** और **अयथार्थ स्मृति**।

कुछ प्राचीन विद्वान् सिद्धदर्शन को भी प्रत्यक्ष आदि से भिन्न ज्ञान स्वीकार करते है[1], किन्तु वह उचित नही है, क्योंकि प्रयत्न पूर्वक सिद्ध अञ्जन, खड्ग वर्त्ति और गुलिका आदि के द्वारा सिद्ध पुरुषों को जो व्यवहितसूक्ष्म अथवा सुदूरवर्त्ती पदार्थों का दर्शन होता है, वह प्रत्यक्ष ही है। इसी प्रकार ग्रह नक्षत्र आदि की गति के द्वारा दैवी ग्रहो अथवा भौतिक प्राणियो के धर्म अधर्म के परिणाम स्वरूप भावी सुख और दुख का ज्ञान कर लेना अनुमान ही है। इसी भांति धर्म आदि के प्रति इष्ट आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा आगम प्रमाण में अन्तर्भूत हो जाएगा, उसे स्वतन्त्र ज्ञान मानने की आवश्यता नही है।

बुद्धि आत्मा में रहनेवाला प्रधान गुण है, यही आत्मा में आश्रित अन्य सुख आदि विशेष गुणों का कारण भी है।

गुण विमर्श (शेषांश)

सुख

अनुकूल प्रतीत होनेवाला आत्मा का गुण **सुख** है। तर्कदीपिकाकार के अनुसार 'मैं सुखी हूँ' इस अनुव्यवसाय में प्रतीत होनेवाला ज्ञान सुख कहा जाता है।[2] शंकरमिश्र के अनुसार धर्म जिसका असाधारण कारण है, आत्मा के उस गुण को सुख कहते हैं।[3] इन सभी लक्षणों में प्रकारान्तर से सुख का परिचय दिया गया है, तथा इन लक्षणों में परस्पर कोई विरोध नही है। सुख के दो भेद हो सकते हैं: **स्वकीय** और **परकीय**। **स्वकीय** (अपने) सुख का ज्ञान केवल स्वात्म अनुभवमात्र से होता है। **परकीय** सुख का ज्ञान मुख के विकास आदि के द्वारा अनुमान के माध्यम से होता है।

---

१. प्रशस्तपाद विवरण पृ० १२६ २. तर्क दीपिका पृ० १५६।

३. कणाद रहस्यम् पृ० १२२

उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के सुख के पुन: दो भेद किये जा सकते हैं : **सांसारिक** (लौकिक) और **स्वर्गीय** (पारलौकिक)। प्रयत्न द्वारा प्राप्त होने वाले साधनों के आधीन सुख **सांसारिक** कहा जाता है; तथा इच्छामात्र से उपलब्ध होने वाले साधनों के आधीन सुख को स्वर्गीय या पारलौकिक सुख कहते हैं।[१] काव्यशास्त्र में इन दोनो से भिन्न विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभावों द्वारा व्यजित होने वाले **रस** नामक तृतीय सुख को भी स्वीकार किया गया है, जो लोक में रहते हुए ही अनुभूत होता है, फिर भी लोकोत्तर है जो लौकिक सुखों से सर्वथा भिन्न ब्रह्मास्वादसहोदर कहा जाता है।[२]

लौकिक सुख चार प्रकार के है : **वैषयिक मानोरथिक, आभ्यासिक और आभिमानिक**। **वैषयिक** सुख सासारिक विषयों के भोग से उत्पन्न होता है। ज्ञानेन्द्रियों के भेद से इसके भी पांच प्रकार कहे जा सकते हैं। **मानोरथिक** सुख अभीष्ट विषयो के अनुस्मरण से प्राप्त होता है। अभीष्ट विषय चूंकि भूत भविष्य और वर्त्तमान भेद से तीन प्रकार के हो सकते है, अत: **मानोरथिक** सुख के भी तीन प्रकार माने जा सकते हैं, किन्तु भविष्य सम्बन्धी द्रव्यादि की सत्ता केवल कल्पना मात्र में ही रहती है, अत: तत्सम्बन्धी सुख भी केवल मन मात्र से ही अनुभूत होता है। **आभ्यासिक** सुख किसी क्रिया के अनवरत अभ्यास से उत्पन्न होता है। अपने वैदुष्य आदि धर्मो के आरोप से अनुभव होने वाला सुख **आभिमानिक** है। परीक्षा आदि में सफलता प्राप्त होने पर जो सुख होता है वह भी **आभिमानिक** सुख ही है।

आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार कारण भेद से सुख चार प्रकार का है[3], अभीष्ट उपलब्ध विषयों का इन्द्रियों से सन्निकर्ष होने पर धर्मादिसापेक्ष आत्मा और मन के सयोग से उत्पन्न होनेवाला **सामान्यसुख** है। भूतकालीन विषयों के स्मरण से होने वाला **स्मृतिज** सुख है। अनागत विषयों के सकल्प से होनेवाला सुख **संकल्पज** कहाता है, तथा विद्वानों को विषय उनका अनुस्मरण संकल्प आदि के बिना ही विद्या शम सन्तोष आदि धर्मो से एक विशेष प्रकार का सुख होता है, वह चतुर्थ प्रकार का सुख कहा जाता है। योग

---

१. सप्तपदार्थी पृ० ५० २. अभिनव भारती ६. ३४

३. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३०

दर्शन में इस सुख को सर्वाधिक महत्व दिया गया है।[1] पारलौकिक सुख को मोक्ष या आनन्द कहते है। सांख्यदर्शन के अनुसार पारलौकिक सुख केवल लौकिक त्रिविध दुःखो की निवृत्ति ही है।

दुःख

प्रतिकूल प्रतीत होने वाला आत्मा का गुण **दुःख** कहा जाता है। सुख के समान ही इसके भी स्वकीय और परकीय दो भेद होते है; तथा कालभेद से इसके भी तीन भेद हो जाते हैं। वर्त्तमान काल के सुख के समान ही वर्त्तमानकालीन दुख का भी कोई विशेष नाम नही दिया जाता। भूतकालीन दुखको **स्मृतिज** तथा भविष्यत्कालीन दुःख को **संकल्पज** दुख कहा जाता है। दुःख के उपर्युक्त तीनों भेद **आध्यात्मिक**, **आधिभौतिक** और **आधिदैविक** भेद से पुनः तीन तीन प्रकार के हो जाते है।

इच्छा

अपने लिए अथवा किसी अन्य के लिए अप्राप्त को प्राप्त करने की कामना का नाम इच्छा है। यह आत्मा का गुण है। यह इच्छा ही प्रयत्न का असाधारण कारण है। इसकी उत्पत्ति स्मृति सापेक्ष अथवा सुखादि सापेक्ष आत्ममनः संयोग से होती है। इसके दो प्रकार हैं : **सोपाधिक** और **निरुपाधिक** सुख के प्रति इच्छा **निरुपाधिक** है, तथा सुख के साधनों के प्रति होने वाली इच्छा को **सोपाधिक** इच्छा कहते है। सोपाधिक और निरुपाधिक दोनो ही प्रकार की इच्छाओ के अनेक भेद है : जिन में मुख्य निम्नलिखित हैं। **काम अभिलाषा राग संकल्प कारुण्य वैराग्य उपधा** (कपट) **भाव स्पृहा तृष्णा लोभ** इत्यादि। **काम** का अर्थ है, मैथुन की इच्छा। बार बार विषयों के प्रति आसक्ति का नाम **राग** है। भोजन करने की कामना को **अभिलाषा** कहते हैं। भविष्य में की जाने वाली क्रिया को करने की दृढ़ इच्छा को **संकल्प** कहते है। स्वार्थ के बिना ही दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा को **दया** कहते हैं। विषय आदि में दोष की भावना से उनके त्याग की इच्छा को **वैराग्य** कहा जाता है। दूसरे को ठगने की इच्छा को **उपधा** या **कपट**

---

१ (क) योगदर्शन २. ४२. (ख) योगभाष्य पृ० २६४

कहते हैं। अन्दर छिपी हुई इच्छा को **भाव** कहते हैं। इसी प्रकार दूसरों के धन को लेने की इच्छा को **स्पृहा**, अन्याय पूर्वक दूसरे के धन को लेने की इच्छा को **लोभ** तथा अत्यन्त आवश्यक होने पर भी अपने धन को न छोड़ने की इच्छा को **तृष्णा** कहते है।

इच्छा से ही प्रयत्न धर्म और अधर्म उत्पन्न होते हैं। इनमें इच्छा प्रयत्न के प्रति साक्षात्कारण है, तथा प्रयत्नपूर्वक विहित और निषिद्ध कर्मों के प्रति हेतु होकर धर्म और अधर्म के प्रति परम्परा से कारण हैं।

द्वेष

द्वेष भी आत्मा का गुण है जो दु खसापेक्ष आत्ममनः संयोग से उत्पन्न होता है। इच्छा भी द्वेष का कारण है, साथ ही यह इच्छा के कार्य प्रयत्न का साक्षात्कारण है। द्वेष होने पर प्राणी स्वयं को प्रज्वलित-सा समझा है। यह द्वेष निकट में उपस्थित शत्रु सर्प आदि दुःख के साधनों के प्रति तथा उन साधनों से उत्पन्न दुःख के प्रति उत्पन्न होता है। द्वेष के कारण के रूप में दुःख का वर्त्तमान रहना आवश्यक नही है, भूतकालीन दुःख के स्मरण से भी द्वेष की उत्पत्ति होती है। यह द्वेष स्वकीय और परकीय भेद से दो प्रकार का है। स्वकीय द्वेष का मानस प्रत्यक्ष द्वारा स्वयं को ज्ञान होता है। परकीय द्वेष का अनुमान मुखविकार, नेत्रों की लालिमा आदि के द्वारा होता है।

यह द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और स्मरण का कारण है। **द्रोह क्रोध मन्यु अक्षमा अमर्ष ईर्ष्या अभ्यसूया** आदि द्वेष के अनेक भेद है। चिरकाल से विद्यमान रहने पर भी जिसके विकार लक्षित नहीं होते, तथा जिसके कारण उपकारी के प्रति भी व्यक्ति अन्ततः अपकार कर बैठता है, वह **द्रोह** कहाता है। किसी दुःख के तत्काल बाद उत्पन्न होने वाले तथा शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाले द्वेष को **क्रोध** कहते हैं, इसके द्वारा शरीर और इन्द्रियां आदि फड़कने लगती हैं। अपकारी व्यक्ति के प्रति अपकार करने में असमर्थ व्यक्ति का अन्दर ही गुप्त द्वेष **मन्यु** कहाता है। दूसरों के गुणों को न सह सकने की क्षमता को अक्षमा कहते है, इसका ही दूसरा नाम **असहिष्णुता** है। अपने गुणों के तिरस्कार की आशंका से दूसरे के गुणों के प्रति विद्वेष **अमर्ष** कहा जाता है। दूसरों के उत्कर्ष को देखकर उत्पन्न द्वेष **ईर्ष्या** कहाता है। दूसरे के अपकार को सहने में असमर्थ व्यक्ति में गुप्त रूप से चिरकाल तक रहने वाला तथा अन्ततः अपकार करने वाला द्वेष **अभ्यसूया** कहा जाता है।

ऊपर की पंक्तियों में द्वेष को प्रयत्न का हेतु कहा गया है, किन्तु यहां यह आशंका हो सकती है कि प्रयत्न तो 'यह वस्तु या कार्य इष्ट का साधक है' इस ज्ञान से होता है, तथा ज्ञान इच्छा के द्वारा ही प्रयत्न का हेतु है; किन्तु द्वेष न तो प्रयत्नमूलक इच्छा को उत्पन्न करता है, और नही ही 'इष्ट साधन होने के ज्ञान को'। फिर द्वेष को किस आधार पर प्रयत्न का हेतु माना जाए ? इस आशंका का समाधान यह है कि प्रयत्न दो प्रकार का होता है प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप। इष्टसाधनता ज्ञान से प्रवृत्तिरूप प्रयत्न उत्पन्न होता है, जबकि द्वेष द्वारा निवृत्तिरूप प्रयत्न उत्पन्न होता है। शत्रुवध आदि के लिए उत्पन्न होने वाला प्रयत्न भी इष्ट साधनता ज्ञान से ही होता है, द्वेष से नही, इतना अवश्य है कि ऐसे अवसरों पर द्वेष सहकारी कारण होता है।

प्रयत्न

आरम्भ उत्साह आदि शब्द प्रयत्न के पर्यायवाची है, यह प्रयत्न दो प्रकार का है जीवनशक्तिमूलक और जीवन से भिन्न इच्छा-द्वेषमूलक। सोये हुए व्यक्ति की प्राण अपान आदि की क्रियाओं को प्रेरित करने वाला, धर्म और अधर्म का प्रेरक प्रयत्न जीवनशक्तिमूलक प्रयत्न है। सोकर जागने पर अन्तःकरण का इन्द्रियों से सयोग भी जीवनशक्तिमूलक प्रयत्न है। हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति कराने वाली शरीर की क्रियाओं का हेतु जीवनेतर इच्छा या द्वेषमूलक प्रयत्न होता है। जीवनशक्तिमूलक प्रयत्न से उत्पन्न प्राण आदि की गति को दृष्ट से उत्पन्न मानना उचित न होगा, क्योंकि जाग्रत दशा में उस गति को हम प्रयत्नमूलक पाते हैं। यदि उस गति को एक स्थल पर अदृष्टमूलक मानेंगे, तो अन्यत्र भी अदृष्ट मूलक मानना होगा, क्योकि जागरण और शयन दोनों ही अवसरों पर होने वाली गति समान ही है। कुछ लोग चेष्टा तथा क्रिया को भी प्रयत्न ही मानते हैं, परन्तु नैयायिकों के अनुसार चेष्टा 'प्रयत्नयुक्त आत्ममनः संयोग' का कार्य है।[1] दूसरे शब्दों में प्रयत्नयुक्त आत्ममनः संयोग जिसका असमवायिकारण है, वह क्रिया चेष्टा कही जाती है।

धर्म

भारतीय न्यायशास्त्र में धर्म शब्द अनेक अर्थो में प्रयुक्त होता है। किसी भी पदार्थ में विद्यमान वह तत्व, जिसके कारण उसे अन्य पदार्थ के सदृश

१. कणाद रहस्यम् पृ० १२७

अथवा उससे भिन्न कहा जाता है, उसे भी धर्म कहते हैं। जैसे: पृथिवी में विद्यमान पृथिवीत्व उसका धर्म कहा जाता है।[१] कणाद के अनुसार जिसके द्वारा तत्वज्ञान तथा आत्यन्तिक दुख निवृत्ति हो, वह धर्म कहा जाता है।[२] जैमिनि के अनुसार क्रिया मे प्रवृत्त कराने वाले वचनो से लक्षित होने वाले तथा उन वचनों से प्रेरित, पुरुष को नि:श्रेयस् देने वाले अर्थ को धर्म कहते हैं।[3] मनुस्मति में एक स्थान पर वेद स्मृति सदाचार आदि को साक्षात् धर्म तथा अन्यत्र धैर्य क्षमा दमन चोरी का त्याग हर प्रकार की पवित्रता इन्द्रियों का संयम विद्या विचारशीलता सत्य और अक्रोध इन दस को धर्म कहा गया है।[४] शास्त्रदीपिका के टीकाकार रामकृष्णने भी धृति आदि को ही धर्म मानने का समर्थन किया है।[५] उपर्युक्त सभी स्थलों पर धर्म मानवीय कर्त्तव्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ, तथा ये कर्त्तव्य ही मानव के व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हैं, इनके अभाव में अर्थात् कर्त्तव्य से च्युत होने पर मानव पतित हो जाता है। इसी आधार पर महाभारत धर्म को प्रजाओ का धारण करने वाला भी कह लिया गया है।[६] न्याय में पदार्थों के वैशिष्ट्य को धर्म कहने का उद्देश्य भी उसमें विद्यमान क्रिया और प्रतीति की क्षमता को ही प्रगट करना है। मीमांसा आदि में स्वीकृत धर्म के कर्त्तव्य अर्थ को आधार मान कर ही मनुस्मृति मे भी वेदो को समस्त धर्मो का मूल कहा गया है।[७]

न्यायशास्त्र के प्रस्तुत प्रसंग में धर्म शब्द उपर्युक्त अर्थ के निकट होते हुए भी उनसे भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, प्रशस्तपाद के अनुसार यह धर्म आत्मा का अतीन्द्रिय गुण है, कर्म का सामर्थ्य नही।[८] धर्म के द्वारा ही कर्त्ता को प्रिय सुख उसके साधन तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसका नाश अन्तिम सुख के सम्यक् ज्ञान के द्वारा होता है। वेदादि द्वारा प्रत्येक वर्णों और आश्रमों के लिए बताए हुए द्रव्य गुण और कर्म धर्म के साधन है।[९]

---

१. तर्क किरणावली पृ० २६
२. (क) वैशेषिक सूत्र १.१.२. (ख) उपस्कार भाष्य पृ० ४
३. (क) मीमासा सूत्र १.१.२ (ख) शाबर भाष्य पृ० १२. १३
४. मनुस्मृति २.१२,६.६२
५. सिद्धान्तचन्द्रिका पृ० २५
६. महाभारत शान्तिपर्व
७. मनुस्मृति २.६
८. प्रशस्तपाद विवरण पृ० १३८
९. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३८-१३९

धर्म के साधन द्रव्य आदि में कुछ सर्व सामान्य हैं, अर्थात् प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लिए उपयोगी साधन हैं, और कुछ विशेष अर्थात् किन्ही विशिष्ट वर्णों अथवा आश्रमों के लिए उपयोगी । जैसे: धर्म में श्रद्धा अहिंसा परोपकार सत्यभाषण अस्तेय ब्रह्मचर्य निष्कपटता इत्यादि सामान्य धर्म के साधन हैं, तथा त्रैवर्णिक के लिए यज्ञ अध्ययन और दान, ब्राह्मण के लिए अध्यापन यज्ञ कराना आदि, क्षत्रिय के लिए भली प्रकार प्रजा का पालन दुष्टों को दण्ड देना आदि विशेष धर्म के साधन है ।

आचार्य प्रशस्तपादकृत धर्म के उपर्युक्त परिचय का तात्पर्य है कि धर्म और अधर्म क्रमश: वेद विहित तथा वेद निषिद्ध कर्मो के करने से उत्पन्न होने वाले आत्मा के विशेष गुण है, जिनका प्रत्यक्ष केवल मानस प्रत्यक्ष ही हो सकता है । यह गुण चिरकाल तक आत्मा में विद्यमान रहता है, तथा इसके अनुसार ही पुरुष को कालान्तर में विविध फलों की प्राप्ति होती है । चूंकि नास्तिक दर्शनों में आत्मा और उसके गुण धर्म अधर्म को स्वीकार नही किया गया है, अत: उसकी सिद्धि के लिए नैयायिक अनुमान का आश्रय लेते हैं । केशवमिश्र के अनुसार यह अनुमान निम्नलिखित रूप से हो सकता है : 'देवदत्त का आदि शरीर देवदत्त के विशेष गुणो से प्रेरित भूतो से निर्मित है, क्योंकि वह कार्य है, साथ ही देवदत्त के सुखादि भोग का साधन है, जैसे उसके द्वारा निमित माला आदि । पञ्च भूतों को प्रेरित करने वाला यह धर्म भूतों के धर्म नहीं हो सकते, क्योकि उस स्थिति मे उन्हे प्रत्येक प्राणियो के सुख दु:खों का सामान्य रूप से उत्पादक होना चाहिए, जैसे गन्ध आदि प्रत्येक प्राणियों को समान रूप से उपलब्ध होते हैं, अत: वह भूतप्रेरक धर्म ही है ।[१] चूंकि प्रत्येक पुरुष में समान सुख की प्रतीति न होकर भिन्न भिन्न प्रतीति होती है, अत: धर्म भी प्रति पुरुष में भिन्न होने से संख्या में अनन्त है ।

धर्म के सम्बन्ध में एक आशंका हो सकती है, धर्म को वेद विहित यज्ञ यागादि से भिन्न आत्मा का गुण क्यों स्वीकार किया जाए ? मीमासको द्वारा स्वीकृत यज्ञ यागादि को ही धर्म क्यों न माना जाए ? यज्ञ आदि करने वाले के लिए यह धार्मिक है, इस प्रकार का लोक व्यवहार, यज्ञ आदि को ही धर्म मानकर प्रचलित होता है । नैयायिकों के अनुसार इसका उत्तर यह है कि

---

१. कणादरहस्यम् पृ० १३५-३६

यज्ञ यागादि को **धर्म** मानने पर **धर्म** का फल सुख आदि यज्ञ आदि के वर्त्तमान रहने पर ही होना चाहिए। धर्म के नाश होने पर चिरकाल के अनन्तर सुख आदि की प्रतीति न होनी चाहिए; अतः यज्ञादि साधनो से उत्पन्न चिरकालावस्थायी **धर्म** आदि की सत्ता स्वीकार की जाती है। यज्ञ आदि के लिए **धर्म** शब्द का व्यवहार शक्ति (अभिधाशक्ति) से न होकर **लक्षणा** के द्वारा होता है। जैसे सुख साधन चन्दन आदि अथवा क्रीम पाउडर आदि के लिए सुख शब्द का व्यवहार होता है. उसी प्रकार धर्म के साधन यज्ञ आदि के लिए **धर्म** शब्द का व्यवहार होता है। यज्ञ यागादि व्यापार साध्य देवता की प्रीति को भी **धर्म** नही कहा जा सकता, क्योंकि वह प्रीति भी चिरकालावस्थायी नही हुआ करती। इसके अतिरिक्त चूंकि स्नान दान श्राद्ध आदि वेद विहित कर्मो से देवता की प्रीति उत्पन्न नही होती, इसलिए भी देवता प्रीति को धर्म न कहा जा सकेगा।

याग आदि से उत्पन्न यागादि के प्रध्वंसाभाव को भी धर्म नहीं कहा जा सकता क्योंकि ध्वसाभाव अनन्त अर्थात् अविनाशी होता है; प्रध्वसाभाव के रूप में यदि धर्म को अनन्त कालावस्थायी माना जाएगा, तो उसके कार्य सुखादि को भी अनन्तकालावस्थायी मानना होगा, किन्तु सुखादि की विनश्वरता हम प्रत्यक्ष रूप से प्रतिदिन देखते है, अतः उसके कारण को भी विनश्वर स्वीकार करना आवश्यक होगा।

अतएव यज्ञ यागादि साधन देवता की प्रीति तथा यागादि प्रध्वंसाभाव से भिन्न धर्म की पृथक् सत्ता है। धर्म के कार्य सुख दुखादि का भोग चूकि आत्मा को ही होता है, अतः धर्म को आत्माश्रित गुण स्वीकार किया जाता है।

धर्म का विनाश मुख्य रूप से भोग के द्वारा होता है, किन्तु आत्मा के मुक्त होने पर उसमें विद्यमान धर्म आदि का विनाश तत्वज्ञान के द्वारा होता है।[1] जहां धर्म का नाश **स्वयं कथन** आदि द्वारा कहा गया है, वहा उसका तात्पर्य केवल इतना है कि वह धर्म सुख आदि भोग का उत्पादक नहीं होता। यदि धर्मशास्त्रानुसार कथन आदि से धर्म का नाश माना जाएगा, तो उस स्थिति में भोग के बिना कर्म का नाश नही होता' इत्यादि

१. भगवद्गीता ४.३७

प्रतिपादक श्रुतियों में कर्म का तात्पर्य उन कर्मों से लेना होगा, जिनका कि कथन नहीं किया गया है, अथवा जिनके लिए प्रायश्चित आदि नहीं किया गया है।

अधर्म

धर्म के समान **अधर्म** भी आत्मा का गुण है, इसकी उत्पत्ति वेद विरोधी कर्मों अर्थात् हिंसा आदि के द्वारा होती है। धर्म के समान अधर्म का नाश भी मुख्य रूप से भोग के द्वारा ही होता है; साथ ही धर्म के समान ही प्रायश्चित तथा स्वमुख से कथन आदि के द्वारा भी अधर्म का नाश हो जाता है।

प्रायश्चित आदि द्वारा अधर्म के नाश के प्रसङ्ग में तीन मत प्रचलित हैं, प्रायश्चित द्वारा कृत कर्म का नाश नहीं हुआ करता, किन्तु भविष्य में होने वाले अधर्म की निवृत्ति हो जाती है, फलतः उस प्रकार के एक ही अधर्म के होने के कारण उससे उत्पन्न दुःखलेश की ही अनुभूति होती है, महादुःख की नहीं, प्रायश्चित के अभाव में एक अधर्म के अनन्तर अधर्म की परम्परा ही प्रारम्भ हो जाती है, जिसके फलस्वरूप दुःख की परम्परा रूप महा दुःख की प्राप्ति होती है, इस प्रकार प्रायश्चित से कृत अधर्म का नहीं, अपितु भविष्य में किये जानेवाले अधर्म का नाश होता है।[1]

दूसरे मत अनुसार पातक दो प्रकार का है: **उपपातक और महापातक**। धर्म के उत्पन्नफल का प्रतिबन्धक पाप **उपपातक** कहा जाता है, तथा धर्म की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक पाप **महापातक** कहाता है। प्रायश्चित द्वारा उपपातक का नाश होने से धर्मफल का भोग, तथा महापातक के नाश द्वारा धर्म के प्रतिबन्धक के प्रतिबन्ध से धर्म की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है।[2]

तीसरे मत के अनुसार दुःख का प्रागभाव पूर्व से विद्यमान है, अधर्म द्वारा दुःख के कारण भूत प्रत्यवाय की उत्पत्ति होती है। प्रायश्चित द्वारा दुःख के कारणभूत प्रत्यवाय का विघटन करके दुःख प्रागभाव का ही पालन किया जाता है।[3]

---

१. कणादरहस्यम् पृ० १४३ २. वही पृ० १४३ ३. वही १४२.

पूर्व पृष्ठों में कहा जा चुका है कि 'सुख की उत्पत्ति धर्म से एवं दुःख की उत्पत्ति अधर्म से होती है', आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार उसकी प्रक्रिया निम्नलिखित है : ज्ञान रहित व्यक्ति 'मै ही कर्ता और भोक्ता हूँ' इस अहंकार के कारण दुःख के साधनो को भी सुख का साधन मानता हुआ उन साधनों के प्रति राग करता हुआ उसके उपरोधक साधनों के प्रति द्वेष करता है। प्रवर्त्तक धर्म के कारण 'मैं इस से भी अधिक श्रेष्ठ होऊँ' इस अभिलाषा से अधिकाधिक धर्म करता है, इस प्रकार अधिक धर्म और थोड़े अधर्म के योग से मनुष्यलोक में जन्म लेता है और अपने कर्मो के अनुसार शरीर और इन्द्रियो को प्राप्तकर उनके द्वारा विषय सुखों का भोग करता है, तथा थोड़े अधर्म के कारण उस सुख के बीच भूख प्यास आदि आंशिकदुःखों को भी भोगता है। इसी प्रकार अधिक अधर्म और थोड़ा धर्म होने पर मृत के अनन्त कर्मों के अनुसार पशु पक्षी कीट पतङ्ग आदि योनियों को प्राप्त कर इन्द्रियों द्वारा विषय सम्बन्धी दु.खो को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रवृत्ति मूलक धर्म और अधर्म के द्वारा ही इसके मिश्रण के कारण देव मनुष्य और तिर्यक् योनियो में घूमता हुआ सांसारिक बन्धन का अनुभव करता है।[१]

ज्ञानी मनुष्य निष्काम भावना से कर्म करके उनके फल के रूप में विशुद्ध कुलों मे जन्म लेता है, वहां उसे दुःख नाश के उपायो के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप वह उत्तम गुरुओं के पास पहुचकर न्याय आदि शास्त्रों के अध्ययन से तत्वज्ञान प्राप्त कर अज्ञान की निवृत्ति के कारण अज्ञानजन्य धर्माधर्म के संचय से भी बच जाता है, तथा पूर्व संचित धर्माधर्म का भोग समाप्त होने पर कर्मक्षय के कारण शरीर आदि से भी रहित होकर केवल निवृत्ति विषय धर्म के द्वारा मोक्ष सुख का अनुभव करता है।[२]

इस प्रकार स्वयं मे विद्यमान अज्ञानजन्य धर्म और अधर्म गुणों के कारण वह आत्मा जन्म मरण के दु.ख का अनुभव करता है, तथा तत्वज्ञान से उत्पन्न धर्म के द्वारा उसे मोक्ष की प्राति हो जाती है।

---

१. प्रशस्त पाद भाष्य पृ १४३　　　　२. वही पृ० १४३ १४४

संस्कार

न्याय-शास्त्र में स्वीकृत गुणों में चौबीसवां गुण संस्कार है। संस्कार की परिभाषा संस्कारत्व जाति के आधार पर ही की जाती है, अर्थात् संस्कारत्व जातिवान् को सस्कार कहते है। यह तीन प्रकार का है—**वेग भावना और स्थितिस्थापक**।

वेग --यह केवल मूर्त्त द्रव्यों में अर्थात् पृथ्वी जल अग्नि वायु और मन में ही रहता है। यह दो प्रकार का है : **कर्मजन्य और वेगजन्य**। इच्छा आदि से उत्पन्न शरीर के कर्म से बाण में भी कर्म उत्पन्न होता है और बाणगत उस कर्म से बाण में वेग आरम्भ होता है, यह वेग **कर्मजन्य** है। कभी-कभी कारणगत वेग से कार्य में भी वेग उत्पन्न होता है। वह **वेगजन्य** वेग है। कुछ विद्वानों का विचार है कि वेग से साक्षात् वेग की उत्पत्ति नही होती, अपितु वेगयुक्त द्रव्य के संयोग से अन्य संयुक्त द्रव्य में कर्म उत्पन्न होता है, तथा उस कर्म से पुनः वेग की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वेग सदा ही **कर्मजन्य है**, और इसी लिए केवल एक प्रकार का है।

चूंकि वैशेषिको के अनुसार वेग का नाश स्पर्श युक्त अन्य द्रव्य के संयोग से हो जाता है,[1] अतः वेगयुक्त दो कारणो मे सयोग होने पर कारणगत वेग का नाश हो जाएगा, फलस्वरूप कारण में वेग का अभाव होने से कार्य में उत्पन्न वेग को कारण से उत्पन्न नही माना जा सकता। ऐसे स्थलों पर दो वेग युक्त कारणों का संयोग होने पर प्रथम क्षण में कारणों का सयोग, द्वितीय क्षण में कार्य की उत्पत्ति तृतीय क्षण में कारणगत वेग से कार्य में कर्म, कारण में विद्यमान वेग का नाश तथा कार्य में रूप आदि गुणों के साथ वेग गुण की भी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार कार्यगत वेग भी कर्मजन्य ही है, वेगजन्य नही। यदि यहां कार्यगत वेग का कारण कर्म वेगजन्य है, इस आधार पर कार्य वेग को भी लक्षणा से वेगजन्य कहना चाहे, तो कोई आपति नही है।

यदि विभागज कार्य में उत्पन्न वेग को वेगज कहना चाहें, क्योंकि वहां स्पर्शयुक्त द्रव्यसंयोग जैसा वेग नाशक कोई पदार्थ विद्यमान प्रतीत नहीं होता, तो वह भी उचित न होगा, क्योंकि वहां भी वेग युक्त द्रव्य के विनाश

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३६

का कारण स्पर्श युक्त द्रव्य का संयोग वेग नाश के कारण के रूप में अवश्य ही विद्यमान होगा। उदारणार्थ आकाश में अत्यन्त वेग से उड़ता हुआ विमान स्वय अपने ही वेग के कारण खण्डित नहीं होता अपितु वेग युक्त प्रतिकूल वायु के संयोग के द्वारा ही खंण्डित होता है, उसस्थिति में विमान के अवयवो में विभाग का कारण स्पर्श युक्त वायु का संयोग ही है जो कि वैशेषिकों के अनुसार उसके वेग का भी नाशक होगा। फलतः विमान-रूपी कारण के विभाग से उत्पन्न विमानखण्डरूपी कार्य में वेग पूर्व प्रक्रिया के अनुसार कर्मज ही है, वेगज नही। इस प्रकार वेग को केवल एक प्रकार का अर्थात् कर्म जन्य ही कहा जाय, तो अधिक उचित होगा।

भावना :—देखे अथवा सुने हुए अनुभूत पदार्थ के सम्बन्ध में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा (पहचान) का हेतु आत्मा में विद्यमान विशेष गुण भावना है। इसका विनाश ज्ञान मद दु ख आदि के द्वारा होता है। भावना के कारण के सम्बन्ध में प्राचीन और नवीन नैयायिकों में मत भेद है। प्राचीन नैयायिक विविध विषयों की **स्मृति** और **संस्कार** के लिए **अनुभव** को कारण मानते हैं,[1] **ज्ञान** को नहीं। उनका कहना है कि जब **व्याप्यधर्म** कारण हो रहा हो तो **व्यापकधर्म** कारण न होकर **अन्यथासिद्ध** कहा जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में संस्कार का नियत पूर्ववर्त्ती होने से **अनुभव**, जो कि ज्ञान का व्याप्य है, **कारण** हो रहा है, अतः व्यापकधर्म **ज्ञान** के नियत पूर्ववर्त्ती होने पर भी उसे **अन्यथासिद्ध** कह जाएगा, **कारण** नही। नव्य नैयायिकों का विचार है कि सस्कार के प्रति ज्ञान सामान्य कारण है, अनुभव नहीं। जहां अनुभव संकार का नियत पूर्ववर्त्ती प्रतीत हो रहा है वहा भी वह ज्ञान के रूप में (ज्ञान के एक प्रकार के रूप में) संस्कार का कारण है, अनुभव के रूप में नहीं। अनुभव को ही संस्कार का कारण मानने पर अनुभव से उत्पन्न संस्कार द्वारा स्मरण उत्पन्न होने पर अपने कार्य द्वारा संस्कार का नाश होने के बाद एकबार अनुभूत विषय का एक बार ही स्मरण हो सकेगा, बार बार नही। जब कि हम देखते हैं कि एकबार अनुभव किये हुए पदार्थों का हमें बार बार स्मरण होता है। ज्ञान को संस्कार का कारण मानने पर ज्ञान के रूप में प्रथम अनुभव से संस्कार की उत्पत्ति, उससे स्मरण की उत्पत्ति; स्मृतिरूप ज्ञान से

---

१. तर्कसंग्रह पृ० १६१

पुनः संस्कार और उससे स्मृति की उत्पत्ति होती रहेगी। इस प्रकार सर्वानुभूत अनेकधा स्मरण मे कोई विरोध न होगा।[1]

आत्मा में विद्यमान रहने वाले अन्य गुणों की अपेक्षा यह भावना नामक संस्कार स्थिरतर है, और इसीलिए दूसरी सृष्टि अथवा दूसरे जन्म में भी स्थिर रहता है, तथा सदृश अदृष्ट तथा चिन्ता आदि के द्वारा उद्बुद्ध होकर प्रत्यभिज्ञा को उत्पन्न करता है।[2]

पूर्व पृष्ठों में कहा गया है कि संस्कार से स्मृति और प्रत्यभिज्ञा दोनों की उत्पत्ति होती है, इस पर आपत्ति करते हुए कुछ विद्वानों का कहना है कि संस्कार से केवल स्मृति की उत्पत्ति माननी चाहिए, **प्रत्यभिज्ञा** की नहीं; क्योंकि दोनों को ही संस्कार से उत्पन्न मानने पर उनका परस्पर भेदक लक्षण न बन सकेगा। किन्तु यह आशंका उचित नही है; क्योंकि स्मृति की उत्पत्ति केवल संस्कार से होती है, जबकि प्रत्यभिज्ञा में स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों का होना अनिवार्य रहता है। इस प्रकार यह भावना नामक संस्कार स्मृति और प्रत्यभिज्ञा दोनों का ही कारण है, केवल स्मृति का नही।

स्थितिस्थापक संस्कार : यह स्पर्शयुक्त द्रव्यों में विद्यमान रहता है, इस संस्कार से युक्त द्रव्य को यदि किसी अन्य प्रकार से कर दिया जाये, तो यह उस द्रव्य को पुनः पूर्व अवस्था में पहुँचा देता है।[3] इस संस्कार का अन्य गुणों की भांति प्रत्यक्ष नही होता, किन्तु अनुमान करना होता है। बलपूर्वक झुकाया हुआ धनुष पुनः उसी अवस्था में पहुंच जाता है, झुकाई हुई शाखा पुनः उसी स्थिति में पहुंच जाती है, इसे देखकर कारण के रूप में उसमें विद्यमान **स्थिति-स्थापक (संस्कार)** गुण का अनुमान किया जाता है। यह परमाणुओ में नित्य तथा कार्य द्रव्यों में कारण गुणपूर्वक अनित्य रहता है।

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि न्यायशास्त्र में रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या परिणाम पृथक्त्व सयोग विभाग परत्व अपरत्व गुरुत्व द्रवत्व स्नेह शब्द बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और संस्कार चौबीस गुण-स्वीकार किये जाते है। वैशेषिको के अनुसार गुणों का वर्गीकरण सामान्य

१. तर्ककिरणावली पृ० १६२

२. (क) कणादरहस्यम् पृ० १३३ (ख) न्यायसूत्र ३. १. १६

३. तर्क संग्रह पृ० १६१

और विशेषगुणों के रूप में किया जाता है। इस वर्गीकरण के अनुसार रूप रस गन्ध स्पर्श स्नेह सासिद्धिक द्रवत्व बुद्धि सुख दुख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म शब्द और भावना विशेषगुण अथवा वैशेषिक गुण तथा शेष सामान्य गुण कहे जाते हैं।[1]

इन चौबीस गुणों मे रूप रस गन्ध स्पर्श परत्व अपरत्व द्रवत्व स्नेह और वेगनामक सस्कार केवल मूर्त्त द्रव्यो में रहते हैं, तथा बुद्धि सुख दुख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म शब्द और भावनानामक संस्कार केवल अमूर्त्त द्रव्यों में आश्रित रहते रहते है। संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग और विभाग मूर्त्त और अमूर्त्त दोनो ही प्रकार के द्रव्यो में रहते है।[2]

संयोग विभाग द्वित्व आदि संख्या, तथा द्वि:पृथक्त्व आदि अनेक द्रव्यों में आश्रित तथा शेष एक द्रव्य में आश्रित गुण है।[3]

रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द एक इन्द्रियों से गृहीत होते हैं, एवं इनका ग्रहण केवल बाह्य इन्द्रियों से होता है, तथा संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्व द्रवत्व और स्नेह का ग्रहण दो दो इन्द्रियों से होता है, एवं गुरुत्व धर्म अधर्म और भावना नामक संस्कार अतीन्द्रिय हैं।[4]

विभु द्रव्यों में विद्यमान गुण कारणगुण पूर्वक नही होते। क्योंकि इन गुणों के आश्रय द्रव्य इनके कारण नहीं माने जाते। अपाकज रूप रस गन्ध स्पर्श सांसिद्धिक द्रवत्व स्नेह गुरुत्व पृथक्त्व परिमाण तथा वेग और स्थितिस्थापक-संस्कार कार्यो में कारण गुणो के समान ही होते हैं। सयोग विभाग और वेग की उत्पत्ति कर्म से होती है।

रूप रस गन्ध स्पर्श परिमाण एक पृथक्त्व स्नेह और शब्द अन्य गुणों की उत्पत्ति में असमवायिकारण हुआ करते है। वैशेषिक गुण बुद्धि आदि के प्रति आत्मा को निमित्त कारण माना जाता है। उष्णस्पर्श गुरुत्व द्रवत्व संयोग विभाग तथा वेगनामक सस्कार किन्ही गुणों के प्रति असयवायिकारण होते हैं, और किन्ही के प्रति निमित्त कारण भी।

---

१. भाषापरिच्छेद ९०-९१
२. वही ८६-८८
३. वही ८९-९०
४. वही ९२-९४
५. वही ९४-९६
६. वही ९७-९९

उपसंहार

द्रव्य और गुण के अतिरिक्त न्याय शास्त्र में कर्म सामान्य (जाति) विशेष समवाय और अभाव नाम से कुल सात पदार्थ स्वीकार किये थे, जिनका विवेचन पदार्थ विमर्श में किया जा चुका है। कणाद ने इनमें से केवल छ पदार्थों का ही परिगणन किया था, अभाव नामक पदार्थ उत्तरकाल में जोड़ दिया गया है।

गौतम ने न्यायशास्त्र में प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति और निग्रहस्थान नाम से सोलह पदार्थों को स्वीकार किया था,[1] किन्तु नव्यन्याय का उदय होने पर वैशेषिक के छः पदार्थों में अभाव की वृद्धि कर गौतम स्वीकृत सोलह पदार्थों का अन्तर्भाव उनमें ही मान लिया गया। गौतम ने प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और आगम चार प्रमाण माने थे,[2] उत्तरकाल में न्याय-शास्त्र में उन चारों को ही अविकल स्वीकार कर लिया गया। गौतभ के अनुसार आत्मा शरीर इन्द्रिय अर्थ बुद्धि मनस् प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव फल दुख और अपवर्ग ये बारह प्रमेय हैं।[3] उत्तर कालीन न्याय में **आत्मा और मनस्** को इन्ही नाम से द्रव्य माना गया है। **शरीर** और **इन्द्रिय** भौतिक होने से पृथिवी आदि पाच भूतों में अन्तर्भूत हो जाती है। गौतम के अनुसार **गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द** ये पांचो **अर्थ** पृथिवी आदि के गुण ही हैं, स्वतन्त्र नहीं।[4] **बुद्धि प्रवृत्ति** (धर्म और अधर्म) गुण कहे जाते हैं। **दोषों में राग** इच्छा नामक गुण है, **द्वेष** गुणों में ही अन्यतम है। शरीर आदि में आत्मत्व भ्रम रूप **मोह** अज्ञान होने से बुद्धि का ही एक प्रकार है। प्रेत्यभाव मरण रूप होने से ध्वंसाभाव है, और जन्म शरीर और आत्मा का सयोग होने से गुण माना जा सकता है। सुख दुःख भोगात्मक **फल** ज्ञान का एक प्रकार होने से बुद्धि का ही एक प्रकार है। **अपवर्ग** अर्थात् मोक्ष चूंकि आत्यन्तिक दुःख-अभाव रूप है, अतः वह ध्वंसाभाव से भिन्न नहीं है। **संशय** ज्ञान का प्रकार होने से बुद्धि का भेद है। **प्रयोजन सुखप्राप्ति** सम्बन्ध होने से सयोग गुण तथा **दुःखहानि** ध्वंस होने से अभाव का प्रकार है।

---

१. न्याय सूत्र १. १. १ २. वही १. १. ३.
३. वही १. १. ९ ४. वही १.१-१४

दृष्टान्त न्यायाङ्ग होने से ज्ञान का प्रकार है, **सिद्धान्त** निश्चय रूप होने से प्रमाण का फल है, **अवयव तर्क** और **निर्णय** स्पष्टतः ज्ञान के ही प्रकार हैं। तत्वज्ञान के लिए कथा **वाद**, पक्ष विपक्ष दोनों को सिद्ध करने वाली विजय कामना से की जाने वाली कथा **जल्प**, अपने पक्ष की स्थापना के बिना ही परपक्ष के खण्डन मात्र मे प्रवृत्त कथा **वितण्डा** कथा रूप है; तथा कथा पूर्व और उत्तर पक्ष प्रतिपादक वाक्य सन्दर्भ मात्र होने से शब्द गुण है स्वतन्त्र पदार्थ नहीं। अनुमिति अथवा उसके करण परामर्श में प्रतिबन्धक हेत्वाभास भी स्वतन्त्र पदार्थ नही है, तथा अनुमान के अंग हेतु के यथार्थ ज्ञान रूप होने से असद् हेतु रूप हेत्वाभास का अयथार्थ ज्ञान में अन्तर्भाव होना चाहिए। छल चूंकि शब्दात्मक है, तथा साधर्म्य वैधर्म्य आदि जातिया भी असद् उत्तर होने से शब्दात्मक ही हैं, अतः उनका भी अन्तर्भाव गुण में होगा। निग्रह स्थानों में **प्रतिज्ञाहानि अननुभाषण अज्ञान अप्रतिभा विक्षेप** तथा **पर्यनुयोज्योपेक्षण** का अभाव में तथा शेष का गुणों में अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार न्याय दर्शन स्वीकृत सोलह पदार्थों का अन्तर्भाव इन सात में ही हो जाता है।

मीमांसक शक्ति नामक एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते है, नैयायिकों के अनुसार उसका अन्तर्भाव भी अभाव में हो जाता है, इसे हम पदार्थ विमर्श में स्पष्ट कर चुके है।[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सभी पदार्थों का अन्तर्भाव केवल सात पदार्थो मे ही हो जाता है, अतः नैयायिकों के अनुसार पदार्थ सात ही है।

---

१ इसी पुस्तक के पृ० १८-१९ द्रष्टव्य है :

परिशिष्ट १

पाद टिप्पणी में संकेतित ग्रन्थों का अपेक्षित मूल पाठ

भूमिका

पृष्ठ १०

१. (क) कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिक महत्
गौतमेन तथा न्यायं, सांख्यं तु कपिलेन वै ।

पद्मपुराण उत्तर खण्ड २६३

(ख) गौतमः स्वेन तर्केण खण्डयन्तत्र तत्र हि ।

स्कन्दकलिका खण्ड अ० १६

(ग) गौतमप्रोक्तशास्त्रार्थनिरताः सर्व एव हि ।

गान्धर्व तन्त्र-प्राणतोषिणी तन्त्र में उद्धृत

(घ) मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्
गौतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः ।

नैषधीय चरितम् १७. ७५

(ङ) एषा मुनिप्रवरगोतमसूत्रवृत्तिः श्री विश्वनाथकृतिना सुगमाल्पवृत्तिः ।

न्यायसूत्र वृत्ति पृ० १८५

पृष्ठ ११

१. (क) योक्षपादमृषि न्यायःप्रत्यभाद्वदतां वरम् ।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्त्तयत् ।

न्याय भाष्य पृ० २५८

(ख) यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद ।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः करिष्यते तस्य मया निबन्धः

न्यायवार्तिक

(ग) अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते ।

न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका:

(घ) अक्षपाद प्रणीतो हि विततो न्यायपादपः ।
सान्द्रामृतरसस्यन्दफलसन्दर्भनिर्भरः ।

न्याय मञ्जरी पृ० १

२. भोः काश्यपगोत्रोस्मि । साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं, प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च । प्रतिमानाटक पृ० ७९

3. Medhatithi Gotama is more or less a mythical person, and there is no proof that he ever wrote anything.

Vātsyāyana himself refers to Akshapāda as the person to whom Nyaya (the science of logic) revealed itself. Udyotkara also refers to Akshapāda as the utterer of Nyaya Shastra and so also does Vāchaspati There is therefore absolutely no reason the why original authorship of Nyaya should be attributed to Gotama as against Akshapāda.

The Nyaya Shastra, therefore, can not be traced on the evidence of the earliest Nyaya authorities to any earlier Gotama; for had this been so, it would certainly have been mentioned by either Vātsyāyna, Udyotkara or Vāchaspati.

History of Indian Philosophy Vol I pp. 393-94.

४. तदाहं सभविष्याभि सोमशर्मा द्विजोत्तमः ।
प्रभासतीर्थमासाद्य योगात्मा लोकविश्रुतः ।
तत्रापि मम ते पुत्राः भविष्यन्ति तपोधनाः ।
अक्षपादः कणादश्च उलूकी वत्स एव च ।

ब्रह्माण्ड पुराण अ० २३

५. मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः ।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम् ।

महाभारत शान्तिपर्व २६५०.४५

पृष्ठ १४

२. नित्यमेव च भावात्, रूपादिमत्वाच्च विपर्ययादर्शनात् ।

वेदान्तसूत्र २.२.१४-१५

४. न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य । न्यायसूत्र ४.१.६४

५. (क) क्षीर विनाशे कारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिः। न्यायसूत्र ३.२.१५
(ख) उपसंहार दर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि । वेदान्तसूत्र २.१.२४

६. वाक्य विभागस्य चार्थग्रहणात् । विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् । विधिः विधायकः। स्तुति निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः । विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः । नानुवादपुनरुक्तयो विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः । शीघ्रतर गमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेष. ।
न्यायसूत्र २.१.६१-६७

पृष्ठ २०

१. दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये संचक्षते : जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्ति प्रयोजनं संशयव्युदासः इति।
न्यायभाष्य पृ० २९

पृष्ठ २१

१. वात्स्यायनो मल्लनाग, कौटिल्यश्चणकात्मजः ।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः।
अभिधान चिन्तामणि ।

पृष्ठ २२

१. न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपां······वासदत्तां ददर्श । वासवदत्ता ।

पृष्ठ ३०

१. योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम् ।
चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १७५

पृष्ठ ३१

१. (क) अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम् ।
न्यायभाष्य पृ० १७

(ख) यद्यवयवी नास्ति सर्वस्य ग्रहणं नोपपद्यते। किंतत्सर्वम् ?
द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः । वही पृ० ६७

पृष्ठ १

१. सम्यग्दर्शनसम्पन्न· कर्मभिर्न निबध्यते
दर्शनेन विहीनस्तु ससारं प्रतिपद्यते । मनुस्मृति ६.७४

पृष्ठ ३

१. कपिलस्य कणादस्य गौतमस्य पतञ्जलेः
व्यासस्य जैमिनेश्चापि शास्त्राण्याहुः षडेव हि ।
सर्वदर्शन संग्रह उपोद्घात पृ० १

२. वाच्या सा सर्वशब्दानां शब्दाच्च न पृथक्ततः
अपृथक्त्वेऽपि सबन्धस्तयोर्जीवात्मनोरिव । वही पृ० ११६

पृष्ठ १०

१. (क) शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् । सुश्रुत सहिता ।
(ख) इति धन शरीर भोगान्मत्वऽनित्यान्सदैव यतनीयम्
मुक्तौ, सा च ज्ञानात्तच्चाभ्यासात्स च स्थिरे देहे ।
गोविन्दपाद कारिका

२. संसारस्य पर पार दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः
पारदो गदितो यस्मात् परार्थ साधकोत्तमैः । गोविन्दपाद कारिका

पृ० १२

२. अभिमानोऽहंकारः तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणः तन्मात्रः पञ्चकश्चैव ।
उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
सांख्यकारिका २४, २७

पृ० १४

१. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य
वैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम् । वैशेषिक सूत्र १. १. ४.

पृष्ठ १५

१. अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम् । तर्कदीपिका पृ० ८
२. ज्ञेयत्व प्रमितिविषयत्वं हि पदार्थत्वम् । सिद्धान्त चन्द्रिका

पृष्ठ १९

१. नव्यास्तु सादृश्यमतिरिक्तमेव । नचातिरिक्तत्वे पदार्थविभाग-व्याघात इति वाच्यम्, तस्य साक्षात् परम्परया वा तत्वज्ञानोपयोगि-पदार्थमात्रनिरूपणपरत्वात् ।
न्याय मुक्तावली दिनकरी पृ० ६२-६३ ।
२. द्रव्यत्वजातिमत्वं द्रव्यत्वम् । तर्क दीपिका पृ० १२
३. द्रव्यवृत्ति र्या समवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारण-तात्वात्, दण्डवृति कारणतावत् । सिद्धान्त चन्द्रिका ५
४. गुणवत्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम् । तर्क दीपिका पृ० १२

पृष्ठ २०

१. दूषणत्रयरहितोधर्मः लक्षणम् । तर्क दीपिका पृ० १४
२. लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् ।
तर्क किरणावली पृ० १३.
३. अतिव्याप्तिः लक्ष्यतावच्छेदक सामानाधिकरण्ये सति लक्ष्यतावच्छेदका-वच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदसामानाधिकरण्यम् ।—वही पृ० १४
४. असम्भवो नाम—लक्ष्यतावछेदकव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम् ।
वही पृ० १४
५. स एवासाधारणो धर्म इत्युच्यते व्यावर्त्तकस्यैव लक्षणत्वे धर्मविशेषणं देयम् । तर्क दीपिका पृ० १४-१६
६. आद्ये क्षणे द्रव्य निगुणं निष्क्रिय च तिष्ठति । तर्क किरणावली पृ० १३
७. गुणसमानाधिकरणसत्ताभिन्नद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्वं द्रव्य-लक्षणम् । तर्क दीपिका पृ० १७

पृष्ठ २१

१. तमो हि न रूपवद् आलोकासहकृतचक्षुर्ग्राह्यत्वाभावात् ।···रूपिद्रव्य चाक्षुषप्रमायां आलोकस्य कारणत्वात् । तस्मात्प्रौढप्रकाशक तेजः सामान्याभावस्तमः । तर्क पृ० दीपिका ११. १२

पृष्ठ २२

१. गुणाश्च रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्वापरत्व बुद्धि सुख दुखेच्छा द्वेष प्रयत्नाश्चेति कण्ठोक्ता: सप्तदश । च शब्दसमुचिताश्च गुरुत्वद्रत्वत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दा: सप्तैवेत्येव चतुर्विशतिर्गुणाः । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४-३

२. द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान्गुणः । गुणत्वजातिमान्वा: ।
तर्क दीपिका पृ० १८

पृष्ठ २३

१. (क) द्रव्याश्रितत्वं न लक्षणं कर्मादावतिव्याप्ते: ।
न्यायमुक्तावली पृ० ४.३६

(ख) आदिना सामान्यपरिग्रह. । दिनकरी पृ० ४३६

२. द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति गुण लक्षणम् ।
वैशेषिक सूत्र १.१.१६

पृष्ठ २४

१. चकारेण गुरुत्व द्रवत्व स्नेह संस्कार धर्माधर्मशब्दान् समुच्चिनोति । ते हि प्रसिद्ध गुणभावा एवेति कण्ठतो नोक्ता ।
वैशेषिक उपस्कार १.१.६

पृ० २५

१. स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्य: संस्कारो मरुतो गुणाः ।
कारिकावली ३०

२. अष्टौ स्पर्शादयो रूपं द्रवो वेगश्च तेजसि । वही ३० ,,

३. स्पर्शादयोष्टौ वेगश्च गुरुत्व च द्रवत्वकम्
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश । वही ३१

४. स्नेहहीना गन्धयुता:क्षितावेते चतुर्दश । वही ३२

५. बुद्ध्यादिषट्कं सख्यादिपञ्चकं भावना तथा ।
धर्माधर्मौ गुणा एते आत्मनः स्यु: चतुर्दश । कारिकावली ३३

६. सांख्यादिपंचकं कालदिशो: । वही ३३

७. शब्दश्च ते च खे । वही ३३

८. संख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छायत्नोपि चेश्वरे । वही ३३४

९. परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे । वही ३४

१०. संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा ।
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्त्तिताः । वही ९१-९२

पृष्ठ २६

१. बुद्धयादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः ।
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिकाः गुणाः । वही ९०-९१

२. सख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्वं स्नेह एव च ।
एते तु द्वीन्द्रियग्राह्याः, अथ स्पर्शान्तशब्दकाः ।
बाह्यैकैकेन्द्रिय ग्राह्याः, गुरुत्वादृष्टभावनाः । वही ९२-९४ ।

३. उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ।
वैशेषिक सूत्र १.१.७

४. न चोत्क्षेपणादीना गमनेऽन्नर्भावोऽस्त्विवति शंकनीयं, स्वतन्त्रेच्छस्य नियोगपर्यनुयोगानर्हस्य ऋषेः सम्मतत्वात् ।
तर्कदीपिकाप्रकाश नीलकण्ठकृत ।

५. एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्म लक्षणम् ।
वैशेषिक सूत्र १.१.१७

६. संयोगासमवायिकारणं कर्म । तर्क दीपिका पृ० १९

पृष्ठ २७

१. नित्यावृत्ति सत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमत्वम् कर्मत्वम् । चलतीति प्रत्ययासाधारणकारणतावच्छेदकजातिमत्वं वा गुणान्यनिर्गुण-मात्रवृत्तिजातिमत्वं वा, स्वोत्पत्यव्यवहितोत्तरक्षणवृत्ति विभाग-कारणतावच्छेदकजातिमत्वं वा । उपस्कार भाष्य पृ० २४

२. सामान्यमनुवृत्ति प्रत्ययकारणम् । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४

३. नित्यमनेकानुगतं सामान्यम् । तर्क संग्रह पृ० २०

पृष्ठ २८

१. सामान्यं विशेष इतिबुद्धयपेक्षम् । वैशेषिकदर्शन १.२.७.

२. साक्षात्सम्बद्धमखण्डसामान्यं जातिः, परम्परया सम्बद्धं सखण्डसामान्यं उपाधिः । तर्क किरणावली पृ० २२

पृष्ठ २९

१. व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक संग्रहः ।

द्रव्य किरणावली

२, व्यक्तेरभेद एकव्यक्तिकत्वमाकाशादेर्जातिमत्वे बाधकम् ।

दिनकरी पृष्ठ ७७

३. तुल्यत्वं तुल्यव्यक्ति वृत्तित्व घटत्वकलशत्वादीना भेदे । वस्तुतस्तु तुल्यत्वं स्वभिन्नजातिसमनियतत्वमिति यावत् । तच्च जातिबाधकमेवेति ध्येयम् । वही पृ० ७७.

४. परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरणयोरेकत्र समावेश भूतत्वादेर्जातिमत्वे बाधकः । वही पृ० ७८

५. अनवस्थातु जातेर्जातिमत्वे । वही पृ० ७८

पृष्ठ ३०

१. रूपहानिः सामान्यगर्भलक्षणव्याघातरूपा विशेषस्य जातिमत्वे । यद्वा रूपस्य स्वतो व्यावर्त्तत्वस्य हानिः । वही ७८-७९

२. असम्बन्धः प्रतियोगितानुयोगितान्यतरसम्बन्धेन समवायाभावः समवायाभावयोः जातिमत्वे बाधकः । वही पृ० ७९-८०

३. जातिरहितत्वे सति नित्यद्रव्यमात्रवृत्तिः एकमात्रशून्यत्वे सति सामान्यशून्यः, अत्यन्तव्यावृत्तिहेतुर्वा विशेषः ।

Nots on Tarka Samgraha P. 94

पृष्ठ ३१

१. घटादीनां कपालसमवेतत्वादिकं पटादिभेदकमस्ति, परमाणूनान्तु परस्पर भेदकं न किञ्चिदस्त्यतोऽनायत्या विशेष आश्रयितव्यः ।

सिद्धान्तचन्द्रिका ।

२. अथान्त्यविशेषेष्विव परमाणुषु कस्मान्न स्वतः प्रत्ययव्यावृत्तिप्रत्यभिज्ञानं कल्प्यत इति चेन्न, तदात्म्यात् (विशेषस्यव्यावर्त्तकरूपत्वात्) । इह तादात्म्यनिमितप्रत्ययो भवति, यथा घटादिषु प्रदीपात् न तु प्रदीपे प्रदीपात् । यथा च श्वमांसादीनां स्वत एवाशुचित्वं

तद्योगाच्चान्येषान्तथेहापि तदात्म्यादन्त्यविशेषेषु स्वत एव प्रत्ययव्यावृत्ति. तद्योगाच्च परमाणु आदिषु। प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १६९-७०

३. इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः सः समवायः। वैशेषिकसूत्र ७.२. २६.

पृष्ठ ३२

१. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां कार्यकारणभूतानामकार्यकारणभूतानां वाऽयुतसिद्धानामाधार्याधारभावेनावस्थितानामिहेदमिति बुद्धिर्यतो भवति...स समवायाख्यः सम्बन्धः।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १७।

पृष्ठ ३३

१. यथा ह्यणुभ्यामत्यन्तभिन्न सद् द्वयणुकं समवायलक्षणेन सम्बन्धेन ताभ्यां संबध्यते, एव समवायोऽपि समवायिभ्योऽत्यन्तभिन्नः सन्समवायलक्षणेनान्येनैव सम्बन्धेन समवायिभिः सम्बध्येत अत्यन्तभेदसाम्यात्। ततश्च तस्य तस्यान्योन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्यः इत्यनवस्थैव प्रसज्येत। ननु --इह प्रत्ययग्राह्यः समवायो नित्यसम्बन्ध एव समवायिभिः गृह्यते नासम्बन्धः सम्बन्धान्तरो वा। ततश्च न तस्यान्यः सम्बन्धः कल्पयितव्यो येनानवस्था प्रसज्येतेति-नेत्युच्यते—संयोगोप्येवं सति संयोगिभिर्नित्यसंबद्ध एवेति समवायवन्नान्यं सम्बन्धमपेक्षेत। अथार्थान्तरत्वात्संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षेत, समवायोऽपि तर्ह्यर्थान्तरत्वात्सम्बन्धान्तरमपेक्षेत········समवायान्तरमभ्युपगच्छतः प्रसज्येतैवानवस्था। शांकरभाष्य— २.२. १३।

२. न च गुणत्वात्संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षते न समवायोऽगुणत्वादिति-युज्यते वक्तुम् अपेक्षाकारणस्य तुल्यत्वात्। गुणपरिभाषायाश्चातन्त्रत्वात्। तस्मात् अर्थान्तरं समवायमभ्युपगच्छतः प्रसज्येतैवानवस्था।

वेदान्तसूत्र शांकर भाष्य २.२.१३

पृष्ठ ३४

अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोप्यत्यन्ताभाव एव च।
एवं त्रैविध्यमापन्नः ससर्गाभाव इष्यते॥ कारिकावली १२-१३

पृष्ठ २५

1. An अन्योन्याभाव may be resolved in to two संसर्गाभाव S. For instance घटः पटो नास्ति is a proposition offirming the mutual negation of घट and पट; and it may be split up in to two proposition घटे पटत्वं नास्ति and पटे घटत्व नास्ति, both of which are examples of ससर्गाभाव. In अन्योन्याभाव the words expressive of the two things are always in the same case, i. e. the nominative; while in the other case one word is usually in the locative case as denoting the अधिकरण on which the nagtion rests.

Notes on Tarkasangraha; by Bodas P. 100

२. अभावत्वं द्रव्यादिषट्कान्योन्याभावत्वम् ।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ९२

३. एते च पदार्थाः प्रधानतयोद्दिष्टाः अभावस्तु स्वरूपवानपि नोद्दिष्टः प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्, न तु तुच्छत्वात् ।

—किरणावली

पृष्ठ ३७

१. रूपरसगन्धवती पृथिवी । वैशेषिक सूत्र २.१, १ ।

२. गन्धवती पृथिवी । तर्क संग्रह पृ० २६ ।

३. पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात्पृथिवी । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १० ।

४. ननु सुरभ्यसुरभ्यवयवारब्धे द्रव्ये परस्परविरोधेन गन्धानुत्पादादव्याप्तिः । न च तत्र गन्धप्रतीत्यनुपपत्तिरिति वाच्यम् । अवयव गन्धस्यैव तत्र भानसंभवेन चित्रगन्धानङ्गीकारात् । किञ्च उत्पन्नविनष्टघटादावव्याप्तिरितिचेन्न गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यपरजातिमत्वस्य विवक्षितत्वात् ।

तर्कदीपिका पृ० २७-२८

पृष्ठ ३८

१. रूप-रस-गन्ध-स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्व-द्रवत्वसंस्कारवती । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११

२. स्पर्शादयोष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम् ।
रूपं रसस्तथा गन्धः क्षितावेते चतुर्दश । कारिकावली ३१

३. (क) तत्पुनः पृथिव्यादिकार्यद्रव्यं त्रिविध शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ।
वैशेषिक सूत्र १७०

(ख) त्रिविधं चास्याः कार्यम्, शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ।
प्रशस्तपाद पृ० १२ ।

पृष्ठ ३९

१. (क) आत्मनो भोगायतनं शरीरम् । न्यायमञ्जरी ४५
(ख) ,, ,, ,, तर्कदीपिका पृ० २९

२. क्रियावत् अन्त्यावयवित्वम् (शरीरत्वम्) वैशेषिक उपस्कार ४.२.१

३, अवयवजन्यत्वे सति, अवयव्यजनकत्वम् । M. R. Bodos

४. चेष्टेन्द्रियार्थश्रयः शरीरम् । न्यायदर्शन १.१.११

५. तत्रायोनिजमनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहिते-भ्योऽणुभ्योजायते । क्षुद्रजन्तूनांयातनाशरीराण्यधर्मविशेषसहितेभ्यो-ऽणुभ्यो जायन्ते । शुक्रशोणितसन्निपातजं योनिजं, तद्विविधं–जरायुज-मण्डजं च । प्रशस्तपादभाष्य पृ० १३

६. शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्व-मिन्द्रियत्वम् । उपस्कार भाष्य पृ० १२४

पृष्ठ ४०

१. (क) शरीरसयुक्तं ज्ञानकारणमतीन्द्रियम्'। तत्वचिन्तामणि
(ख) 'स्मृत्यजनकमनः संयोगाश्रयत्वम् इन्द्रियत्वम् ।
उपस्कार भाष्य पृ० १२४

२. घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः ।
तथा रसो रसज्ञायाः तथा शब्दोऽपि च स्मृतेः ।
उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये ।
विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ।
क्रियां जाति योग्यवृत्ति समवायं च तादृशम् ।
गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥

उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः।
रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम् ।
कारिकावली—५३-५६ ।

३. (क) भोगोपयोगित्वं विषयत्वम् ।
(ख) उपभोगसाधन विषयः । न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० १६२

४. विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृत. । कारिकावली ३८

५. (क) शरीरेन्द्रिययोः विषयत्वेऽपि प्रकारान्तरेणोपन्यासः शिष्यबुद्धि-वैशद्यार्थः । न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० १६४
(ख) वस्तुतस्तु शरीरादिकमपि विषय एव, भेदेन कीर्त्तनन्तु बालधी वैशद्याय । —सिद्धान्त चन्द्रिका ।

६. चेष्टावत्वमिन्द्रियत्व च नोद्भिदां स्फुटतरम् अतो न शरीर व्यवहारः ।
वैशेषिक उपस्कार ४.२.५.

पृष्ठ ४१

१. विषयस्तु द्वयणुकादि क्रमेणारब्धस्त्रिविधो मृत्पाषाणस्थावर लक्षणः । ......स्थावरास्तृणौषधिवृक्षलतावतानवनस्तयः इति ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३ ।

२. अयोनिजं स्वेदजोद्भिज्जादिकम्,..... उद्भिज्जास्तरुगुलमाद्याः । ......न च वृक्षादेः शरीरत्वे कि मानमितिवाच्यम् । अध्यात्मिकवायु-सम्बन्धस्य प्रमाणत्वात् तत्रैव कि मानमिति चेत् भग्नक्षतसंरोहणा-दिना तदुन्नयनात् । न्याय मुक्तावली पृ० १५७-१५६ ।

३. तेन पार्थिवादिशरीरे जलादीनां निमित्तत्वमात्रं बोध्यम् ।
—वही पृ० १५८

४. जलीयतैजसवायवीयशरीराणां पार्थिवभागोपष्टम्भात् उपभोग क्षमत्वम्, जलादीनां प्राधान्याज्जलीयत्वादिकम् इति ।
वही पृ० १८६ ।

५. पार्थिवाप्यादिशरीरेषु मध्ये पार्थिवं शरीरं द्विविधम् ।...योनिज-मयोनिजं च । आप्यतैजसवायवीयशरीराणां वरुणादित्यवायुलोकेषु प्रसिद्धानामयोनिजत्वमेव । उपस्कार भाष्य ४.२.५

६. (क) कृष्णताराधिष्ठानं चक्षुः बहिर्निसृतरूपग्रहणलिङ्गम्, नासाधिष्ठानं घ्राणम्, जिह्वाधिष्ठानं रसनं, कर्णछिद्राधिष्ठानं श्रोत्रम् ।

—न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य पृ० १४२

(ख) चक्षुर्हि गत्वा गृह्णाति, त्वग्देहावच्छेदेन, श्रोत्रं कर्णावच्छेदेन ।

न्यायदर्शन विश्वनाथवृत्ति ९२

(ग) चक्षुषः तेजः प्रसरणात्प्राप्यकारिता ।

—न्यायमजरी प्रमेयप्रकरण पृ० ५०

पृष्ठ ४२

१. विषयः सरित् समुद्रादिः । तर्क सग्रह पृ० ३३

२. विषयश्चतुर्विधः भौमदिव्यौदर्याकरजभेदात् ।
भौमं वह्न्यादिकम्, अबिन्धनं दिव्यं विद्युतादिः,
भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यमाकरजं सुवर्णादि ।

वही ३४

३. सुवर्णं तैजसं असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्तानलसंयोगे सत्यप्यनुच्छिद्यमान द्रवत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा पृथिवीति । न्याय मुक्तावली पृ० १०९

४. तत्र कार्यलक्षणश्चतुर्विधः शरीरमिन्द्रियम्प्राणः विषयश्चेति ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २७ ।

पृष्ठ ४३

१. प्राणादिमहावायु पर्य्यन्तो विषयो मतः । कारिकावली पृ० २८९

२. शरीरान्तः संचारी वायुः प्राणः । तर्क संग्रह । पृ० ३९

३. प्राणोऽन्तःशरीरे रसमलधातूनां प्रेरणादिहेतुरेकः सन् क्रियाभेदादपानादि संज्ञां लभते । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १९ ।

४. मुखनासिकाभ्यां निष्क्रमणप्रवेशनात्प्राणः, मलादीनामधो नयनादपानः । आहारेषु पाकार्थं वह्नेः समुन्नयनात् समानः, ऊर्ध्वं नयनादुदानः, नाडी मुखेषु विततनाद व्यानः ।

प्रशस्तपाद भाष्य विवरण १९

५. स्पर्शादियोष्टौ वेगाख्य: संस्कारो मरुतो गुणाः । कारिकावली पृ० १३६

पृष्ठ ४४

१. योऽयं वायौ वाति सति अनुष्णाशीतस्पर्शो भासते स: स्पर्शः क्वचिदाश्रितः, गुणत्वाद्रूपवत् । उपस्कार भाष्य २.१.१६

२. वायु: प्रत्यक्षः, प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्, यो यो द्रव्ये सति प्रत्यक्षस्पर्शाश्रय: स स प्रत्यक्षः, यथा पृथिवी, तथा चायम्, तस्माद् वायु: प्रत्यक्षः ।
—उपस्कार भाष्य पूर्व पक्ष । २.१.९

३. साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः । तर्क संग्रह ११४

४. सोपाधिको हेतु व्याप्यत्वासिद्धः । वही पृ० ११४

पृष्ठ ४५

१. (क) बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षमात्रे न रूप कारणं प्रमाणाभावात्, किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपं स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्श: कारणम् । बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे आत्माऽवृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्वं प्रयोजकमस्तु । न्याय मुक्तावली पृ० २४३ ।
(ख) महत्वविशिष्टविभुव्यावृत्तविशेषणः, महत्वविशिष्टोद्भूतरूप, उद्भूतस्पर्शान्यतरद्वा कारणम् । सिद्धान्त चन्द्रिका ।

पृष्ठ ४६

१. ततः पुनः प्राणिनां भोगभूतये महेश्वरसिसृक्षानन्तरं सर्वात्मगतवृत्ति लब्धादृष्टापेक्षेभ्यस्तत्संयोगेभ्यःपवनपरमाणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगेभ्यो द्व्यणुकादिक्रमेण महान्वायु. समुत्पन्नो··· तदनन्तरमाप्येभ्यः परमाणुभ्यस्तेनैव क्रमेण महान्सलिलनिधिरुत्पन्नः, ···तदनन्तरं पार्थिवेभ्यः परमाणुभ्यो महापृथिवी···तदनन्तरं तस्मिन्नेव महोदधौ तैजसेभ्यो द्व्यणुकादिक्रमेणोत्पन्नो महांस्तेजोराशिः ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २१-२२ ।

२. उत्पत्तिक्रमस्तूत्पत्तावेव श्रुतत्वान्नाप्यये भवितुमर्हति । न चासावयोग्यत्वादप्ययेनाकांक्ष्यते । नहि कार्ये ध्रियमाणे कारणस्याप्ययो युक्तः, कारणाप्यये कार्यस्यावस्थानानुपपत्तेः ।
ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २.३.१४

पृष्ठ ४७

१. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । ऋग्वेद १०. १९०. ३

२. सृष्टिप्रलयसद्भावे 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि श्रुतिः प्रमाणम् । सर्वकार्यद्रव्यध्वंसोऽवान्तरप्रलयः । सर्वभावकार्यध्वंसो महाप्रलय इति । तर्क दीपिका । पृ० ४५

३. (क) यत्कार्यद्रव्य तत्सावयव, यच्च सावयव तत्कार्यद्रव्यं, तथा च यतोऽवयवात्कार्यत्वं निवर्त्तते ततो सावयवत्वमपि इति निरवयवपरमाणुसिद्धिः । उपस्कार भाष्य ४.१.२

(ख) द्व्यणुकः सावयवः महदारम्भकत्वात् । त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वाद्घटवत् । त्रसरेणोरवयवा.(द्व्यणुकाः) सावयवाः महदारम्भकत्वात्कपालवत् । मुक्तावली पृ० १५५

पृष्ठ ४८

१. न चैव क्रमेण तदवयवधारापि सिद्ध्येदिति वाच्यम्, अनवस्था भयेन तदसिद्धेः । —मुक्तावली पृ० १५५

२. अणुपरिमाण नु न कस्यापि कारणं तद्धि स्वाश्रयारब्धद्रव्यपरिमाणारम्भकं भवेत्, तच्च न सम्भवति । परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमात् । महदारब्धस्य महत्तरत्ववदणुजन्यस्याणुतरत्वप्रसङ्गात् । वही पृ० १०५

३. कारणत्वं चान्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्य. । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६

पृष्ठ ५०

1. To say that the point where the end is obtend is not eternal would be to admit the production of an effect from a thing which is not in the connection of intimate relation. Therefore this point is eternal. As the continual progress from one great thing to another still greater finds its end in the assumption of the sky and other infinite substances, so there must also be ultimately a cessation of the progress from small to smaller thing. Thus the necessity of atoms is proved.—Roers Trans. of B. P. Bibl. P. *16* note.

पृष्ठ ५१

1. The doctrine has been sharply criticized by शंकराचार्य and other Vedantic writers, and their criticisms have greatly tended to diminsh its popularity;but the credit of originality is none the less due to the philosopher who, first discovered it.

Notes on Tarka Samgraha by Bodas P. 126

२. निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् । कारण गुणपूर्वक: कार्य गुणो दृष्ट: । कार्यान्तरप्रादुर्भावाच्च शब्द: स्पर्शवतामगुण: । परत्र समवायात्प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुण: । परिशेषाल्लिंग-माकाशस्य । वैशेषिक २.१.२०,२४-२७ ।

३. आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्र: संज्ञा: भवन्ति । —प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २३

४. तत्राकाशस्य गुणा: शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा: ।

—वही २३-२४ ।

५. आकाशस्य तु विज्ञेय: शब्दो वैशेषिको गुण: । —भाषा परिच्छेद ४४

६. शब्दगुणकमाकाशम् । — तर्क संग्रह पृ० ४५

पृष्ठ ५२

१. संयोगाजन्यविशेषगुणसमानाधिकरणविशेषाधिकरणमाकाशम् ।

सर्वदर्शन संग्रह पृ० ८५

२. (क) शब्द: पृथिव्याद्यष्टातिरिक्तद्रव्याश्रित:, अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति समवायिकारणवत्वात् । यन्नैवं तन्नैवं यथारूपम् ।

(ख) शब्दो द्रव्यसमवेतो गुणत्वाद्रूपवत् । शब्द आकाशद्रव्यगुण:, गुणत्वे सति पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वात् ।

प्रशस्तपाद विवरण पृ० २५

३. सर्वमूर्त्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम् । मूर्त्तत्वं परिच्छिन्नपरिमाण-वत्त्वं क्रियावत्वं वा । तर्क दीपिका पृ० ४६

४. क्षिति: जलं तथा तेज: पवनो मन एव च
परापरत्वमूर्त्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी । कारिकावली २५

पृष्ट ५३

१. (क) अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ।
वैशेषिक २.२ ६.

(ख) कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम् ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २६

२. (क) अतीतादिव्यवहारहेतुः काल; । तर्क संग्रह पृ० ४६

(ख) सर्वाधारः कालः सर्वकार्ये निमित्तकारणं च ।
तर्क दीपिका पृ० ४६

३. जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ।
परापरत्वधी हेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः । भाषापरिच्छेद ४६

४. परत्वापरत्वादिबुद्धेरसाधारणं निमित्त काल एव । मुक्तावली पृ० १६७

पृष्ठ ५४

१. बहुतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मनि स्थविरे युवावधि कृत्वा परत्वमुत्पद्यते तच्च परत्वमसमवायिकारणसापेक्षम् । न च रूपाद्यसमवायि कारणं व्यभिचारात् त्रयाणां गन्धादीनां वायौ परत्वानुत्पादकत्वात् । स्पर्शस्याप्युष्णादिभेदेन भिन्नस्य प्रत्येकं व्यभिचारात् । न चावच्छिन्नपरिमाणं तस्य विजातीयानारम्भकत्वात्, तपनपरिस्पन्दानां च व्यधिकरणत्वात् । ... ... आकाशस्य तत्स्वाभाव्यकल्पने क्वचिदपि भेर्याभिघातात् सर्वभेरीपु शब्दोत्पत्तिप्रसङ्गः .... आत्मनश्च द्रव्यान्तरधर्मेषु द्रव्यान्तरावच्छेदाय स्वप्रत्यासत्यतिरिक्त सन्निकर्षापेक्षत्वात्, अन्यथा वाराणसीस्थेन महारजनारुणिम्ना पाटलिपुत्रेऽपि-स्फटिकमणेरारुण्यप्रसङ्गात् । .... तस्मादेतादृशविशिष्टप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या विशेषणप्रापकं यद् द्रव्यं सः कालः ।
वैशेषिक उपस्कार भाष्य २. २-६

पृष्ठ ५५

२. इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम् । वैशेषिक २.२.१०

३. दिक्पूर्वापरादि प्रत्ययलिङ्गा । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २८

४. दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते ।
उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादि व्यपदेशभाक् । कारिकाबली ४६

५. प्राच्यादि व्यवहारहेतुर्दिक् । तर्क संग्रह पृ० ४७

६, अकालत्वे सति अविशेषगुणा महती दिक् । सर्वदर्शनसग्रह पृ० ८५

पृष्ठ ५६

१. जन्यमात्रं क्रियामात्रं वा कालोपाधिः, मूर्त्तमात्र दिगुपाधिः ।
सिद्धान्त चन्द्रोदय ।

२. नियतोपाध्युन्नायकः कालः, अनियतोपाध्युन्नायिका दिक् ।
वैशेषिक उपस्कार २.२ १०

पृष्ठ ५७

१. अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्त्तिता
कारणत्वं भवेत्तस्य·········· ·· ·· । कारिकावली १६

२. अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम् । यथा घटादिकं प्रत्याकाशस्य । तस्य हि घटादिकं प्रति कारणत्वमाकाशत्वेनैव स्यात्तद्धि शब्दस्य समवायिकारणत्वम्, एवं च तस्य शब्दं प्रति कारणत्वं गृहीत्वैव घटादिकं प्रति जनकत्वं ग्राह्यमतस्तदन्यथासिद्धम् ।
न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ११८

३. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ।
न्यायसूत्र १. १. १०

पृष्ठ ५८

१. प्राणापाननिमिषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः
सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ।
वैशेषिक सूत्र ३. २. ४

२. आत्मत्वाभिसम्बन्धादात्मा । प्रशस्तपाद भाष्य ३०

३. आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्त्तृकम् । कारिकावली ४७

४. सद्विविधः परमात्मा जीवात्मा चेति । तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मैकएव । जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च । तर्क संग्रह ४८

५. आत्मत्वजातिस्तु सुखदु.खादिसमवायिकारणातावच्छेदकतया सिध्यति ।·········परे तु ईश्वरे सा जातिःनास्त्येव प्रमाणाभावात् । न च दशमद्रव्यत्वापत्तिः ज्ञानवत्वेन विभजनात् ।
न्यायमुक्तावली पृ० २०७

६. वास्यादीनां भिदादिकरणानां कर्त्तारमन्तरेण फलानुपधानं दृष्टम्, एव चक्षुरादीना ज्ञानकरणानामपि फलोपधानं कर्त्तारमन्तरेण नोपपद्यते इत्यतिरिक्तः कर्त्ता कल्प्यते । वही पृ० २०९

७. इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ।

वैशेषिकसूत्र ३.१.२

पृष्ठ ५९

१. क्षित्यङ्कुरादिकं कर्त्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटवत् ।

तर्क दीपिका पृ० ५०

२. बुद्धयादयः पृथिव्याद्यतिरिक्तद्रव्याश्रिताः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात् । यन्नैवं तन्नैवं यथा रूपादि ।

पृ० ६१

१. उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्वम् कर्त्तृत्वम् ।

तर्कदीपिका पृ० ५०

पृष्ठ ६२

१. कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः
वाक्यात्सख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ।

कुसुमाञ्जलि ५. १ ।

पृष्ठ ६३

१. अधिष्ठानं च कर्त्ता च करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टाः दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।
तत्रैव सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
मन्यतेऽकृतबुद्धित्वान्मूढात्मा स तु उच्यते ।

भगवद्गीता १८.१४ ।

६४

१. संख्यादिपञ्चकं बुद्धिरिच्छायत्नोऽपि चेश्वरे । कारिकावली ३४

२. पाञ्चभौतिको देह. । चातुर्भौतिकमित्येके । ऐक भौतिकमित्यपरे ।

सांख्यदर्शन ३.१७,१८ २९ ।

३. (क) मदशक्तिवच्चेत् । सांख्यदर्शन ३.२२,
(ख) किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् । बृहस्पतिसूत्र ।

पृष्ठ ६५

१. जड़भूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते ।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम् ।
सर्वसिद्धान्त संग्रह ।

२. ननु चाश्रितमिच्छादि देह एव भविष्यति ।
भूतानामेव चैतन्यमितिप्राह बृहस्पतिः ।
न्यायमञ्जरी से उद्धृत पृ० १०

३. (क) शरीरदाहे पातकाभावात् । न्यायसूत्र ३.१,४
(ख) पापपुण्यादीनां शरीरनाशे नाशप्रसगान्न शरीरमात्मा ।

४. न च संस्काराभावे प्राणिनां सुखदु.खप्राप्ति सम्भवः जन्मावस्थायाम् । न्यायकुसुमाञ्जलि पृ० ६५

५. शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारत; । कारिकावली ४८

६. शरीरस्यात्मत्वे करपादादिनाशे सति शरीरनाशादात्मनोऽपि नाशापत्तेः ।
तर्क दीपिका पृ० ५१

७. (क) शरीरस्य चैतन्ये बाल्यदशायामनुभूतस्य यौवने स्मरणं न स्यात्, चैत्रदृष्टस्य मैत्रेण स्मरणमिव । न्याय कुसुमाण्जलि । पृ० ६५
(ख) शरीरस्य प्रतिक्षणपरिणामित्वान्न बाल्ये दृष्टस्य वृद्धत्वेस्मरणसंभवः । तर्कदीपिका ५१
(ग) शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थविरे स्मरणानुत्पत्ते, शरीरावयवानां प्रतिक्षणमुपचयापचयैरुत्पादविनाशशालित्वात् ।
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली २१०

८. एवं च सति यो देहादिसंघातभूतः हिंसां करोति नासौ हिंसाफलेन संबध्यते; यश्च सम्बध्यते न तेन हिंसाकृता ।
वात्स्यायन भाष्य पृ० ११७

पृष्ठ ६५

१. न च बाल्ययौवनयोरेकं शरीरम् । अपक्रमात्, पूर्वशरीरविनाशात्,

परिमाणभेदेन द्रव्यभेदात्……। न च कारणेनानुभूतस्य कार्येण स्मरणं स्यादिति वाच्यम्……मात्रानुभूतस्य गर्भस्थेन स्मरणापत्तेः।
न्यायकुसुमाञ्जलि पृ० ६५

२. अपि च पयसः तृप्तिहेतुकमनुस्मरन्बालकः स्तन्याभिलाषेण मातुः स्तनतटे दृष्टिं निदधाति, न चाद्य तेन तस्य तत्साधनत्वमवगतम्।
न्यायमञ्जरी प्रमेयप्रकरण पृ० ४२

३. तस्मान्मुखविकासस्य हर्षो हर्षस्य च स्मृतिः।
स्मृतेरनुभवो हेतुः स च जन्मान्तरे शिशोः।
—न्यायमञ्जरी प्रमेयप्रकरण पृ० ४२

पृष्ठ ६६

१. न च परमाणूनां चैतन्यं तेषाञ्च स्थिरत्वात्स्मरणं स्यादिति वाच्यम् तथा सति स्मरणस्यातीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्, तन्निष्ठरूपादिवत्। करपरमाण्वनुभूतस्य विच्छिन्नकरपरमाण्वसन्निधावस्मरणप्रसङ्गात्।
—न्यायकुसुमाञ्जलि पृ० ६६

३. नापीन्द्रियाणामात्मत्वं तथात्वे योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहमिदानीं त्वचा स्पृशामि इत्यनुसन्धानाभावप्रसङ्गात्, अन्यानुभूतेऽन्यस्यानुसन्धानायोगात्।
—तर्कदीपिका पृ० ५१

पृष्ठ ६७

१. वास्यादिच्छिदादिकरणानां कर्त्तारमन्तरेण फलानुपधानं दृष्टम्। एवं चक्षुरादीनां ज्ञानकरणानामपि फलोपधानं (करणातिरिक्त) कर्त्तारमन्तरेण नोपपद्यते इत्यतिरिक्तः कर्त्ता कल्प्यते।
न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० २०९

२. (क) तथात्वं चेन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः।
भाषापरिच्छेद ४८

(ख) पूर्वं चक्षुषा साक्षात्कृतानां चक्षुरभावे स्मरणं न स्यात् अनुभवितुरभावात्। अन्येनानुभूतस्यान्येन स्मरणासभवात्।
मुक्तावली २१२।

३. (क) मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदाभवेत्।
भाषापरिच्छेद ४९।

(ख) मनसोऽणुत्वात्प्रत्यक्षे महत्त्वस्य हेतुत्वात्
मनसि ज्ञानसुखादिसत्त्वे तत्प्रत्यक्षानुपपत्तिः ।

न्याय मुक्तावली पृ० २१४।

४. ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः सञ्ज्ञाभेदमात्रम् । न्यायदर्शन ३ १.१७

पृष्ठ ६८

१. नन्वस्तु विज्ञानमेवात्मा तस्य स्वतः प्रकाशरूपत्वाच्चेतनत्वम् । ••• •• पूर्वविज्ञानस्योत्तरविज्ञानहेतुत्वात् सुषुप्त्यवस्थायामप्यालयविज्ञानधारा निराबाधैव मृगमदवासनावासितवसन इव पूर्वं पूर्वविज्ञानजनितसंस्काराणामुत्तरोत्तरविज्ञाने संक्रान्तत्वान्नानुपपत्तिः स्मरणादे, इति चेन्न तस्य जगद्विषयत्वे सर्वज्ञत्वापत्तिः । • सुषुप्तावपि विषयावभासप्रसङ्गाच्च ज्ञानस्य सविषयत्वात् ।••• • नवा वासना संक्रमः संभवति मातृपुत्रयोरपि वासनासंक्रमप्रसङ्गात् ।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली २१४—२१७

२. तस्य स विषयत्वासंभवात् ।••• ••••अतो विज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेति सिद्धम् । वही पृ० २२०

पृष्ठ ६९

१. इद सुखमिति ज्ञान दृश्यते न घटादिवत् ।
अह सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका ।

न्यायमञ्जरी प्रमेयप्रकरण पृ० ७

२ नचानुमानतः पूर्वं ज्ञात्वात्मानं विशेषणम् ।
तद्विशिष्टार्थबुद्धिः स्यात् स्मरणानवधारणात् ।
तस्मात्प्रत्यक्ष आत्मा । ••••• ••
ज्ञाते तत्राफलं लिङ्गमज्ञाते तु न लिङ्गता ।
तस्मात्प्रत्यक्ष एवात्मा वरमभ्युपगम्यताम् ।

वही पृ० ६८ ।

३. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

योगदर्शन १. २-३

४. (क) अनुमेयत्वमेवास्तु लिङ्गेनेच्छाऽऽदिनाऽऽत्मनः ।

न्यायमजरी प्रमेयप्रकरण पृ० ८

(ख) प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि।
वैशेषिक सूत्र ३. २. ४

(ग) सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नैश्चगुणैः गुण्यमनुमीयते ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ३३-३४ ।

पृष्ठ ७०

१. साक्षात्कारे सुखादीना करणं मन उच्यते । भाषापरिच्छेद ८५
२. सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रिय मनः । तर्क सग्रह पृ० ५२
३. स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्व मनसो लक्षणम् । तर्क दीपिका पृ० ५२

पृष्ठ ७१

१. युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् । न्याय सूत्र १.१.१६
ज्ञानयौगपद्यादेकम्मनः । वही ३.२. ५६ ।
२. आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसोलिङ्गम् ।
वैशेषिक सूत्र ३.२.१
३. सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूत्वोत्पत्ति-दर्शनात्करणान्तरमनुमीयते । प्रशस्तपादभाष्य पृ० ३५
४. सुखादि साक्षात्कारः सकरणकः जन्यसाक्षात्कारत्वात् चाक्षुषसाक्षात्कारवत् इत्यनुमानेन मनसः करणत्वसिद्धिः ।
—न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ४३३
५. तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तम् । तर्क संग्रह ५२
६. अत्र समवेतकारणत्वे सति असमवेतभोगकारणत्वं नियतत्व-शब्दार्थः । —वाक्यवृति

पृष्ठ ७२

१. (किञ्च मनोविभु) स्पर्शात्यन्ताभाववत्वादाकाशवत् ।
वैशेषिक उपस्कार १०२
२. विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात्कालवत् । वही १०२
३. ज्ञानासमवायिकारणमयोगाधारत्वादात्मवत् । वही १०२

४ (क) अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहोच्यते।   भाषापरिच्छेद ८५

(ख) अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिः आशुसंचारात्।

न्यायसूत्र ३.२.६१

(ग) उत्पलशतपत्रभेदादिव यौगपद्यप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वम्।

न्याय मुक्तावली पृष्ठ ४३४

पृष्ठ ७३

१. तदभावादणुमनः।   वैशेषिक ७.१.२३

२. सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीतति वर्त्तमानेन मनसा ज्ञानाजननम्।

न्याय मुक्तावली पृ० २४६

३. त्वङ्मनः सयोगो ज्ञानसामान्ये कारणम्।   वही पृ० २४६

पृष्ठ ७४

१. सुषुप्त्यनुकूलमनःक्रियया मनसा आत्मनो विभागस्तत आत्ममनः संयोगनाशस्ततः पुरीततिरूपोत्तरदेशेन मनः संयोग रूपा सुषुप्ति-रुत्पद्यते।   दिनकरी (न्या० सि० मुक्तावली) पृष्ठ २४८

२. अथ यदा सुषुप्तो भवति, तदा न कस्यचन, हिता नामनाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते. ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते।   बृहदारण्यकोपनिषद् २.१.१९

पृष्ठ ७५

१. चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्।   न्याय दर्शन १.१.११

२. घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः। वही १.१-१२

३. स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणीति।

वात्स्यायन भाष्य १.१ १२

४. उभयात्मकमत्र मनः, संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
(गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च)   सांख्यकारिका २७

५. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।   न्याय सूत्र १.१.४

६. सुखदुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।   तर्क संग्रह ५२

७ (क) आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान् । कठोपनिषद् १.३.३-४

(ख) इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसश्च पराबुद्धिः बुद्धेरात्मा महान्परः । वही १.३.१०

(ग) इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्वमुत्तमम् । वही २.३.७

(घ) एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । मुण्डक २.१.३.

(८) बुद्धीन्द्रियमनसां क्रमं विचारयति । (वेदान्त सूत्र) भामती २.३.१५

पृष्ठ ७७

१. चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम् । तर्क संग्रह पृ० ५४

२. तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम् । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४४

३. चक्षुर्ग्राह्यं भवेद्रूपम् । भाषा परिच्छेद १००

४. चक्षुर्ग्राह्यविशेषगुणमित्यर्थं । न्याय मुक्तावली पृ० ४४५

५. प्रभाघटसंयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय 'चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्वं
वाच्यम् । तर्क दीपिका पृ० ५५

पृ० ७८

१. त्वगग्राह्यचक्षुर्ग्राह्यगुणविभाजकधर्मवत्त्वं गुणत्वावान्तर
जातिमत्व वा रूपत्वम् । —वाक्यवृत्ति रूपप्रकरण

२. तथाच परमाणोर्महत्वादनुपलब्धिर्भवति ।..........
नन्वेवं परमाणोर्द्वयणुकस्य च रूप गृह्यत इत्यत उक्तमनेकद्रव्य-
समवायात् । उद्भूतत्वमनभिभूतत्वरूपत्वञ्च तस्माद् . ...
उपलब्धि । वैशेषिक उपस्कार ४.१.६,८ ।

पृष्ठ ७९

१. नीलपीताद्यवयवारब्धोऽवयवी न तावन्नीरूपो अप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् ।
नापि व्याप्यवृत्तिनीलादिकमुत्पद्यते पीतावच्छेदेनापि नीलोपलब्धि-
प्रसङ्गात् । तस्मान्नानाजातीयै रूपैरवयविनि विजातीयं चित्ररूप-
मारभ्यते । अतएवैकं चित्ररूपमित्यनुभवोऽपि नानारूपकल्पने
गौरवात् । —न्याय सिद्धान्त मुक्तावली ४४६

२ लोहितोयस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुर ।
श्वेत खुरविषाणाभ्या स नीलो वृष उच्यते । इत्यादि शास्त्रमप्युपपद्यते ।
वही ४४८

४ नव्यास्तु तत्राव्याप्यवृत्त्येव नानारूप नीलादे पीतादिप्रतिबन्धकत्व-कल्पने गौरवात् । नच व्याप्याव्याप्यवृत्तिजातीययोर्द्वयो-र्विरोध मानाभावात् । न च लाघवादेक रूपमनुभवविरोधात् ।
पृ० ४४७—४४८

पृष्ठ ८०

१ (क) रसो रसनग्राह्यः । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४५

(ख) रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा । भाषा परिच्छेद १०१

२. जीवन पुष्टिबलारोग्य निमित्तम् । रसनसहकारी मधुराम्ललवण तिक्तकटुकषायभेदभिन्न । प्रशस्तपाद भाष्य ४५

३ (क) अलौकिक एवाय चर्वणोपयोगी विभावादि व्यवहार. । क्वान्य-त्रेत्थ दृष्टमिति चेत्, भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ, **पानकरसास्वादो**ऽपि कि गुडमरिचादिषु दृष्ट इति समानमेतत् ।
अभिनव भारती

(ख) ·······चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादि जीवितावधि पानकरसन्यायेन चर्व्यमाण· ······श्रृङ्गारादिको रसः ।
काव्यप्रकाश पृ० ७७

पृष्ठ ८१

१ गन्धो घ्राणग्राह्य, पृथिवीवृत्ति घ्राणसहकारी सुरभिरसुरभिश्च ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४५

२ स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्य ।··· ·शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात् त्रिविधः ।
वही ४६

३ कठिनसुकुमार स्पर्शौ पृथिव्यामेव । कठिनत्वादिक तु न सयोगगतो जातिविशेष चक्षुर्ग्राह्यत्वापत्ते ।— न्यायसिद्धान्त मुक्तावली ४४९

पृष्ठ ८२

१ (क) शुक्लाद्यनेकप्रकार सलिलादिपरमाणुषु नित्य पार्थिवपर-माणुष्वग्निसयोगविरोधि सर्वकार्यद्रव्येषु कारणगुणपूर्वक-

माश्रयविनाशादेव विनश्यतीति । —प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४४

(ख) ' जलादि परमाणौ तन्नित्यमन्यत्सहेतुकम् ।

भाषापरिच्छेद १०१

पृष्ठ ८३

१. घटादेरामद्रव्यस्याग्निना सम्बद्धस्याग्न्यभिघातान्नोदनाद्वा तदारम्भकेष्वणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते, तेभ्यो विभागा, विभागेभ्य संयोग-विनाशाः, सयोगविनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्य विनश्यति ' …तदनन्तर भोगिनामदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगादुत्पन्नपाकजेष्वणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषा परस्परसंयोगात् द्व्यणुकादिक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४६-४७

२. परमाणुष्वेव पाको न द्व्यणुकादौ । आमपाकनिक्षिप्तेषु परमाणुषु रूपान्तरोत्पत्तौ श्यामघटनाशे पुनर्द्व्यणुकादिक्रमेण रक्तघटोत्पत्ति । …इति पीलुपाकवादिनोवैशेषिका । पूर्वघटनाश विनैव अवयविनि अवयवेषु परमाणुपर्यन्तेषु च युगपद्रूपान्तरोत्पत्तिरिति पिठरपाकवादिनो नैयायिकाः ।

तर्कदीपिका पृ० ६०-६१

३ पूर्वरूपरसादिपरावृत्तिजनको विजातीयतेजः सयोगः पाक ।

— तर्क किरणावली (दीपिका टीका) पृ० ५६ ।

पृष्ठ ८४-८५

१ अथ नवक्षरणा तथाहि वह्निसयोगात्कर्म तत परमाण्वन्तरेषु विभाग, तत आरम्भकसयोगनाश ततो द्व्यणुकनाश २, तत परमाणौ श्यामादिनाश, ३, ततो रक्ताद्युत्पत्तिः ४ ततो द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया ५, ततो विभाग ६, तत. पूर्वसयोगनाश ७, तत आरम्भकसयोग ८, ततोद्व्यणुकोत्पत्तिः ९, ततो रक्ताद्युत्पत्तिः इति नवक्षरणा ।

—न्याय मुक्तावली पृ० ४५२ ५३ ।

२ (क) तत्र यदि द्रव्यारम्भकसयोगविनाशविशिष्ट कालमपेक्ष्य विभागजविभागः स्यात्तदा दशक्षरणा । … सा चारम्भक सयोगविनाशविशिष्टकालमपेक्ष्य विभागेन विभागजनने स्यात् ।

वही पृ० ४५३-५३

(ख) यदि तु पूर्वक्रिया निवृत्यन्तरकाले क्रियान्तरमुत्पद्यते तदा दशक्षणा ।

वैशेषिक उपस्कार पृ० १६३

पृष्ठ ८५

१. वह्निना नोदनात् द्वयणुकारम्भके परमाणौ कर्म, ततो विभागः, ततो द्रव्यारम्भक संयोगनाशस्ततोद्वयणुकनाशः १, नष्टे द्वयणुके केवले परमाणावग्निसंयोगाच्छ्यामादिनिवृत्तिः २. श्यामादौ निवृत्तेऽन्यस्मादग्निसयोगाद्रक्ताद्युत्पत्तिः ३. रक्तादावुत्पन्ने परमाणुक्रियानिवृत्तिः तदनन्तरमदृष्टवदात्मसंयोगात्परमाणौ कर्म ४. ततो विभागः ५. ततः पूर्वं संयोगनिवृत्तिः, ६. ततः परमाण्वन्तरेण द्रव्यारम्भकः सयोगः. ७. ततो द्व्यणुकोत्पत्ति, ८. उत्पन्ने द्व्यणुके कारणगुण क्रमेण रक्ताद्युत्पतिरिति नवक्षणा ।...

द्व्यणुकनाशविभागजविभागावित्येकः कालः १. ततः पूर्वसंयोगनाशश्यामादिनिवृत्ती, २. उत्तरसंयोगरक्ताद्युत्पत्ती, ३. उत्तरसंयोगेन विभागजविभागक्रियानिवृत्ती ४. ततो द्रव्यारम्भानुगुणा परमाणुक्रिया ५. क्रियातो विभाग ६. विभागात् पूर्व सयोगनिवृतिः ७. ततो द्रव्यारम्भक संयोगः, ८. ततो द्रव्योत्पत्तिः ९. उत्पन्ने द्रव्ये रक्ताद्युत्पत्तिः १०. इति दशक्षणाः ।

वैशेषिक. उपस्कार १६३-६४

२. यदा तु द्रव्यनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागेन विभागो जन्यते तदा एक क्षणवृद्धचा एकादशक्षणा । तथाहि—द्रव्यविनाशः १. ततो विभागजविभागश्यामादिनिवृत्ती २. ततः पूर्वसंयोगनाशः ३. तत उत्तरसंयोगाद्युत्पत्ती ४. ततो विभागजविभागकर्मणोः निवृत्तिः ५. ततः परमाणौ द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया ६. ततो विभागः ७. पूर्वसंयोगनिवृत्तिः ८. द्रव्यारम्भक संयोगोत्पत्तिः ९. द्वयणुकोत्पत्तिः १०. रक्ताद्युत्पत्तिश्च ११. इत्येकादश क्षणः ।

वैशेषिक उपस्कार १६३-६४

३. एकत्र परमाणौकर्म, ततोविभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः परमाण्वन्त र कर्मणी ततो द्वयणुकनाशः परमाण्वन्तरकर्मजन्यविभागः इत्येकः कालाः १ ततः श्यामादिनाशो विभागाच्च पूर्वसंयोगनाशश्चेत्येकः २, ततो

रक्तोत्पत्तिर्द्रव्यारम्भकसंयोग इत्येकः कालः ३, अथ द्व्यणुकोत्पत्तिः, ततो रक्तोत्पतिरित्ति पञ्चक्षणाः । न्याय मुक्तावली पृ० ४५६

पृष्ठ ८६

१. द्रव्यनाशसमकाल परमाण्वन्तरकर्मचिन्तनात् षष्ठेगुणोपत्तिः ।
वही ४५७

२. श्यामनाशक्षणे परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात् सप्तक्षणाः ।
वही पृ० ४५७

३. रक्तोत्पत्तिसमकाल परमाण्वन्तरे कर्म चिन्तनादष्टक्षणाः । तथाहि परमाणौ कर्म ततः परमाण्वन्तर विभागः तत आरम्भकसंयोगनाशः ततोद्व्यणुकनाश १, ततः श्यामनाशः २, ततोरक्तोत्पत्ति-परमाण्वन्तरकर्मणी ३, ततः परमाण्वन्तरकर्मण विभागः, ततः संयोग नाशः ५, ततः परमाण्वन्तरसयोगः, ६, ततोद्व्यणुकोत्पत्तिः ७, अथ रक्तोत्पत्तिरित्यष्टक्षणाः । वही ४५७—४५८

पृष्ठ ८८

१. द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागेच विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धिः तं वै वैशेषिकं विदुः ।
सर्वदर्शन संग्रह पृ० ८६

२. एकत्वादिव्यवहार हेतुः संख्या ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४८

३. (क) सांख्या परिमाण पृथक्त्वं संयोग विभाग परत्वा-
परत्व गुरुत्व नैमित्तिकद्रवत्ववेगाः सामान्यगुणः ।
(ख) संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा ।
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्त्तिताः ।
भाषा परिच्छेद ९१

४. (क) वयं तु ब्रूमः त्रित्वादिसमानाधिकरणं संख्यान्तरमेव बहुत्वं त्रित्वादिजनकापेक्षाबुद्धिजन्यप्रागभावभेदादेवं भावः ।
वैशेषिक उपस्कार पृ० १८०

(ख) यत्रानियतैकत्वज्ञानं तत्र त्रित्वादिभिन्ना बहुत्वसंख्योत्पद्यते यथा सेनावनादाविति कन्दलीकारः ।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली ४६६

पृष्ठ ८९

१. अनेकैकत्वबुद्धिर्या सापेक्षा बुद्धिरिष्यते । भाषापरिच्छेद १०६

२. तत्र प्रथममिन्द्रियार्थ सन्निकर्षः, तस्मादेकत्वसामान्यज्ञानम्, ततो अपेक्षाबुद्धिः, ततो द्वित्वोत्पत्तिः, ततो द्वित्वत्वसामान्यज्ञानम्, तस्माद् द्वित्वगुणज्ञानम्, ततो द्वे द्रव्ये इति धीः, ततः संस्कारः ।

न्यायमुक्तावली पृ० ४६७

३. आदाविन्द्रियसन्निकर्षघटनादेकत्वसामान्यधीः,
एकत्वोभयगोचरा मतिरतो द्वित्वं ततो जायते, ।।
द्वित्वत्वप्रमितिस्ततो न परतो द्वित्वप्रमाऽनन्तरम्
द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदय प्रक्रिया ।

सर्वदर्शन संग्रह पृ० ८६

४. द्वित्वादेरपेक्षाबुद्धिजन्यत्वे कि प्रमाणम् । अत्राहुराचार्या.— अपेक्षाबुद्धिः द्वित्वादेरुत्पादिका, व्यञ्जकत्वानुपपत्तौ तेनानुविधीयमानत्वात् । शब्दं प्रति संयोगवत् । सर्वदर्शन संग्रह पृ० ८६

पृष्ठ ९०

१. द्वित्वादिकमेकत्वद्वयविषयानित्यबुद्धिव्यंग्यं न भवति, अनेकाश्रितगुणत्वात्पृथक्त्वादिवत् ।

सर्वदर्शन सग्रह पृ० ८६

२. अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपितः । भाषापरिच्छेद १०८

२. विनाशक्रमस्तु-एकत्वसामान्यापेक्षाबुद्धेर्विनाशः, द्वित्वत्वसामान्यज्ञानस्य च द्वित्वगुणबुद्धितोविनाशः, द्वित्वगुणबुद्धेश्च द्वित्वविशिष्टद्रव्यज्ञानात्, तस्य च संस्काराद् विषयान्तरज्ञानाद्वेति ।

वैशेषिक उपस्कार पृ० १७७ (७.२.८)

४. क्वचिदाश्रयनाशादपि नश्यति यत्र द्वित्वाधारावयवकर्मसमकालमेकत्वसामान्यज्ञानम् । यथा — अवयवकर्म सामान्यज्ञाने, विभागा-

पेक्षाबुद्धी, संयोगनाशगुणोत्पत्ती, द्रव्यनाशद्वित्वसामान्यज्ञाने तत्र द्रव्यनाशाद् द्वित्वनाशः, सामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धिनाशः ।

वैशेषिक उपस्कारभाष्य पृ० १७८

पृष्ठ ६१

१. यदा तु द्वित्वाधारावयवकर्मापेक्षाबुद्धयोः यौगपद्यं तदा द्वाभ्यामाश्रय-नाशापेक्षाबुद्धिनाशाभ्यां द्वित्वनाशः । तद्यथा—अवयवकर्मापेक्षाबुद्धी, विभागोत्पत्तिद्वित्वोत्पत्ती, संयोगनाशद्वित्वसामान्यज्ञाने, द्रव्यनाशा-पेक्षाबुद्धिनाशौ ताभ्यां द्वित्वनाशः । इयञ्च प्रक्रिया ज्ञानयोः बध्यघा-तकपक्षे (सहानवस्थान पक्षे) परमुत्पद्यते ।

वैशेषिक उपस्कार पृ० १७९

२. ...यथा तुल्यया सामग्र्या पाकजानां रूपरसगन्धस्पर्शानाम्—यद्वा शुद्धयाऽपेक्षाबुद्धचा द्वित्वं द्वित्वसहितया त्रित्वमिति नेयम् । शतं पिपी-लिकानां मया हतमित्यादौ समवायिकारणाभावे द्वित्वं तावन्नोत्पद्यते तथा च गौणस्तत्र संख्याव्यवहारो द्रष्टव्यः ।

—वैशेषिक उपस्कार पृ० १७९

पृष्ठ ६२

१. प्रचयः शिथिलाख्यो यः संयोग''' । भाषापरिच्छेद ११२

पृष्ठ ६३

१. तत्रास्ति महत्वदीर्घत्वयोः परस्परतो विशेषः महत्सु दीर्घमानीयताम्-दीर्घेषु च महदानीयतामिति विशिष्टव्यवहारदर्शनात् इति । अणुत्व-ह्रस्वत्वयोस्तु परस्परतो विशेषस्तद्दर्शिनाम्प्रत्यक्ष इति ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ५९

२. परमाणु विश्लेषे हि द्वयणुकस्य नाशोवश्यमभ्युपेयः तन्नाशे च त्र्यणुक-नाशः एवं क्रमेण महावयविनो नाशस्यापलपितुमशक्यत्वात् । शरीरा-दाववयवोपचये समवायिकारणनाशस्यावश्यकत्वादवयविनाश आव-श्यकः ।.......तत्रापि वेमाद्यभिघातेनासमवायिकारणतन्तुसंयोगनाशा-त्पटनाशस्यावश्यकत्वात् । ''''तस्मात्तत्र तन्त्वन्तरसंयोगे सति पूर्वं

पटनाशस्ततः पटान्तरोत्पत्तिरित्यवश्यं स्वीकार्यम् । अवयविनः प्रत्यभिज्ञानं तु साजात्येन दीपकलिकादिवत् ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० ४६७-६८

पृष्ठ ६४

१. ननु पृथक्त्वबुद्धिरितरेतराभावेनैवान्यथासिद्धेर्न्न तद्गुणान्तरम् इति चेन्न पृथक्त्वस्यावधिनिरूप्यत्वादन्योन्याभावस्य च प्रतियोगि-निरूप्यत्वात्, इदमस्मात्पृथगिदं न भवतीति प्रतीतिभेददर्शनात् ।

कणादरहस्यम् पृ० ७६

२. न च वैधर्म्यमेव पृथक्त्वं श्यामाद्रक्तो विधर्मा न तु पृथगिति प्रतीतेः । न च सामान्यविशेष एव पृथक्त्वं पदार्थत्रयवृत्तित्वे सत्तायाः द्रव्यमात्र-वृत्तित्वे द्रव्यत्वेन सहान्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वात् ।

वही पृ० ७६

३. यदि पृथक्त्व गुणः कथं गुणकर्मादौ तत्प्रतीतिरिति चेत् न तत्र तद्व्यवहारस्य गौणत्वात् । वही पृ० ७६

४. (क) एकत्वादिवदेकपृथक्त्वादिष्वपरसामान्याभावः सख्यया तु विशिष्यते तद्विशिष्टव्यवहार दर्शनात् ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६०

(ख) द्विपृथक्त्वादौ पृथक्त्वजातेरन्याऽवान्तरजाति र्नास्ति, प्रतीति वैलक्षण्यं द्वित्वादिघटितमेवेति भाष्यस्वरसः ।

प्रशस्तपाद विवरण पृ० ६१

पृष्ठ ६५

१: (क) द्विपृथक्त्वादाववान्तरजातिर्वर्त्तत एव द्वित्वत्वादिजातिस्तु न वर्त्तते तद्विशिष्टबुद्धे र्द्वित्वादिगुणाधीनतयैवोपपत्ते-रित्याचार्याः । —प्रशस्तपाद विवरण पृ० ६१

(ख) संख्यात्वमेकानेकवृत्तिगुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिसमानाधिकरणा-त्यन्ताभावप्रतियोगिगुणत्वव्याप्यजातित्वात् रूपत्ववदिति एक-पृथक्त्वसाधकमनुमानमप्याहुः ।

किरणावली प्रकाश पृ० ९७

२. द्रव्यासमवायिकारणवृत्ति गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्वम् पार्थिव-परमाणुरूपासमवायिकारणवृत्तिगुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्वं वा (संयोगत्वम्) ।
—कणादरहस्यम् ७८

पृष्ठ ९६

१. अवयवसंयोगे उपलभ्यमाने एवावयविसंयोग उपलभ्यते, यत्रावयवे संयोगाभावस्तस्मिन्नुपलभ्यमानेऽपि नोपलभ्यत इत्यव्याप्यवृत्तित्वार्थः ।
कणादरहस्यम् पृ० ८०

२. नास्त्यजः संयोगो नित्यपरिमण्डलवत् पृथगनभिधानात् । यथा चतुर्विधपरिमाणमुत्पाद्यमुक्त्वाऽऽह नित्यं परिमण्डलमित्येवमन्यतर-कर्मजादिसंयोगमुत्पाद्यमुक्त्वा पृथङ् नित्यं ब्रूयान्नत्वेवमब्रवीत्, तस्मान्नास्त्यजः संयोगः ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६५

पृष्ठ ९७

१. प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभागः । स च त्रिविधोऽन्यतरकर्मज उभय-कर्मजो विभागजश्च विभाग इति·········विभागजस्तु द्विविधः कारणविभागात् कारणाकारणविभागाच्च ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६७

पृष्ठ ९८

१. संयोगनाशको गुणो विभागः ।
तर्क संग्रह पृ० ६४

पृष्ठ ९९

२. अपेक्षाबुद्धिसंयोगद्रव्यसंयोगनाशनात्
पृथग्द्वाभ्यां च सर्वेभ्यो विनाशः सप्तधाऽनयोः ।
कणादरहस्यम् पृ० ८८

पृष्ठ १०१

१. यदा परत्वमुत्पद्यते तदा परत्वाधारे कर्म ततो यस्मिन्नेव काले परत्वसामान्यबुद्धिरुत्पद्यते तस्मिन्नेव काले पिण्डकर्मणा दिक्पिण्ड-विभागः क्रियते ततः सामान्यबुद्धितोऽपेक्षाबुद्धिविनाशो विभागाच्च

दिक्पिण्डसंयोगविनाश इत्येकः कालः । ततः संयोगापेक्षाबुद्धि-विनाशात्परत्वस्य विनाशः ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८२

२ (क) संयोगाभावे गुत्वात्पतनम् । १८७ ।
संस्काराभावे गुरुत्वात्पतनम् । १९८
अपां सयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम् । २०१

वैशेषिक सूत्र

(ख) गुरुत्वजलभूम्योः पतनकर्मधारणम् ।

प्रशस्तपाद भाष्य १३०

३. पतनाख्य इति आद्यपतने इत्यर्थः ।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली ५२७

पृष्ठ १०२

१. ननु यावदेवावयवानां गुरुत्व तावदेवावयविन्यपि कथं स्यात् अवयव-गुरुत्वापेक्षया तदाधिक्यसम्भवात् । अवयविनि तदाधिक्यमस्त्येवेति चेत्, अवनमनविशेषोपलम्भप्रसंगात् इति चेत्, न अवनमन विशेषस्य तत्र सत्वात् ।

कणादरहस्यम् पृ० १२८ ।

पृष्ठ १०३

१. सुवर्णं (द्रवत्व विशिष्टं) तैजसं असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्तानल संयोगे सत्यप्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वात् ।

—न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० १७९

पृष्ठ १०४

१. तैलादौ कथं सांसिद्धिकद्रवत्वमितिचेत् न विष्टम्भकपाथस्सक्त-द्रवत्वोपलम्भात् । कथं तर्हि दहनानुकूलता स्नेहोत्कर्षात्, जलान्तरे तु न तथा स्नेहोत्कर्ष इति विशेषात् ।

कणादरहस्यम् पृ० १२८-१२९

२ (क) स्नेहोऽयं विशेषगुणः संग्रहमृजादिहेतुः ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३५

(ख) पिण्डीभावहेतुः संयोगविशेषः संग्रहः। मृजा परिशुद्धिः मृदुत्व-मादिपदेन ग्राह्यम्। —प्रशस्तपाद विवरण पृ० १३५

(ग) चूर्णादिपिण्डीभावहेतु गुणः स्नेहः।

तर्क संग्रह ६७

पृष्ठ १०५

१. घृतादौ पार्थिवे स्नेहः कथमिति चेत् तत्रोपष्टम्भकं जलभागो स्नेहस्योपलम्भात्। स्निग्धं घृतमिति प्रतीतिस्तु परम्पराभिसम्बन्धात्।
—कणादरहस्यम् पृ० १३०

२, (क) शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः क्षणिकः कार्यकारणोभय-विरोधी……….। प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १४४

(ख) तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हि तः।

भाषा परिच्छेद १६८

३. शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् यद्यत्कृतकं तदनित्यं यथा घटः। अनित्यत्व-व्याप्यकृतकत्ववांश्चायं तस्मादनित्यः। कणाद रहस्यम् पृ० १४६

४. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्व यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः। वाक्यपदीयम् १. १.

५. अक्षरं न क्षरं विद्यात्। व्याकरण महाभाष्य १.१.९.

६. अबाधितप्रत्यभिज्ञाबलाद् वर्णस्य नित्यता।
उच्चारण प्रयत्नेन व्यज्यतेऽसौ न जन्यते।
जैमिनीय न्यायमाला १.१.५१

७. (क) सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्सिद्धसाधनम्। सांख्य सूत्र ५. ६०

(ख) अभिव्यक्तिर्यद्यनागतावस्थात्यागेन वर्त्तमानावस्थालाभ इत्युच्यते तदा सत्कार्यसिद्धान्तः। सांख्यप्रवचनभाष्य ५.६०

पृष्ठ १०६

१. प्रथमादि शब्दानां च स्वकार्यशब्देनैव नाशः चरमस्यतूपान्त्यशब्दे-नोपान्त्यशब्दनाशेन वा नाशः। दिनकरी पृ० ५३९।

२. आत्माबुद्धया समेत्यर्थान्मनोयुङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन्मद्रं जनयति स्वरम्। पाणिनीय शिक्षा ६-७।

३. आत्ममनसोः संयोगात्स्मृत्यपेक्षाद् वर्णोच्चारणेच्छा तदन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्मवायु संयोगाद् वायौ कर्म जायते स चोर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीनभिहन्ति, ततः स्थानवायुसंयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगात् वर्णोत्पत्तिः ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १४५

पृष्ठ १०७

१. तत्राद्यः शब्दः कार्येणैव नश्यते मध्यमास्तु शब्दा उभयतः कार्येणैव वा । ········ तदुक्तं न्यायवार्तिक टीकायाम् आद्यस्तु कार्येणैव मध्यमानान्त्वनियमः । कणाद रहस्यम् १५१

२. कदम्बमुकुलन्यायेन दश शब्दाः जायन्ते तैरप्यन्ये यावत् कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभोभागमासाद्य जायन्ते ते च गृह्यन्ते ।

—कणाद रहस्यम् । पृ० १४६

पृष्ठ १०९

१. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् । न्याय सूत्र १.१.१५

पृष्ठ ११०

१. सुखदुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः । तर्क संग्रह ५२

२. सान्तः करणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते ·· । सांख्यकारिका ३५

३. युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् । न्याय सूत्र १.१.१६

४ (क) बुबोधयिषापूर्वकवाक्यप्रयोगो व्यवहारः । वाक्यवृत्ति बुद्धिखण्ड ।
(ख) व्यवहारः शब्दप्रयोगः । न्याय बोधिनी पृ० २२

५. तादृशव्यवहारजनकतावच्छेदकजातिमत्वम् । वाक्यवृत्ति

६. जानामीत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वम् (बुद्धिः) तर्क दीपिका पृ० ६८

पृष्ठ १११

१. अज्ञानान्धकारतिरस्कारकारकसकलपदार्थस्यार्थप्रकाशकः प्रदीप इव देदीप्यमानो यः प्रकाशः सा बुद्धिः ।

सप्तपदार्थी जिनवर्द्धनी टीका

२ (क) ज्ञानानधिकरणानधिकरणजातिमत्वम् आत्मा ।

कणाद रहस्यम् । पृ० ३६

(ख) ज्ञानाधिकरणमात्मा । तर्क संग्रह पृ० ४८

पृष्ठ ११२

१. बुद्धिरुपलब्धिः ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् । न्याय सूत्र १.१.१५

२ (क) तस्याः सत्यप्यनेकविधत्वे समासतो द्वे विधे विद्या चाविद्या चेति। तत्राविद्या चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा।

पृ० ८४-८५

विद्या हि चतुर्विधा प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६४

(ख) सा च द्विविधा विद्याऽविद्याच। · ····तत्र विद्या चतुर्विधा प्रत्यक्ष-लैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा (पृ० ८६) ।··· · अथाविद्या सा च संशय विपर्यय स्वप्नानध्यवसायभेदाच्चतुर्धा ।

कणाद रहस्यम् पृ० ८६, ११५ ।

पृष्ठ ११३

१. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि । न्याय सूत्र १.१.३.

पृष्ठ ११४

१. संस्कारमात्रजन्यं ज्ञान स्मृतिः । तर्कसंग्रह पृ० ६८

२. लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगविशेषात् पट्वभ्यासादरप्रत्ययजनिताच्च संस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिः ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १२८ ।

पृष्ठ ११५

१. संस्कारोद्भवा प्रतिज्ञा इति सूत्रमिति राधामोहनः ।

न्याय सूत्रोद्धार टिप्पणी पृ० १

पृष्ठ ११६

४. उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्व संख्ये. ।
विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ।

उद्भूतस्पर्शवद् द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः ।
रूपान्यच्चक्षुषो रूपं रूपमत्रापि कारणम् ।

भाषापरिच्छेद ५४, ५६

पृष्ठ ११७

२. तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपित तन्निष्ठप्रकारताशालित्वम् (यथार्थानुभवत्वम्) । न्यायबोधिनी पृ० २४

३. तदभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपित तन्निष्ठप्रकारता—शालि ज्ञानत्व-मयथार्थानुभवत्वम् । न्यायबोधिनी पृ० २४

पृष्ठ ११८

२. तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः सैव प्रमा इत्युच्यते । तर्कसंग्रह पृ० ७०

३. (क) तद्वति इत्यत्र सप्तम्यर्थो विशेषणम् । वाक्यवृति ।
(ख) तच्छून्ये तन्मतिः या स्यादप्रमा सा निरूपिता ।

—भाषापरिच्छेद १२७

४. (क) तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रम इत्यर्थः ।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ४७६

(ख) तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः, सैवाप्रमेत्युच्यते ।

तर्कसंग्रह पृ० ७१

पृष्ठ ११९

२. तद्वति इति···यत्र यत्सम्बन्धोऽस्ति तत्र तत्सम्बन्धानुभवः ।

तर्कदीपिका पृ० ७०

पृष्ठ १२०

१. (क) इन्द्रियार्थसन्निकर्षादिना जायमानोऽयं घटः इत्यादि बौद्धोबोधः प्रमाणम्, तदनूपजायमानो घटमहं जानामीत्यादि पौरुषेयो बोधश्च प्रमा । — विद्वत्तोषिणी ५
(ख) यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमाबोधः । तत्व कौमुदी ५

२. प्रमात्वम् अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम् ।

वेदान्त परिभाषा–पृ० १०

३. प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० उप० ३.४. १)इति श्रुतेः। वही पृ० १५-१६

४. प्रसिद्धानेकविशेषयोः सादृश्यमात्रदर्शनादुभयविशेषानुस्मरणाच्च किस्विदित्युभयावलम्बी विमर्शः संशयः। प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८६

५. एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान संशयः।
तर्कसंग्रह पृ० १५६

६, समानानेकधर्मोपपत्ते र्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः। न्यायदर्शन १.१.२३

पृष्ठ १२१

१. पूर्वः समानोऽनेकश्च धर्मोज्ञेयस्थः; उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्ज्ञातृस्थे।
वात्स्यायन भाष्य १.१.२३

२. स च द्विविधः अन्तर्बहिश्च। अन्तस्तावत् आदेशिकस्य सम्यक् मिथ्या चोद्दिश्य पुनरादिशतस्त्रिषु कालेषु सशयो भवति, किन्तु सम्यङ् मिथ्यावेति। स हि द्विविधः—प्रत्यक्षविषये चाप्रत्यक्षविषये चेति।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८६।

पृष्ठ १२२

१. स चाय समानधर्मजन्मा विप्रतिपत्तिधर्मजन्मा च।······द्विविध एवायं न त्रिविधः, पञ्चविधो वा। —कणादरहस्यम् ११५-१६।

२. मानस एव सर्वत्र संशयो विद्युत्संपाते धर्मिणि दृष्टे सत्यन्धकारेऽपि कोटिस्मृतिमतः संशयदर्शनात्। वही पृ० ११६।

३. स संशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोः।
साधारणादिधर्मस्य ज्ञानं संशयकारणम्।
भाषापरिच्छेद १३०

४. विप्रतिपतिस्तु शब्दो नित्यो न वेत्यादि शब्दात्मिका न सशयकारणम्। शब्दव्याप्तिज्ञानादीनां निश्चयमात्रजनकत्वरवाव्यात्।
—न्यायमुक्तावली पृ० ४७८

५. प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभासच्छल जाति निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमः। न्यायदर्शन १.१.१-

पृष्ठ १२३

१. मिथ्याज्ञानं विपर्ययः । तर्कसंग्रह पृ० १५७

२. तदभाववति तत्प्रकारको निश्चय इत्यर्थः । तर्कदीपिका पृ० १५७

३. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । योगदर्शन १.८.

४. न तद्रूपो न स्वसमानाकारो यो विषयस्तत्प्रतिष्ठं तद्विशेष्यकमित्यर्थः । भ्रमस्थले ज्ञानाकारस्यैव विषये समारोप इति भावः, संशयस्याप्यत्रैवान्तर्भावः । अत्र च शास्त्रेऽन्यथाख्यातिसिद्धान्तो न तु सांख्यवदविवेकमात्रम् । योगवार्तिक पृ० ३३

पृष्ठ १२४

१. अन्यत्र शुक्त्यादौ अन्यस्य कार्यत्वेन पारतन्त्र्याद्धर्मस्य रजतादेरध्यासस्तादात्म्यधीर्देशान्तरगतं हि रजतादिदोषात्पुरोवर्त्यात्मना भाति······। न्यायनिर्णय पृ० २२

२. न शून्यमितिवक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत् ।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥ माध्यमिककारिका

३. नात्यन्तमसतोऽर्थस्य सामर्थ्यमवकल्पते ।
व्यवहारधुरं वोढुमियतीमनुपप्लुताम् । न्यायमञ्जरी पृ० १६४

४. विज्ञानमेवखल्वेतद् गृह्णात्यात्मानमात्मना ।
बहिर्निरूप्यमाणस्य ग्राह्यस्यानुपपत्तितः ।
बुद्धिः प्रकाशमाना च तेन तेनात्मना बहिः ।
तद्वहत्यर्थशून्यापि लोकयात्रामिहेदृशीम् । न्यायमञ्जरी पृ० १६४

पृष्ठ १२५

१. न चेदमत्यन्तमसन्निरस्तसमस्तस्वरूपमलीकमेवास्तु, तस्यानुभवगोचरत्वानुपपत्तेः ।······तस्मान्न सत्, नापि सदसत् परस्परविरोधात् इत्यनिर्वाच्यमेवारोपणीयं मरीचिषु तोयमास्थेयं तदनेन क्रमेणाध्यस्तं तोयं परमार्थतोयमिव, अत एव पूर्वदृष्टमिव । तत्वतः तु न तोयं न च पूर्वदृष्टं, किन्त्वनृतमनिर्वाच्यम् । भामती पृ० २१

२. न स्यात् (अनिर्वचनीयख्यातिः) भ्रमदशायां रजतत्वेन बाधदशायां शुक्तित्वेन निर्वचनात् । कणाद रहस्यम् पृ० ११८

३. अख्यातिस्तह्यं स्तु नहि शुक्तौ रजतत्वं रजताभेदो वा भासते कारणा-
भावात् । भ्रमरूपविशिष्टज्ञानकल्पने कल्पनागौरवात्, प्रवृत्तेरन्यथै-
वोपपत्तेः । पुरोवर्तिज्ञाने रजतस्मरण दोषवशात् । प्रमुष्टतत्ता
संज्ञानयोः तद्विषययोश्च भेदाग्रहः प्रवृत्तिकारणम् ।

कणाद रहस्यम् पृ० ११८

पृष्ठ १२७

१. आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
तथा निर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम् ।

सर्वदर्शन संग्रह

२. स चायं विपर्ययो द्विरूपः स्मर्यमाणारोपोऽनुभूयमानारोपश्च। स्मर्यमाणा-
रोपे त्वारोपस्थापकतया सारूप्यग्रहस्तन्त्रमित्याचार्याः । अनुभूयमाना-
रोपेऽपि तिक्तो गुडः पीतः शख इत्यादौ सारूप्यसंसर्गग्रहोस्त्येव;
अत्र हि रसनगतपित्तद्रव्यस्य तैक्त्यं नयनगतपित्तद्रव्यस्य पीतिमा-
चारोप्येते । तत्र निम्बे तैक्त्यस्य चिरबिल्वे पीतिम्नश्चाससर्गाग्रह-
सत्वात् । इति न्यायाचार्याः ।

कणादरहस्यम् । पृ० ११९-१२०

पृष्ठ १२८

१. अविज्ञाततत्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थमूहः तर्कः ।

न्यायदर्शन १.१.४०

२. कथ पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो न तत्वज्ञानमेवेति ? अनवधारणात् ।
अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या, नत्ववधारयति ।

वात्स्यायनभाष्य पृ० ३५

३. ·······व्याप्तिग्रहे तर्कः क्वचिच्छंकानिवर्तकः । भाषापरिच्छेद १३७

४. व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः । तर्कसंग्रह पृ० १५८

५. तत्राविद्या संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा । (पृ० ८४)
····· अनध्यवसायोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव संजायते ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८४, ९०

६. अथाविद्या । सा च संशयविपर्ययस्वप्नानध्यवसायभेदाच्चतुर्धा । (पृ० ११५) अनध्यवसायोऽपि किंस्विदिदमितिज्ञानम् ।

कणाद रहस्यम् पृ० ११५, १२१ ।

७. अनध्यवसायोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव सञ्जायते । तत्र प्रत्यक्ष-विषये तावत्……यथा वाहीकस्य पनसादिष्वनध्यवसायो भवति । तत्र सत्ता द्रव्यत्व पृथिवीत्व वृक्षत्व रूपवत्वादिशाखाद्यपेक्षोऽध्यव-सायो भवति। पनसत्वमपि पनसेत्वनुवृत्तमाम्रादिभ्यो व्यावृत्तं प्रत्यक्षमेव केवल तूपदेशाभावाद्विशेषसंज्ञा प्रतिपत्ति र्न भवति । अनुमानविषयेऽपि—नारिकेलद्वीपवासिन: सास्नामात्रदर्शनात् को नु खल्वयं प्राणी स्यादित्यनध्यवसायो भवति । —प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ९०-९१ ।

पृष्ठ १२९

१. सचायं पञ्चविध: आत्माश्रयान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थातदन्यबाधितार्थ-प्रसङ्गभेदात् । स्वस्य स्वापेक्षित्वेऽनिष्टप्रसङ्ग आत्माश्रय:, सचोत्पत्तिस्थितिज्ञप्तिद्वारा त्रेधा ।…… ‥

२. तदपेक्ष्यापेक्षित्वनिबन्धनोऽनिष्टप्रसङ्गोऽन्योन्याश्रय: । सोऽपि पूर्ववत्-त्रेधा । तदपेक्ष्यापेक्ष्यपेक्षित्वनिन्धनोऽनिष्टप्रसङ्गो चक्रकम्‥ …… अस्यापि पूर्ववत्त्रैविध्यम् । अव्यवस्थितपरम्परारोपाधीनानिष्ट-प्रसङ्गोऽनवस्था ।………तदन्यबाधितार्थप्रसगस्तु धूमो यदि वह्नि व्यभिचारी स्याद् वह्निजन्यो न स्यात् इत्यादि ।

न्यायदर्शन विश्वनाथवृत्ति पृ० २१,२२

पृ० १३१

१ (क) तत्राविद्या चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्न लक्षणा ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८५

(ख) अथाविद्या, सा च संशयविपर्ययस्वप्नानध्यवसायभेदाच्चतुर्धा ।

कणाद रहस्यम् पृ० ११५

२. उपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्येन्द्रियद्वारेणैव यदनुभवन मानसं तत् स्वप्नज्ञानम् । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ९१

पृष्ठ १३२

१. (क) स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा । योगदर्शन २.३८

(ख) स्वाप्नज्ञानालम्बनं···तदाकारं योगिनः चित्तं स्थितिपदं लभते ।
—योग भाष्य पृ० १०५

२ (क) उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्धव्यम् । प्रमीयतेऽनेनेतिकरणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः ।
न्याय भाष्य पृ० ११

(ख) 'प्र' शब्द विशिष्टेन 'मा'धातुना प्रत्याय्यते तत्करणत्वं प्रमाणत्वम् ।
न्याय सूत्रवृत्ति पृ० ६

पृ० १३३

२. साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम् ।
सर्वदर्शन संग्रह पृ० ६०

पृष्ठ १३४

१. असाधारणं कारणं करणम् । तर्क संग्रह पृ० ७४

२ (क) एवं सति सामान्यभूताक्रिया वर्त्तते । तस्याः निवर्त्तकं कारकम् ।
पातञ्जलमहाभाष्य २.४.३.३३ भाग २ पृ० २४६

(ख) क्रियान्वयित्वरूपस्य कारकत्वस्य कारकलक्षणत्वेनाभ्युपमात् ।
विभक्त्यर्थ निर्णय पृ० ८

(ग) विभक्त्यर्थद्वाराक्रियान्वयिसत्क्रिया निमित्तम् कारकम् ।
व्याकरण सुधानिधि १.४.२२

३. साधकतमं करणम् । अष्टाध्यायी १.४.४२

४. असाधारणमिति । व्यापारवदसाधारणं कारणं करणमित्यर्थः ।
न्यायबोधिनी पृ० २५

पृष्ठ १३५

१. व्यापारत्वञ्च तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम् । भाषारत्न पृ० २५

२. फलायोगव्यवच्छिन्नत्वमेव करणत्वम् । तच्च येन येन फलमुत्पद्यते तत्रैव तिष्ठति इति मीमांसकाः । भाषारत्न पृ० ७२

३. कार्य प्रागभावप्रतियोगि । तर्क संग्रह पृ० ७७ ।

पृष्ठ १३६

१. अनादिः सान्तः प्रागभावः, उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य ।
सादिरनन्त. प्रध्वसः, उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य । तर्क संग्रह पृ० १६६

पृष्ठ १३७

१. इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति, असतः सज्जायते इति बौद्धाः संङ्गिरन्ते, नैयायिकादयः सतोऽसज्जायते इति, वेदान्तिनः सतो विवर्त्तः कार्यजातं न तु वस्तुसदिति, सांख्याः पुनः सतःसज्जायते इति । सर्वदर्शन संग्रह पृ० ११८

पृष्ठ १३८

१. (क) असदकरणात् उपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।

सांख्यकारिका ९

(ख) असदकरणात् सत्कार्यं कारणव्यापारात्प्रागपीति शेषः । यद्यपि बीजमृत्पिडादि प्रध्वंसानन्तरमंकुराद्युपलभ्यते, तथापि न प्रध्वंसस्य कारणत्वम्, अपितु भावस्यैव बीजाद्यवयवस्य । अभावात्तुभावोत्पत्तौ तस्य सर्वत्र सुलभत्वात् सर्वदा कार्योत्पत्ति-प्रसंगः ।.........असच्चेत् कारणव्यापारात्पूर्व नास्य सत्वं कर्त्तुं केनापि शक्यम् । नहि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्त्तुंशक्यम् ।........ इतश्च कारणव्यापारात्प्राक् सदेव कार्यम् 'उपादानग्रहणात्' .... उपादानैःकार्यस्य सम्बन्धात् । ....'सर्वसंभवाभावात्' असंबद्धस्य जन्यत्वेऽसंबद्धत्वा-विशेषेण सर्व कार्यजातं सर्वस्माद् भवेत्..........। शक्तस्य शक्यवरणात् इति । 'कारणभावाच्च' कार्यस्य कारणात्म-कत्वात् । नहि कारणाद्भिन्नं कार्यम्, कारणं च सदिति कथं तदभिन्नं कार्यमसद् भवेत् ।

सांख्यतत्वकौमुदी पृ० ६७-७३ ।

पृष्ठ १४४

१. कार्यनियतपूर्ववृत्तिः कारणम् । तर्क संग्रह पृ० ७५

२ (क) अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्त्तिता ।
कारणत्वं भवेत् ·....... भाषा परिच्छेद १६

(ख) कार्य प्रति नियतत्वे सति पूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम् ।......
न्यायबोधिनी पृ० २६

(ग) नियतान्यथासिद्धभिन्नत्वे सति कार्याव्यवहितपूर्वक्षणा-
वच्छिन्न --कार्याधिकरणदेशनिरूपिताधेयतावदभाव
प्रतियोगितानवछेदकधर्मवत् कारणम् ।
वाक्यवृत्ति कारण प्रकरण

३. नियतवर्त्तिनो दण्डरूपादेरपि कारणत्वं स्यादतोऽन्यथासिद्धपदमपि
कारणलक्षणे निवेशनीयम् । न्याय बोधिनी पृ० २६

पृष्ठ १४५

१. अन्यथासिद्धिः त्रिविधा, येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमव-
गम्यते तं प्रति तेन तदन्यथासिद्धम् । यथा तन्तुना तन्तुरूपत्वं च पटं
प्रति । अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञाते एव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमव
गम्यते तं प्रति तदन्यथासिद्धम् । यथा शब्दं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञाते
एव पटं प्रति आकाशस्य । अन्यत्र क्लृप्तस्य नियतपूर्ववर्त्तिन एव
कार्यसंभवे तत्सहभूतमन्यथासिद्धम्, यथा पाकस्थले गन्धं प्रति रूप-
प्रागभावस्य । एव च अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणम् ।
तर्क दीपिका पृ० ७७

२. येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्
जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते
अतिरिक्तमथापि यद् भवेन्नियतावश्यकपूर्ववर्त्तिनः ।
एते पञ्चान्यथा सिद्धाः । भाषापरिच्छेद १९-२१

पृष्ठ १४८

१. (क) कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं कारणमसमवायि-
कारणम् । तर्क संग्रह पृ० ७९

(ख) समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या समवाय-स्वसम-

वायिसमवेतत्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्ना कारणता तच्छालित्वम् ।

तर्क किरणावली पृ० ७६

(ग) समवाय–स्वसमवायिसमवायान्यतरसम्बन्धेन कार्येण सहैक-स्मिन्नर्थे समवायेन प्रत्यासन्नत्वे सति आत्मविशेषगुणान्यत्वे सति कारणमसमवायिकारणम् ।

सिद्धान्तचन्द्रिका कारण खण्ड

(घ) कार्यैकार्थकारणैकार्थान्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिकारणे प्रत्या-सन्नं कारणं ज्ञानादिभिन्नमसमवायिकारणमिति सामान्यलक्षणं पर्यवसितम् । —न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ११४-११५ ।

पृष्ठ १५०

१. अधिष्ठानं च कर्त्ता च करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टाः दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।
तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ।

गीता १८. १४

पृष्ठ १५२

१. तत्रानुभूतिः प्रत्यक्षात्मिकैवेति चार्वाकाः, अनुमितिरपीति कणाद-सुगतौ, शाब्दोऽपीति सांख्याः, उपमितिरपीति केचिन्नैयायिकैकदे-शिनः; अर्थापत्तिरपीति प्राभाकराः, अनुपलब्धिरपीति भाट्टाः वेदान्तिनश्च, संभवैतिह्यरूपे अपीति पौराणिकाः ।

दिनकरी पृ० २३३

पृष्ठ १५३

१. (क) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसा-यात्मकं प्रत्यक्षम् । न्याय सूत्र १.१.४

(ख) इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।‥‥‥ अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । न्यायमुक्तावली पृ० २३३, २३५ ।

(ग) इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । तर्क संग्रह पृ० ८०

२. अक्षमक्षम्प्रतीत्योत्पद्यते तत्प्रत्यक्षम् । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ९४

३. प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्। सांख्यकारिका ५

४. ज्ञानं चैतन्यं ब्रह्मेत्यनर्थान्तरम् । वेदान्त परिभाषा टिप्पणी पृ० १५

५. अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम् । वात्स्यायन भाष्य पृ० १०

६. आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति ।
वात्स्यायन भाष्य पृ० १२

पृष्ठ १५४

१. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् । न्याय सूत्र १.१.४.

पृष्ठ १५५

१. प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णय वाद-जल्प वितण्डा हेत्वाभासच्छल जाति निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः । न्यायसूत्र १.१.१.

२. (क) अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम् । अक्षाणीन्द्रियाणि ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ९४

(ख) इन्द्रियजन्यं ज्ञान प्रत्यक्षम् । न्यायमुक्तावली पृ० २३३

पृष्ठ १५७

१. सामान्यलक्षणामित्यत्र लक्षणाशब्दस्य विषयोऽर्थः, तेन सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते । न्यायमुक्तावली पृ० २७७

पृष्ठ १५८

१. एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, तत्करणमिन्द्रियम्, तस्मा-दिन्द्रियं प्रत्यक्षं प्रमाणमिति । तर्कसंग्रह पृ० ८६

पृष्ठ १५९

१. तत्राद्यं (निर्विकल्पकं) वैशिष्ट्याविषयकं निष्प्रकारकं वा ।
कणादरहस्यम् पृ० ९१ ।

२. नामजात्यादिविशेषणविशेष्यसम्बन्धावगाहि ज्ञानम् (सविकल्पकम्) ।
तर्कदीपिका पृ० ८२ ।

पृष्ठ १६०

१. न तत्र (निष्प्रकारकज्ञाने) प्रमाणमिति चेत् न विशिष्टज्ञानस्यैव

तत्र प्रमाणत्वात् । नहि विशेषणज्ञानमन्तरेण विशिष्टज्ञानमुत्पद्यते अनुमित्यादौ तथा दर्शनात् । कणादरहस्यम् पृ० ६१

२. (क) गौरिति प्रत्यक्षं विशेषणज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानत्वादनुमितिवत् ।
कणादरहस्यम् पृ० ६१

(ख) ननु निर्विकल्पके किं प्रमाणमिति चेत् । न 'गौ' रिति विशिष्ट-ज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यं, विशिष्टज्ञानत्वात् दण्डीति ज्ञानवत्' इत्यनुमानस्य प्रमाणत्वात् । विशेषणज्ञानस्यापि सविकल्पकत्वे अनवस्थाप्रसङ्गात् निर्विकल्पकत्वसिद्धिः ।
तर्कदीपिका पृ० ८१

पृष्ठ १६३

2. Sensation properly expresses that change in the state of the mind which is producted by on impression upon an organ of sense : perception on the other-hand expresses the knowledge or intination we obtain by means of our sensations concerning the quailities of mat.
Fleming : Vacabulary of philosophy Page 443

पृष्ठ १६४

१. यदा निर्विकल्पानन्तरं सविकल्पकं नामजात्यादियोजनात्मकं डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते, तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः कारणम् । निर्विकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः सविकल्पकं ज्ञानं फलम् । तर्कभाषा पृ० २०

पृष्ठ १६५

१. सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । तत्करणमिन्द्रियम्, तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षं प्रमाणमिति । तर्कसंग्रह ८६

२. सन्निकर्षश्चैषां संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः समवायः समवेतसमवायः विशेषणविशेष्यभावश्चेति ।
कणादरहस्यम् पृ० ८९

पृष्ठ १६६

१. येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं तत्समवायः तद. भावश्च गृह्यते । तर्ककौमुदी पृ० १०

२. कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वात् । तर्कसंग्रह पृ० ८४

पृष्ठ १६८

१. (क) उद्भूतस्पर्शवद् द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः
रूपान्यच्चक्षुषो रूपं रूपमत्रापि कारणम् ।— भाषापरिच्छेद ५६

(ख) त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षेपि रूपं कारणम् । तथा च बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणम् । नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपं कारणं प्रमाणाभावात्, किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षमात्रे रूपं स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणम्, अन्वयव्यतिरेकात् । न्यायमुक्तावली पृ० २४३

पृष्ठ १६९

१. नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपं कारणं, प्रमाणाभावात्, किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपं स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमन्वयव्यतिरेकात् । वही पृ० २४३

२. (क) एवमात्मापि मनोग्राह्यः । वही पृ० २५१

(ख) अहंकारास्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्यगोचरः । भाषापरिच्छेद ५०

पृष्ठ १७२

१. तर्कितप्रतियोगिसत्वविरोध्यनुपलब्धिः । तर्कदीपिका पृ० ८५

पृष्ठ १७३

१. तर्कितमारोपितं यत्प्रतियोगिसत्वं तद्विरोधिनी···अनुपलब्धिः ।
तर्कदीपिका प्रकाश पृ० २४४-४५

२. तर्किता आपादिता प्रतियोगिनो घटादेः सत्वस्य सत्वप्रसक्तेः विरोधिनी या उपलब्धिः तत्प्रतियोगिकोऽभावोऽनुपलब्धिः ।
तर्कदीपिका प्रकाश पृ० २४४

पृष्ठ १७४

१. विशेषणता विशेषणात्मिका; विशेष्यता विशेष्यात्मिका, नत्वतिरिक्तेत्यतो न गौरवमितिभावः । तर्क किरणावली पृ० ८६

२. नहि फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्ष-प्रमाणतानित्यत्व-

मस्ति । दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणाभिन्नप्रमाणत्वाभ्युपगमात् ।

वेदान्तपरिभाषा पृ० ५५

पृष्ठ १७५

I. "First. Our senses conversant about particular sensible objects, do convey into the mind several distinct perceptions of things, according to those various ways wherein those objects do affect them; and thus we come by those ideas we have of yellow white, heat, cold, soft, hard, bitter sweet, and all those which we call sensible qualities; which when I say that the senses convey into the mind, I mean, they from external objects convey into the mind what produces there those perceptions. This great source of most of the ideas we have, depending wholly upon our senses, and derived by them to the understanding, I call, sensation.

"Secondly. The other fountain from which experience furnisheth the understanding with ideas, is the perception of the operations of our own minds within us as it is employed about the ideas it has got; which operations when the soul comes to reflect on and consider, do furnish the understanding with another set of ideas which could not be had from things without; and such are perception, thinking, doubting, believing, reasoning, knowing, willing, and all the different actings of our own minds; which we being conscious of and observing in our selves, do from these receive into our understanding as distinct ideas, as we do from bodies affecting our senses," ... ...
"The understanding seems to me not to have the least glimmering of any ideas which it doth not receive from one of these two. External objects furnish the mind with the ideas of sensible qualities, wihch are all those differnt perceptions they produce in us; and the mind furnishes the understanding with ideas of its own operations."

Locke : Essay on Human Understanding, Bk 11 ch. i, sce. 3, 4.

२. प्रत्यक्षपरिकल्पितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः ।
तत्वचिन्तामणि भाग २. पृ० १८

पृष्ठ १७६

१. उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः । न्यायदर्शन १.१.३४

२. साहचर्यनियमो व्याप्तिः। तर्कसंग्रह पृ० ९१

पृष्ठ १७७

१. व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। तर्कसंग्रह पृ० ९०

पृष्ठ १७९

१. येन हि अनुमीयते तदनुमानम् । लिङ्गपरामर्शेनानुमीयतेऽतो लिङ्ग-परामर्शोऽनुमानम् । तर्कभाषा पृ० ७१

२. स्वयमेव भूयो दर्शनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति महानसादौ-व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतः तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इति, तदनन्तरं वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः इति ज्ञानमुत्पद्यते । अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते । तर्कसंग्रह पृ० ९३

३. मितेन लिङ्गेनार्थस्य (लिङ्गिनः) पश्चान्मानमनुमानम् ।
न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य १,१,३

४. व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता ज्ञानं परामर्शः ।
परामर्शजन्यं ज्ञानं अनुमितिः ।
तर्कसंग्रह पृ० ९०

पृष्ठ १८०

१. (क) सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता ।
न्याय मुक्तावली ३०९

(ख) सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता ।
तर्कदीपिका पृ० ८९

पृष्ठ १८१

१. सिसाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धयभावः पक्षता ।
न्यायमुक्तावली पृ० ३०९

२. उपाध्यायास्तु सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धिप्रत्यक्षसामग्र्योर-न्यतरस्याभावः पक्षता। तेन सिद्धिकाले समानविषयकप्रत्यक्षसामग्री-कालेऽपि नानुमित्यापत्तिरित्याहुः। दिनकरी पृ० ३१६

पृष्ठ १८२

१. नवीनैरनुमित्युद्देश्यत्वं पक्षत्वमिति स्थिरीकृतम्। न्यायबोधिनी पृ० ४३

२. यादृश यादृश सिषाधयिषासत्वे सिद्धिसत्वे यल्लिङ्गकानुमितिस्तादृश-तादृशसिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावस्तल्लिङ्गकानुमितौ पक्षता। न्यायमुक्तावली पृ० ३११-३१२

३. सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः। तर्कसंग्रह पृ० १०५

४. व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता। तर्कसंग्रह पृ० ९२

पृष्ठ १८३

१. व्याप्त्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यता-शालिनिश्चयः परामर्शः। तर्कदीपिका प्रकाश पृ० २५५

२. यत्र यत्र धूमस्तत्रतत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। तर्कसंग्रहः पृ० ९१

३. हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः। तर्कदीपिका पृ० ९२,

पृष्ठ १८४

१. प्रतियोगितायां साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्वं निवेशनीयम्। तर्कदीपिका प्रकाश पृ० २५८

२. व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः।
अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना
साध्येन हेतोरेकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते।
भाषापरिच्छेद ६८-६९।

३. साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगि साध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः। उपस्कारभाष्य पृ० ९२

४. अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः। वही पृ० ९२

पृष्ठ १८६

१. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च ।
न्यायदर्शन १,१,५ ।

२. तत्सामान्यतो लक्षितमनुमानं विशेषतस्त्रिविधम्: पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च । तत्र प्रथमं तावत् द्विविधं वीतमवीतञ्च ।
सांख्यतत्वकौमुदी पृ० २१

३ यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परप्रतिपत्त्यर्थं पञ्चावयववाक्यं प्रयुंक्ते तत्परार्थानुमानम् ।
तर्कसंग्रह पृ० ९५

पृष्ठ १८७

१. पञ्चावयवेन वाक्येन संशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानं विज्ञेयम् । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११३

२. न्यायाप्रयोज्यानुमानं नाम स्वार्थानुमानम् । तत्प्रयोज्यानुमानं परार्थानुमानम् ।
न्यायबोधिनी पृ० ३८

३. परार्थानुमानं शब्दात्मकं स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्मकमेव ।
न्यायबिन्दु पृ० २१

४. पञ्चावयवेन वाक्येन'''स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम् ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११३

पृष्ठ १८८

१. परार्थानुमानस्य परस्य मध्यस्थस्यार्थ: प्रयोजनं साध्यानुमिति रूपं यस्मादितिव्युत्पत्त्या परसमवेतानुमितिकरणलिङ्गपरामर्शोर्थः । अतएव स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणमित्यग्रिम-मूलमपिसङ्गच्छते । तथापि परार्थानुमानप्रयोजके पञ्चावयववाक्ये परार्थानुमानशब्दस्यौपचारिक: प्रयोग इति ।
तर्कदीपिका प्रकाश २६५-२६८

पृष्ठ १८९

१. स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः । तथाहि—स्वयमेव भूयो दर्शनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतः, तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति—यत्र यत्र

धूमस्तत्र तत्राग्निः इति तदनन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानमुत्पद्यते । अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते । तर्कसंग्रह पृ० ९३

२. अथ तत्पूर्वक त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ।
न्यायदर्शन १,१,५

३. पूर्वः=कारणम्, तद्वत्=तल्लिङ्गकम्पूर्ववत्; यथा मेघोन्नत्या विशेषेण वृष्टयनुमानम् । शेषः=कार्यं, तद्वत्=तल्लिंगकं शेषवत्, यथा नदीवृद्ध्या वृष्ट्यनुमानम् । सामान्यतोदृष्ट=कार्यकारणभिन्नलिंगकम् । विश्वनाथवृत्ति पृ० ७

पृष्ठ १९०

१. पूर्ववदिति—यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम्, यथा धूमेनाग्निरिति । शेषवन्नाम परिशेषः स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः, यथा सदनित्यमेवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषेण सामान्यविशेषसमवायेभ्यो विभक्तस्य शब्दस्य, तस्मिन्द्रव्यगुणकर्मसंशये, न द्रव्यम् एकद्रव्यत्वात्, न कर्म शब्दान्तरहेतुत्वात्, यस्तु शिष्यते सोऽयमिति शब्दस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः । सामान्यतोदृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते, यथेच्छादिभिरात्मा, इच्छादयो गुणा गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः तद्यदेषां स्थानं स आत्मेति । वात्स्यायन भाष्य पृ० १५

२. तत्र प्रथमं तावत् द्विविधं वीतमवीतञ्च । अन्वयमुखेन प्रवर्त्तमानं विध्यर्थकं वीतम् । व्यतिरेकमुखेन प्रवर्त्तमानं निषेधकमवीतम् । तत्रावीतं शेषवत् । वीतं द्वेधाः—पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टञ्च । तत्रैक दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यत् तत्पूर्ववत् । पूर्वं प्रसिद्धं दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयमिति यावत् । तदस्य विषयत्वेनास्त्यनुमानज्ञानस्येति पूर्ववत् ।°°°···अपरं चावीतं सामान्यतोदृष्टं अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम् । सांख्यतत्वकौमुदी पृ० २२-२३

पृष्ठ १९२

१. तत्तु द्विविधम्=दृष्टं सामान्यतोदृष्टञ्च । तत्र प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजात्यभेदेऽनुमानम् । यथा गव्येव सास्नामात्रमुपलभ्य देशान्तरे

ऽपिसास्नामात्रदर्शनाद् गवि प्रतिपत्तिः । प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजाति-
भेदे लिङ्गानुमेयधर्मसामान्यानुवृत्तितोऽनुमानं सामान्यतोदृष्टम् ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १०४-१०५

पृष्ठ १९३

१. स्वयमेव भूयो दर्शनेन यत्र धूमस्तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतः, तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन्व्याप्तिं स्मरति यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। तर्कसंग्रह पृ० ९३ ।

३. व्यभिचारज्ञानविरहसहकृतसहचारज्ञानस्य व्याप्तिग्राहकत्वात् ।
तर्कदीपिका पृ० ९३

पृष्ठ १९६

१. उपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते । तर्क भाषा पृ० ७६

पृष्ठ १९७

१. नहि युक्तिमनवगच्छन्कश्चिद् विपश्चिद् वचनमात्रेण सम्प्रत्ययभाग् भवति । —व्यक्ति विवेक पृ० २२

२. अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्यत्वमवयवत्वम् । तत्वचिन्तामणि पृ० १४६९

पृष्ठ १९८

१. (क) साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा । तर्क संग्रह पृ० ९६
   (ख) प्रतिज्ञा उद्देश्यानुमित्यन्यूनानतिरिक्तविषयकशाब्दज्ञानजनकं न्यायावयववाक्यम् । वैशेषिक उपस्कार पृ० २१९

२. हेतुश्च प्रकृतसाधनपञ्चम्यन्तो न्यायावयवः ।
वैशेषिक उपस्कार पृ० २१९

पृष्ठ १९९

१. उदाहरणन्तु प्रकृतसाध्यसाधनाविनाभावप्रतिपादको न्यायावयवः ।
वही पृ० २२०

२. उपनयश्चाविनाभावविशिष्टस्य हेतोः पक्षवैशिष्ट्यप्रतिपादको न्यायावयवः । वही पृ० २२०

३. उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ।
न्याय दर्शन १.१.३८

४. निगमनन्तु पक्षे प्रकृतसाध्यवैशिष्ट्यप्रतिपादको न्यायावयवः ।
वैशेषिक उपस्कार पृ० २२०

५. हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् । न्याय सूत्र १.१.३९

६. निगम्यन्ते अनेन प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्रेति निगमनम् ।
वात्स्यायन भाष्य पृ० ३२

पृष्ठ २०१

१. कथायामाकांक्षाक्रमेणाभिधानमिति प्रथमं साध्याभिधानं विना 'कुतः' इत्याकारक हेत्वाद्याकांक्षाभावात् प्राथम्येन प्रतिज्ञाप्रयोगः ।
तत्व चिन्तामणि पृ० १४७०

पृष्ठ २०३

1. In a legitimate syllogism it is essential that there should be three and no more than three propositions, namely· the conclusion and the two (Major and minor) premises.
Mill : System of logic People's Ed. P. 108

२. प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् । न्याय दर्शन १.२.३९

पृष्ठ २०४

१. तच्च पञ्चतयं केचिद्, द्वयमन्ये वयं त्रयम् ।
उदाहरणपर्यन्तम्, यद्वोदाहरणादिकम् ।
शास्त्र दीपिका १.१.५. पृ० ६४

२. तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।
ख्याप्येते, विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः ।
व्यक्ति विवेक पृ० ६५

३ न्यायो नाम अवयवसमुदायः । अवयवाश्च त्रयः एव प्रसिद्धाः प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः उदाहरणोपनयनिगमनरूपाः वा, न तु पञ्चावयवरूपाः । वेदान्त परिभाषा पृ० १५१

पृष्ठ २०५

१. अङ्गं च द्वयमेव, व्याप्तिः पक्षधर्मधाचेति । तच्चोभयमुदाहरणोपनयाभ्यामेवाभिहितमिति ।
चित्सुखाचार्यकृता तत्वदीपिका पृ० ४०१

२. ……एतान्येव त्रयोऽवयवा इ   न्याय प्रवेश पृ० २

पृष्ठ २०६

1. A matter of rhetorical convenience, designed to bring to the recollection of heaver examples, in regard to which all parties are unanimous, and which are such as should constrain him to admit the universality of principal from which the conclusion follows.

Ballantyne : Lectures on Nyaya Philosophy P. 36

2. But if we inquire more carefully we find that instance in Gotama's syllogism has its own distinct office, not to be strengthen or to limit the the universal proposition, but to indicate, if I may say so, its modality. Every Vyāpti must be course admit at least one instance. These instances may be either positive only, or negative only, or both positive and negative.

Thomson's Laws of thought, Appendix P. 296

पृष्ठ २०७

१. साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ।

न्याय दर्शन १.१.३५

२. उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ।

वही १.२.३८

३. व्याप्तिप्रतिपादकं वचनमुदाहरणम् ।   तर्क दीपिका पृ० ६७

पृष्ठ २०६

१. लिङ्गमेवानुमितिकरणं न तु तस्य परामर्शः, तस्य निर्व्यापारत्वेनाकरणत्वात्, लिङ्गस्य तु स एव व्यापारः ।

वैशेषिक उपस्कार पृ० २१६

पृष्ठ २१०

१. ननु व्याप्यत्वावच्छेदकप्रकारेण व्याप्तिस्मरणं पक्षधमताज्ञानं तथा लाघवात्………एवञ्च धूमो वह्निव्याप्यो धूमवांश्चा यमिति ज्ञानद्वयादेवानुमितिरस्तु ।

तत्वचिन्तामणि पृ० ६८६-६०

पृष्ठ २११

१. परामर्शस्य सस्कारो व्यापार । तत्वचिन्तामणि पृ० ७८३

२. फलायोगव्यवच्छिन्नत्वमेव करणम् । भाषारत्न पृ० ७२

३ इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्य प्रत्यक्षम् । न्यायसूत्र १,१,४

४. फलायोगव्यवच्छिन्नकारणत्वस्य व्यापारवदसाधारणकारणत्वापेक्षया गुरुत्वेन हेयत्वाच्च । न्यायचन्द्रिका (नारायणतीर्थकृता) पृ० ८४

५. हेतुरपदेशोलिङ्ग प्रमाण करणमित्यनर्थान्तरम् । वैशेषिकसूत्र ६ २ ४

६. पक्षधर्मस्तदशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव स
अविनाभावनियमात्, हेत्वाभासास्तथापरे । प्रमाणवार्त्तिक पृ० ८

पृष्ठ २१२

१. व्यावृत्त यद्विपक्षेभ्य सपक्षेपु कृतान्वयम्
व्याप्त्या पक्षे वर्त्तमानमन्वयव्यतिरेकितत् ।
तर्कभाषा प्रकाशिका पृ० १४४

२ असपक्ष विपक्षेभ्योव्यावृत्त पक्षभूमिषु ।
सर्वासु वर्त्तमान यत् केवलव्यतिरेकि तत् । वही पृ० १४५

पृष्ठ २१३

१ सर्वेषु केषुचिद्वापि सपक्षेपु समन्वयि ।
विपक्षशून्य पक्षस्य व्यापक केवलान्वयि । वही पृ० १४७

पृष्ठ २१४

१ ईश्वरप्रमाविषयत्व सर्वपदाभिधेयत्व च सर्वत्रास्तीति व्यतिरेकाभाव ।
तर्कदीपिका पृ० १०२

२. तत्कालीनतत्पुरुषीयतत्साध्यहेतुकानुमित्यौपयिकान्वयव्यतिरेकोभय-व्याप्तिमत्तल्लिङ्गत्वमेव तत्काले तत्पुरुष प्रति तत्साध्यककेवलान्वयि-व्यतिरेकिहेतुत्वमित्यवश्य विवक्षणीयम् ।
रामरुद्रीयम् (तर्कदीपिका टीका) पृ० २८१

पृष्ठ २१५

१. जलादि त्रयोदशान्योन्याभावाना त्रयोदशसु प्रत्येक प्रसिद्धाना मेलन पृथिव्या साध्यते । तत्र त्रयोदशत्वावच्छिन्नभेदस्यैकाधिकरणवृत्तित्वा-भावान्नान्वयित्वासाधारण्ये । प्रत्येकाधिकरणे प्रसिद्धया साध्य-

विशिष्टानुमितिर्व्यतिरेकव्याप्तिनिरूपणञ्चेति ।

तर्कदीपिका पृ० १०३-१०४

२. उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतु । तथावैधर्म्यात् ।

न्यायदर्शन १,१,३४-३५

पृष्ठ २१६

१. तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव न तु केवलान्वयि सर्वस्यापि धर्मस्य तन्मते (अद्वैतमते) ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन अत्यन्ताभावप्रतियोगिसाध्यकत्वरूपकेवलान्वयित्वस्यासिद्धेः । नाप्यनुमानस्य व्यतिरेकिरूपत्वं साध्याभावे साधनाभावनिरूपितव्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यनुमितावनुपयोगात् । कथं तर्हि धूमादावन्वयव्याप्तिमविदुषोऽपि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानादनुमितिः, अर्थापत्तिप्रमाणादितिवक्ष्यामः । अतएवानुमानस्य नान्वयव्यतिरेकिरूपत्वम् – व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्यानुमित्यहेतुत्वात् । वेदान्तपरिभाषा पृ० १४८-५०

पृष्ठ २१७

१. साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वेन साधनस्य पक्षवृत्तित्वं सहकारि । सिद्धान्तचन्द्रोदय अनुमिति प्रकरण

२. (क) एतेषां च······त्रयाणां मध्ये यो हेतुरन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते । नत्वेकेनापि रूपेण हीनः । तानि पञ्च रूपाणिः पक्षसत्वं, सपक्षसत्वं, विपक्षव्यावृत्तिः, अबाधितविषयत्वं, असत्प्रतिपक्षत्वञ्चेति ।

तर्कभाषा पृ० ४२

(ख) त्रयाणां मध्ये योऽन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयति । तानि पञ्चरूपाणि पक्षधर्मत्वम् सपक्षसत्वम् विपक्षाद् व्यावृत्तिः, अबाधितविषयत्वम् असत्प्रतिपक्षत्वं चेति ।

तर्ककौमुदी पृ० १२

पृष्ठ २१८

१. साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते । वही पृ० ४३

२. त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमये (पक्ष) सत्वमेव, सपक्ष एव सत्वम्, असपक्षे (विपक्षे)चासत्वमेव निश्चितम् । न्यायविन्दु टीका पृ० १०४

पृष्ठ २१६

१. (क) असिद्धत्वं निसितुं पक्षधर्मत्वमुद्दिष्टम् । ततो विरुद्धं व्युदसितुं सपक्षे सत्वम् । अनन्तरमनैकान्तिकतां निराकर्त्तुं पक्षाद् व्यावृत्तिः। समनन्तरं कालात्ययापदिष्टतां प्रत्यादेष्टुमबाधितविषयत्वम् । पश्चात् प्रकरणसमतां प्रतिक्षेप्तुमसत्प्रतिपक्षत्वम् । तदनेन रूपेण हेत्वाभासपञ्चकं निरस्तं वेदितव्यम् ।

तर्कभाषा प्रकाशिका पृ० १४८

२. केवलान्वयी चतूरूपोपपन्न एव स्व साध्यं साधयति । तस्य हि विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नास्ति विपक्षाभावात् । केवलव्यतिरेकी चतूरूपोपयुक्तः तस्य सपक्षे सत्वं नास्ति सपक्षाभावात् । तर्कभाषा पृ० ४३-४४

पृष्ठ २२०

१. एषां पक्षहेतुदृष्टान्ताभासानां वचनानि साधनाभासम् ।

न्यायप्रवेश पृ० ७

२. साधयितुमिष्टोऽपि प्रत्यक्षादिविरुद्धः पक्षाभासः । तद्यथा प्रत्यक्षविरुद्धः, अनुमानविरुद्धः, आगमविरुद्धः, लोकविरुद्धः, स्ववचनविरुद्ध, अप्रसिद्ध-विशेषणः, अप्रसिद्धविशेष्यः, अप्रसिद्धोभयः, प्रसिद्धसम्बन्धश्चेति ।

वही पृ० २

३. असिद्धानैकान्तिकविरुद्धाः हेत्वाभासाः । तत्रासिद्धश्चतुः प्रकारः । तद्यथा—उभयासिद्धः अन्यतरासिद्ध, सन्दिग्धासिद्धः, आश्रयासिद्ध-श्चेति । वही पृ० ३

४. अनैकान्तिकः षट् प्रकारः-साधारणः, असाधारणः, सपक्षैकदेशवृत्ति-र्विपक्षव्यापी, विपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षव्यापी, उभयपक्षैकदेशवृत्तिः, विरुद्धाव्यभिचारी चेति । वही पृ० ३

५. विरुद्धश्चतुः प्रकारः । तद्यथा धर्मस्वरूपविपरीतसाधनः धर्मविशेष-विपरीतसाधनः, धर्मिस्वरूपविपरीतसाधनः, धर्मिविशेषविपरीत-साधनश्चेति । वही पृ० ५

६. दृष्टान्ताभासो द्विविधः साधर्म्येण वैधर्म्येण च । तत्र साधर्म्येण तावद् दृष्टान्ताभासः पञ्चप्रकारः । तद्यथा साधनधर्मासिद्धः, साध्यधर्मासिद्धः, उभयधर्मासिद्धः, अनन्वयः, विपरीतान्वयश्च ।……

वैधर्म्येणापि दृष्टान्ताभास. पञ्चप्रकार: । तद्यथा—साध्याव्यावृत्त:, साधनाव्यावृत्त:, उभयाव्यावृत्त:, अव्यतिरेक:, विपरीतव्यतिरेकश्चेति ।
वही पृ० ५-६

७. (क) साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्ति-प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुपपत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्यु-पलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमा: ।

न्यायदर्शन ५-१-१

(ख) प्रतिज्ञाहानि: प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोध: प्रतिज्ञासन्यासो हेत्वन्तम्·········निग्रहस्थानानि । वही पृ० ५-२-१

८. यदा प्रतिवादी वादिना प्रयुक्तं स्थापनाहेतुं साध्विति मन्यते, लाभ-पूजाख्यातिकामस्तु जातिं प्रयुङ्क्ते—कदाचिदयं जात्युत्तरेणाकुली-कृतो नोत्तरं प्रतिपद्यते उत्तराप्रतिपत्त्या च निगृह्यते, ततश्च मे विजय एव स्यात्, जातेरनभिधाने तु मम पराजय एव स्यात् । पराजयाच्च-वरमस्तु सन्देहोपीति' युक्त एव जाते: प्रयोग: । न्यायखद्योत पृ० ८२८

पृष्ठ २२१

१ हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतु सामान्याद् हेतुवदाभसमाना: ।

न्यायभाष्य पृ० ३९

पृष्ठ २२२

१. (क) हेतुवदाभासमानत्वाद्धेत्वाभासा इति सिद्धं लक्षणम् ।
व्योमवती (प्रशस्तपाद भाष्यटीका) पृ० ६०४

(ख) हेतो: केनापि रूपेण रहिता: कैश्चिदन्विता:
हेत्वाभासा: पञ्चविधा: गौतमेन प्रपञ्चिता: ।
तर्कभाषा प्रकाशिका पृ० १५३

२. हेतोराभास इति व्युत्पत्या हेत्वाभासपदं हेतुदोषपरम् ।
हेतोराभासो यत्र इति व्युत्पत्या तत्पद (हेत्वाभासपदं) दुष्टहेतु परम् ।
—भाषारत्न पृ० १८०

३. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता: हेत्वाभासा: ।

न्यायसूत्र १.२.४

४. एकस्यैव स्नेहस्य अनैकान्तिक: विरुद्ध: इत्यादि पञ्चत्वव्यवहारकथम्

इत्यादि शंकायामुत्तरम्—उपधेयसंकरेप्युपाध्यसंकर इति न्यायाद्-दोषगतसख्यामादाय दुष्टहेतौ पञ्चत्वादि संख्याव्यवहारः ।

दीधिति हेत्वाभास प्रकरण

पृष्ठ २२३

१. (क) 'यद्विषयत्वेन लिङ्गज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वं, ज्ञायमानं सदनुमितिप्रतिबन्धकं यत्तत्वं वा हेत्वाभासत्वम् ।

तत्वचिन्तामणि १५८०

(ख) यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं हेत्वाभासत्वम् ।

तथाहि व्यभिचारादिविषयत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वात् दोषाः । न्यायमुक्तावली पृ० ३१८

२. अनुमिति प्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वं हेत्वाभासत्वम् ।

तर्कदीपिका पृ० १०६

३. हेत्वाभासत्वं तु ज्ञायमानत्वे सत्यनुमिति प्रतिबन्धकत्वम् ।

न्यायलीलावती प्रकाश पृ० ६०६

पृष्ठ २२४

१. अत्रानुमितिपदमजहल्लक्षणया अनुमितितत्करणान्यतरपरम् । तेन व्यभिचारादिज्ञानस्य परामर्शप्रतिबन्धकतयैवनिर्वाहादनुमित्य-प्रतिबन्धकत्वेऽपि व्यभिचारादिषु नाव्याप्तिः । नीलकण्ठी पृ० २६१

२. तेनानुमितितत्करणज्ञानान्यतरविरोधित्वं पर्यवस्यति ।

न्यायसूत्र वृत्ति १,२,४

३. यस्य हेतोर्यावन्ति रूपाणि गमकतौपयिकानि तदन्यतररूपहीनः स हेतुराभासः । वैशेषिक उपस्कारभाष्य पृ० ६७

४. अतोऽन्ये हेत्वाभासाः । तर्कभाषा पृ० ४४

पृष्ठ २२५

१. अप्रसिद्धोनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः । वैशेषिक सूत्र ३,१,१५

२. एतेनासिद्धविरुद्ध सन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्तं भवति ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११६

३. विपरीतमतो यत्स्यादेकेन द्वितयेन वा ।
विरुद्धासिद्धसन्दिमलिङ्गं काश्य पोऽब्रवीत् । वही पृ० १००

४. वृत्तिकारस्तु 'अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः' इति सूत्रस्थ चकारस्य बाधितसत्प्रतिपक्षसमुच्चयार्थतामाह । तेन "सव्यभिचार-विरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकालाः पञ्चहेत्वाभासाः" इति गौतमीयमेवमतमनुधावति । परन्तु 'विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्' इत्याद्यभिधानात् सूत्रकारस्वरसो हेत्वाभासत्रित्वे । चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थ इति तत्वम् । वैशेषिक उपस्कार पृ० ६६

पृष्ठ २२६

१. (क) ते च सव्यभिचारविरुद्ध सत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिताः पञ्च ।

तत्वचिन्तामणि पृ० १०, ३६

(ख) तत्र हेतुदोषाः पंच : व्यभिचारविरोधसत्प्रतिपक्षासिद्धि-बाध भेदात् । भाषारत्न पृ० १८०

(ग) सव्यभिचारविरोधासिद्धबाधाः पञ्च हेत्वाभासाः ।

तर्कसंग्रह पृ० १०६

पृष्ठ २२७

१. यत्र प्रत्यक्षानुमानागमविरोधः········सर्वः प्रमाणतो विपरीत-निर्णयेन सन्देहविशिष्टं कालमतिपतति इति सोऽयं कालात्ययेनापदि-श्यमानः कालातीतः । न्यायखद्योत पृ० १८६-१८७

२. विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १००

३. तदाभासास्तु चत्वारः —असिद्धविरुद्धसव्यभिचारानध्यवसिताः ।

न्यायलीलावती पृ० ६०६

४. हेत्वाभासास्तु विरुद्धासिद्धसन्दिग्धास्त्रय एव न तु पञ्च षड् वा ।

कणादरहस्यम् पृ० १००

पृष्ठ २२८

1. Many Europian logicians regard material fallacies as being out of the provence of logic,

Notes on Torkasamgraha P. 217

२. उभयोः व्याप्तिग्रहपक्षधर्मतापहारेणैवानुमानदूषकत्वात्, । (न हेत्वा-भासत्वम्) सिद्धसाधनवत् । न्यायलीलावती पृ० ६०६

पृष्ठ २२६

१. अनैकान्तिकः सव्यभिचारः । न्यायसूत्र १. २. ५.

पृष्ठ २३०

१. नित्यत्वमेकोऽन्तः । अनित्यत्वमप्येकोऽन्तः, एकस्मिन्नन्ते विद्यते इति ऐकान्तिको विपर्ययादनैकान्तिकः, उभयान्तव्यापकत्वात् ।
वात्स्यायन भाष्य पृ० ४०

२. उभयकोट्युपस्थापकतावच्छेदकरूपवत्वं तत्वम् । तच्च साधारणत्वादि।
तत्वचिन्तामणि पृ० १०६३

३ (क) आद्यः साधारणोनैकान्तिकः, द्वितीयस्त्वसाधारणः, तृतीयोऽनुपसंहारी । उपस्कार भाष्य पृ० ६६

(ख) आद्यः साधारणस्तु स्यादसाधारणकोऽपरः ।
तथैवानुपसंहारी त्रिधाऽनैकान्तिको भवेत् ।
कारिकावली ७२

(ग) सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः, स त्रिविधः साधारण असाधारण अनुपसंहारिभेदात् । तर्कसंग्रह पृ०

४. साधारणाद्यन्यतमत्वमनैकान्तिकत्वम् । न्याय मुक्तावली पृ० ३३०

५ (क) पक्षान्यसाध्यवत्तदन्यवृत्तित्वं साधारणत्वम् ।
तत्वचिन्तामणि पृ० १०७६

(ख) पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः साधारणः । तर्क भाषा पृ० ६४

६. साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणः । तर्क संग्रह पृ० ११०

पृष्ठ २३१

१ (क) सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः ।
तर्क संग्रह पृ० १११

(ख) सपक्षाद् विपक्षाद् व्यावृत्तो यः पक्ष एव वर्त्तते सोऽसाधारणोऽनैकान्तिकः । तर्क भाषा पृ० ६४

२. लक्षणन्तु सर्वसपक्षव्यावृत्तत्वम् । नतु विपक्षव्यावृत्तत्वमपि । व्यर्थविशेषणत्वात् । तत्वचिन्तामणि पृ १०९४

पृष्ठ १११

१. अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारि । तर्क सग्रह पृ० १११

२. अनुपसंहारी च अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकादिः ।

न्याय मुक्तावली ३३१

३. केवलान्वयिधर्मावच्छिन्नपक्षको वा (अनुपसंहारी) ।

तत्वचिन्तामणि पृ० ११०६

पृष्ठ २३३

१. उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपननयः ।

न्यायसूत्र १. १. ३७

पृष्ठ २३५

१. स द्विविधः साधारणानैकान्तिकोऽसाधारणानैकान्तिकश्चेति ।

तर्क दीपिका पृ० ९४

२. अनैकान्तिकः षट् प्रकारः साधारणः, असाधारणः, सपक्षैकदेशवृत्ति-विपक्षव्यापी, विपक्षैकदेशवृत्तिः, सपक्षव्यापी, उभयपक्षैकदेशवृत्तिः, विरुद्धाव्यभिचारी चेति । न्याय प्रवेश पृ० ३

पृ० २३६

१ (क) अनैकान्तिकभेदास्तु : पक्षत्रयव्यापको यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्, पक्षव्यापको विपक्षसपक्षैकदेशवृत्तिः......, पक्षसपक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिः......, पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षैकदेशवृत्ति......, पक्षत्रयैकदेशवृत्ति ...... ,पक्षसपक्षैकदेशवृत्ति-विपक्षव्यापकः......पक्ष विपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्ष व्यापकः......।

न्यायसार पृ० १०

(ग) ....इत्यष्टावनैकान्तिकभेदानभिधाय......... ।

न्यायतात्पर्यदीपिका पृ० १२६

२. सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद् विरोधी विरुद्धः । न्यायसूत्र १. २. ६.

३. सोऽयं हेतुः यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्त्तते तमेव व्याहन्तीति ।

वात्स्यायन भाष्य पृ० ४०

पृष्ठ २३७

१. एतेन व्याप्यत्वासिद्धिविरुद्धयोः संग्रहः । उपस्कार भाष्य पृ० ९५

२. साध्यानवगत सहचारः । तत्वचिन्तामणि पृ० १७४

३. यः साध्यवति नैवास्ति विरुद्ध उदाहृतः । कारिकावली ७४

४ (क) साध्याभावव्याप्तो हेतुः विरुद्धः । कणाद रहस्यम् १०१
(ख) साध्याभावव्याप्तो हेतुः विरुद्धः । तर्क संग्रह पृ०
(ग) साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुः विरुद्धः । तर्क भाषा पृ० ६४

५. साध्यव्यापकाभाव प्रतियोगित्वं विरुद्धत्वम् ।
तत्वचिन्तामणि पृ० १७७६

६. योह्यनुमेयेऽविद्यमानोऽपि तत्समानजातीये सर्वस्मिन्नास्ति तद्विपरीते-चास्ति स विपरीतसाधनाद्विरुद्धः । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११७

७. पक्षविपक्षयोरेव वर्त्तमानो हेतुः विरुद्धः । न्यायसार पृ० ७

पृष्ठ २३८

१. विरुद्धश्चतुः प्रकारः तद्यथा धर्मस्वरूपविपरीत साधनः, धर्मविशेष-विपरीतसाधनः, धर्मिस्वरूपविपरीतसाधनः धर्मिविशेषविपरीत-साधनः । न्याय प्रवेश पृ० ५

२. विरुद्धभेदास्तु : सति पक्षे चत्वारो विरुद्धाः पक्षविपक्षव्यापको यथा नित्यःशब्दः सामान्यवत्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्, पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा नित्यः शब्दः प्रयत्न नान्तरीयकत्वात्, पक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा नित्या पृथिवी कृतकत्वात् ।

असति सपक्षेचत्वारो विरुद्धाः—पक्षविपक्षव्यापको यथा आकाश-विशेषगुणः शब्दः प्रयत्ननान्तरीयकत्वात् । पक्षव्यापको विपक्षैक देशवृत्तिः यथा आकाशविशेषगुणः शब्दो बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् । विपक्षव्यापकः पक्षैकदेशवृत्तिः यथा आकाशविशेषगुणः शब्दः अपदात्मकत्वात् न्यायसार पृ० ६

पृष्ठ २४०

१. यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ।
न्याय सूत्र १.२.७

पृष्ठ २४१

१. सत्प्रतिपक्ष is classed by Vaisheshikas under बाधित.
Notes on Tarka Sangrah P. 404

२. अप्रसिद्धोऽनपदेश इति विरुद्धावरोधः·········कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमयोश्चाप्रसिद्धपदेनैवावरोधः तयोरबाधितविषयत्वा-

त्सत्प्रतिपक्षत्वेनाप्रसिद्धत्वात् । समानतन्त्र न्यायेन वा संग्रहः ।

जगदीशतर्कालंकार कृता प्रशस्तपाद सूक्ति पृ० ५६६

३. सत्प्रतिपक्षो विरोधिव्याप्त्यादिमत्तया परामृष्यमाणो हेतुः विरोधि-परामर्शो वा यस्य परामृश्यमाणस्य हेतोरसौ सत्प्रतिपक्षः ।

दीधिति पृ० १७८७

४ (क) साध्यविरोध्युपस्थापनसमर्थसमानबलोपस्थित्या प्रतिरुद्ध-कार्यलिङ्गत्वम् । तत्वचिन्तामणि पृ० ११४१

(ख) साध्यविरोधी साध्यवत्ताज्ञानप्रतिबन्धकज्ञानविषयो बाधः साध्या-भावादिः तदुपस्थितेर्वा जननयोग्यया समानया बलोपस्थित्या तथाविध व्याप्त्यादि बुद्ध्या प्रतिरुद्धं कार्यं यस्य तादृश-लिङ्गत्वमित्यर्थः । अनुमान गदाधरी पृ० १७८८

पृष्ठ २४३

१. हेतुद्वयसमूहालम्बनाद्युगपदुभयव्याप्तिस्मृतौ उभयपरामर्शरूपं ज्ञानमुत्पद्यते । तत्वचिन्तामणि पृ० ११६७

२. सत्प्रतिपक्षत्वं साध्याभावव्याप्यवत्पक्षत्वम् । अस्ति च ह्रदो वह्नि-मान्ह्रदत्वात् इत्यादौ ह्रदत्वात् इति हेतोस्तथात्वम् ।

भाषारत्न पृ० १८३

४ (क) एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामपदेशत्वम् ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १६

(ख) सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीताः हेत्वाभासाः ।

न्याय सूत्र १. २. ४.

५. साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः । न्याय सूत्र १.२.८

पृष्ठ २४४

१. ये व्याप्तिविरहपक्षधर्मताविरहरूपास्तेऽसिद्धिभेदमध्यासते, तदन्ये च व्यभिचारादयः । तत्वचिन्तामणि पृ० ११८०

२. तत्रासिद्धश्चतुर्विध :— उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धस्तद्भावासिद्धोऽनु-मेयासिद्धश्चेति । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११६

पृष्ठ २४५

१. तत्रासिद्धः चतुः प्रकारः उभयासिद्धः, सन्दिग्धासिद्धः, आश्रयासिद्धश्च ।
न्याय प्रवेश पृ० ३

२. असिद्धभेदास्तावत् स्वरूपासिद्धः, व्यधिकरणासिद्धः,.........
विशेष्यासिद्धः,......विशेषणासिद्धः,..... भागासिद्धः........
आश्रयासिद्धः,.......आश्रयैकदेशासिद्धः,......व्यर्थविशेष्यासिद्धः,
..... सन्दिग्धविशेषणासिद्धः..... विरुद्धविशेष्यासिद्धः,.........
एतेऽसिद्धभेदाः यदोभयवाद्यसिद्धत्वेन विवक्षितास्तदोभयासिद्धा
भवन्ति । यदात्वन्यतरवाद्यसिद्धत्वेन विवक्षितास्तदान्यतरासिद्धाः
भवन्ति । न्यायसार पृ० ७-६

३. लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुरसिद्धः । न्यायलीलावती पृ० ६११

४. लिङ्गत्वेनेनि—व्याप्तिपक्षधर्मतावत्वेन अनिश्चितोऽप्रमित इत्यर्थः ।
न्यायलीलावती प्रकाश ६११

५. व्याप्तिपक्षधर्मताभ्यां निश्चयः सिद्धिः तदभावोऽसिद्धि...... ......
मैवम् एवं सव्यभिचारादेरप्यत्रैवान्तर्भावप्रसङ्गात् ।
तत्वचिन्तामणि पृ० १८४५

६. तत्र निश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः । न्याय सार पृ० ७

पृष्ठ २४६

१. साधारण्यकथितासाधारण्यानुपसंहारित्वभिन्नं ज्ञानस्य विषयतया
परामर्शविरोधितावच्छेदकं रूपमसिद्धिः । दीधिति पृ० १८५३-५४

२. आश्रयासिद्धिः स्वरूपासिद्धिः व्याप्यत्वासिद्धिश्च प्रत्येकमेव दोषः ।
प्रत्येकस्य ज्ञानादुद्भावनाच्चानुमितिप्रतिबन्धात् ।
तत्वचिन्तामणि पृ० १९५२

पृष्ठ २४७

१. अयं स्वरूपासिद्धः शुद्धासिद्धो भागासिद्धो विशेषणासिद्धो
विशेष्यासिद्धश्चेति । तर्क किरणावली पृ० ११३

२. सोपाधिको हेतुः व्याप्यत्वासिद्धः । तर्क संग्रह पृ० ११४

३. साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः । वही पृ० ११४

पृष्ठ २५०

१. नीलधूमत्वादिकं गुरुतया न हेतुतावच्छेदकं स्वासमानाधिकरण-व्याप्यतावच्छेदकधर्मान्तराटितस्यैव व्याप्यतावच्छेदकत्वात्।

न्याय मुक्तावली पृ० ३४७-४८

२. न च नीलधूमत्वस्यापि तादृशधर्मान्तराघटितत्वमस्त्येव धूमत्वस्य नीलधूमत्वभिन्नत्वाभावादिति वाच्यम्……शुद्ध धूमत्वपर्याप्तावच्छेदकताकप्रकारकनीलत्वादिविशिष्टधूमत्वपर्याप्तावच्छेदकताकप्रकार-त्वयोर्भेदात्। दिनकरी पृ० ३४८

३. सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। तर्क संग्रह पृ० ११४

४. व्याप्यत्वासिद्धस्तु द्विविधः। एको व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्। अपरस्तूपाधिसाङ्कर्यात्। तर्क भाषा पृ० ४४-४५

पृष्ठ २५१

१. अवयवविपर्यासवचनं न सूत्रार्थः। न्याय भाष्य पृ० ४२

२. यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थेनापि तेन सः।
अर्थतो ह्यसमानानामानन्तर्यमकारणम्। न्याय भाष्य पृ० ४२

पृष्ठ २५२

२. अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्। न्याय सूत्र ५.२.१०

३ (क) शब्दोप्यवस्थितोभेरीदण्डसंयोगेन व्यज्यते, दारुपरशुसंयोगेन वा। तस्मात्संयोगव्यंग्यत्वान्नित्यः शब्दः इत्ययमहेतुः कालात्ययाप-देशात्। न्याय भाष्य पृ० ४२

(ख) शब्दः नित्यः संयोगव्यंग्यत्वात् इत्यत्र शब्दस्योपलब्धिकाले संयोगो नास्ति इति भवत्ययं कालात्ययापदिष्ट इति।

न्याय खद्योत पृ० १८६

४. व्यञ्जकस्य संयोगस्य कालं न व्यंग्यस्य कालं न व्यंग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरत्येति। सति प्रदीपघटसंयोगे रूपं गृह्यते। निवृत्ते दारु-परशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दःश्रूयते विभागकाले, सेयं शब्दस्य व्यक्तिः संयोगकालमत्येतीति न संयोगनिर्मिता भवति कस्मात्? कारणाभावात् हि कार्याभावः इति। न्याय भाष्य पृ० ४२

पृष्ठ २५३

१. प्रमाणान्तरेणावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः कालात्य-
यापदिष्ट इति चोच्यते । तर्क भाषा पृ० ४६

२ (क) बाधः ······ साध्याभाववत्त्वप्रमाविषयत्वप्रकाराभावप्रतियोगि-
साध्यकत्वं वेति । तत्वचिन्तामणि पृ० ११६५

(ख) यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः।
तर्क संग्रह पृ० ११६

३. अथ पक्षे साध्याभावप्रमैव साध्याभावहेतुविषया व्यभिचारज्ञानत्वेन दोषो न तु तस्याः प्रमात्वज्ञानमपीतिचेत्, तर्हि प्रमायाः अप्रमात्व-
ज्ञाने ·····न स्याच्च पक्षे साध्याभावज्ञानप्रमात्वभ्रमादनुमिति
प्रतिबन्धः। तत्वचिन्तामणि पृ० १२१२–१३

४. साध्याभाववत्पक्षादिज्ञानप्रमात्वं तु न बाधः, तज्ज्ञानस्य पक्षादौ साध्याभावादेरनवगाहित्वे विरोधिविषयत्वाभावात्।
दीधिति पृ० १२०८

पृष्ठ २५४

१. कालात्ययापदिष्टभेदास्तु प्रत्यक्षविरुद्धः······अनुमानविरुद्धः······
आगमविरुद्ध······ प्रत्यक्षैकदेशविरुद्ध ·········अनुमानैकदेशविरुद्धः
न्याय सार पृ० ११

पृष्ठ २५७

१. प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासन्यासो हेत्वन्तर-
मर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं
पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञापर्यनुयोज्योपेक्षणं
निरनुयोज्यानुपयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि।
न्यायसूत्र ५. २. १

२. साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्प साध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्ग
प्रतिदृष्टान्तसिद्धान्तानुपपत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्यविशेषोपपत्त्युपल-
ब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्य कार्यसमाः। वही ५. १. १.

पृष्ठ २५८

१. व्याप्तिनिरपेक्षतयायत्किञ्चित्पदार्थसाधर्म्यवैधर्म्याभ्याम् प्रत्यवस्थानम्

अनिष्टप्रदर्शनेन दूषणाभिधानं जातिः । यद्यपि साधर्म्यवैधर्म्य-प्रदर्शनं सर्वत्र जातौ नास्ति तथापि व्याप्तिनिरपेक्षतया दूषणाभिधाने तात्पर्यमिति विवरणकाराः । न्यायखद्योत पृ० २००—२०१ ।

पृष्ठ २५९

१. वचनविघातोऽर्थ विकल्पोपपत्त्या छलम् ।
तत्त्रिविधम् वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं च ।
न्यायसूत्र १. २. १०—११

२. अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ।
वही १. २. १२.

३. सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पनासामान्यछलम् ।
वही १. २. १३

४. धर्मविकल्पनिर्देशे अर्थसद्भावप्रतिषेधः उपचारछलम् ।
वही १-२-१४

पृष्ठ २६०

१. प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् । न्यायसूत्र १. १. ६.

पृष्ठ २६१

१. प्रज्ञातेन सामान्यात्प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानम्·········समाख्या-सम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः । यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः सञ्ज्ञेति सञ्ज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति । न्याय भाष्य पृ० १५

२. न केवलं सादृश्यरूपसाधर्म्यज्ञानजन्यैवोपमितिः, वैधर्म्यज्ञानजन्योप-मितेरपि सत्वात् । भाषारत्न पृ० १८७

३ (क) संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध प्रतीतिरुपमितिः । तर्क भाषा पृ० ४०
(ख) संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः । तर्क संग्रह पृ० ११९
(ग) पदपदार्थयोः तादृशसम्बन्धनिश्चय एवोपमिति :
तर्क किरणावली पृ० १२०

४. उपमानं त्रिविधम् : सादृश्यविशिष्टपिण्डदर्शनम्, असाधारणधर्म-विशिष्टपिण्डदर्शनम्, वैधर्म्यविशिष्टपिण्डदर्शनञ्चेति ।
तर्क किरणावली पृ० १२१.

५. ग्रामीणेन क्वचिदरण्यादौ गवयो दृष्टः तत्र गोसादृश्यदर्शनं यज्जातं तदुपमितिकरणम् । न्यायमुक्तावली पृ० ३५१

पृष्ठ २६२

१. गवयो गवयपदवाच्य इति ज्ञानं यज्ज्ञायते तदुपमितिः नत्वयं गवय-पदवाच्य इत्युपमितिः गवयान्तरे शक्तिग्रहाभावप्रसङ्गात् ।
न्याय मुक्तावली पृ० ३५१—३५३

२ (क) तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम् । .... तदनन्तरं भवति निश्चयः 'अनेन सदृशी मदीया गौरिति' तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां गवय निष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणं गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञानं फलम् ।
वेदान्त परिभाषा पृ० १६३

(ख) गां गवय सादृश्यविशिष्टामुपमिनोति । शास्त्रदीपिका पृ० ७६

पृ० २६३

१. तत्रोपमानं तावदनुमानमेव शब्दद्वारा । उपस्कार भाष्य पृ० २४५

२. आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवय प्रतिपदिनादुपमानमाप्तवचनमेव ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १०९--११०

३. उपमानमस्तु प्रमाणान्तरमितिचेत् न शब्दादेव तत्र संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध-परिच्छेदात् । शब्दस्य चानुमानेऽन्तर्भूतत्वात् ।
कणादरहस्यम् पृ० १०६

४. यत्तु गवयस्य चक्षुः सन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्, अतएव स्मर्यमाणायां गवि गवयसादृश्यज्ञानमपि प्रत्यक्षमेव ।
सांख्यतत्वकौमुदी पृ० २७—२८

५. गवयशब्दो गवयवाचकः वृत्यन्तरे शिष्टैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्, असतिवृत्यन्तरे यः शब्दो यत्र शिष्टैः प्रयुज्यते स तस्य वाचको यथा गोशब्दो गोः इत्यनुमानादेव गवयशब्दो गवयसंज्ञां परिच्छिनत्ति ।
उपस्कार भाष्य पृ० २२६

पृष्ठ २६४

१. अगृहीतव्याप्तिकस्यापि प्रकृतपदवाच्यता ज्ञानात्मकोपमित्युत्पाद-दर्शनात् प्रमाणान्तरमेवेति । रत्नलक्ष्मी पृ० १८८

पृष्ठ २६५

१. आप्तोपदेशः शब्दः । न्यायसूत्र १,१,७

२. आप्तवाक्यं शब्दः । तर्कभाषा पृ० ४७

३. साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तया प्रवर्त्तते इत्याप्तः । ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम् । न्यायभाष्य पृ० ११

४. लोभादिशून्यत्वमेवाप्तत्वे मूलम् ।······ आप्ताः पुनर्द्विविधाः सर्वज्ञाः असर्वज्ञाश्च । सर्वज्ञानाम्प्रामाण्यन्तदस्तित्वबोधकप्रमाणैरेवनिर्णीतम्, सर्वज्ञेषु रागद्वेषादीनामप्रामाण्यकारणानामसम्भवात् । असर्वज्ञानाम्पुनः प्रामाण्यं कारणत्रये निर्भरम् । उपदेशविषयस्य यथार्थज्ञानं, यथार्थ-ज्ञानचिख्यापयिषा, वचनादिकरणपाटवमित्येवं कारणत्रितयम-पेक्षितम् । न्यायखद्योत पृ० ८५

६. साकांक्षावयवं भेदे परानाकांक्षशब्दकम् ।
क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते । व्यक्ति विवेक पृ० ३८

५. वाक्यं पद समूहः ।·······शक्तं पदम् । तर्कसंग्रह पृ० १२२

पृष्ठ २६६

१. नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्त्विच्छैव तेनाधुनिकसकेतितेपि शक्तिरस्त्येवेत्याहुः । न्यायमुक्तावली पृ० २५९

२. अपभ्रंशात्मक गगर्यादिपदे शक्तिभ्रमादेव बोधः । दिनकरी पृ० ३५९

३. शक्तं पदम्, तच्चतुर्विधम्, क्वचिद्यौगिकं क्वचिद्रूढं क्वचिद्योगरूढं क्वचिद्यौगिकरूढमिति । न्यायमुक्तावली पृ० ३८१

पृष्ठ २६७

१. (क) सप्तम्यां जनेर्डः' पाणिनीय अष्टाध्यायी ३.२.९७
(ख) सप्तम्यन्त उपपदे जने र्धातोः डः प्रत्ययो भवति ।
काशिका पृ० १८५

२. समुदायशक्त्युपस्थितपद्मेऽवयवार्थपङ्कजनिकर्त्तु रन्वयो भवति सान्नि-ध्यात् । न्यायमुक्तावली पृ० ३८३

३. वृत्तिश्च द्विधा शक्तिः लक्षणा च । भाषारत्न पृ० १६०

पृष्ठ २६८

१. वा० जातिशब्देन हि द्रव्याभिधानम्। (भाष्यम्) जातिशब्देन हि द्रव्यमप्यभिधीयते, जातिरपि। कथं पुनर्ज्ञायते जातिशब्देनद्रव्यमप्यभिधीयते इति ? कश्चिन्महति गोमण्डले गोपालकमसीनं पृच्छति अस्त्यत्र कांचिद् गां पश्यसीति।...नूनमस्य द्रव्य विवक्षितम् (६७)... । वा० आकृत्यभिधानाद्वैकविभक्तौ वाजप्यायनः। भा० एका आकृतिः सा चाभिधीयते। (६०) ..वा० धर्मशास्त्र च तथा। भा० एवं च कृत्वा धर्मशास्त्रं प्रवृत्तं 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः सुरा न पेयेति; ब्राह्मणमात्रं न हन्यते सुरामात्रं न पीयते। यदि द्रव्यं पदार्थः स्यात् एकं ब्राह्मणमहत्वा एकां च सुरामपीत्वाऽन्यत्र कामचारः स्यात्। (६२) वा० द्रव्याभिधाने ह्याकृत्यसंप्रत्ययः। (६३) द्रव्याभिधानं व्याडिः (६४) चोदनासु च तस्यारम्भात्। भा० आकृतौ चोदितायां द्रव्ये आरम्भणालम्भनप्रोक्षणविशसनादीनि क्रियते। (६५) ....
नह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थकः द्रव्यपदार्थकस्य वा आकृतिः न पदार्थः। उभयोरुभयं पदार्थः। कस्यचित्किञ्चित्प्रधानभूतं किंचिद् गुणभूतम्। आकृतिपदार्थकस्य आकृतिः प्रधानभूता, द्रव्यं गुणभूतम्, द्रव्य पदार्थकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता।.........
आकृतावारम्भणादीनां सम्भवो नास्तीति कृत्वाऽऽकृतिसहचरिते द्रव्ये आरम्भणादीनि भविष्यन्ति।

महाभाष्य १. २. २, ३ पृ० ६७-६६

२. यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव, तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यते इति गौः शुक्लः चलो डित्थः इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोति इति च तदुपाधावेव संकेतः।

काव्यप्रकाश पृ० २६

पृष्ठ २६६

१. नैयायिकास्तु न व्यक्तिमात्रं शक्यं न वा जातिमात्रम्, आद्ये आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च। अन्त्ये व्यक्तिप्रतीत्यभावप्रसङ्गात्। न चाक्षेपाद् व्यक्तिप्रतीतिः। तस्माद् विशिष्ट एव संकेतः। न चानन्त्याद्-शक्यता व्यभिचारो वा गोत्वादि सामान्यलक्षणया सर्वव्यक्तीनामुपस्थितौ सर्वत्रसकेतग्रहसौकर्यात्।

काव्यप्रदीप पृ० ३६

२. प्राभाकराश्च—शक्ति:द्विविधा स्मारिका, अनुभाविका च । तत्र-स्मारिका शक्तिर्जातौ, अनुभाविका च कार्यत्वान्विते ।
भाषारत्न पृ० २१३

३. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्यशेषाद् विवृतेर्वदन्ति, सान्निध्यत: सिद्धपदस्य वृद्धा: ।
न्यायमुक्तावली पृ० ३५९

४. प्रथमत: शक्तिग्रहो व्यवहारात् । तथाहि घटमानय इति केनचिदुक्त: कश्चन तदर्थं प्रतीत्य घटमानयति, तच्च उपलभमानो बाल: तया क्रियया तस्य प्रयत्नमनुमिनोति, तेन प्रयत्नेन, तस्य घटानयनगोचरं ज्ञानमनुमिनोति । तद्गोचरप्रवृत्ति प्रति तद् गोचरज्ञानस्य हेतुत्वात् । तत: अस्य ज्ञानस्य को हेतुरित्याकांक्षायाम् उपस्थिततत्वात् शब्दस्यैव तादृशज्ञानहेतुत्वं कल्पयति । भाषारत्न पृ० २०९

पृष्ठ २७०

१. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यत: सिद्धपदस्यवृद्धा: ।
न्यायमुक्तावली पृ० ३५९

२. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्
अन्योर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिताक्रिया । काव्यप्रकाश पृ० ३७

पृष्ठ २७१

१. सा च लक्षणाद्विविधा, गौणी शुद्धा च तत्र सादृश्यात्मक शक्यसम्बन्धा लक्षणा गौणी·········तदन्या शुद्धा । भाषारत्न पृ० २१६

२. लक्षणा त्रिविधा: जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति ।
तर्कदीपिका पृ० १२८

पृष्ठ २७२

१. नैयायिकमतरीत्या तु—'सोऽयं देवदत्त:' इत्यादौ तत्तांशस्येदानी-मसंभवाद्धानम् इदंत्वांशस्य सम्भवादहानमिति जहदजहल्लक्षणा-माचक्षते । नीलकण्ठप्रकाशिका पृ० ३२७

२. व्यञ्जनापि शक्तिलक्षणान्तर्भूता । तर्कदीपिका पृ० १२९

३. 'गंगायांघोषः' इत्यादौ तु शैत्यपावनत्वादिविशिष्टतीरप्रतीतिर्जहल्ल-क्षणयैव निर्वहति, तत्र शैत्यपावनत्वादिविशिष्टतीराऽधिकरणघोष-तात्पर्येण प्रयुक्तवाक्यात् तथाविध तीररूपार्थस्य बोधे तत्तात्पर्यानुपप-त्त्यात्मकबीजसत्वादिति अतो लक्षणान्तर्भूता सा ।

तर्ककिरणावली पृ० १२६

४. शब्दशक्तिमूला अर्थशक्तिमूला च अनुमानादिना अन्यथासिद्धा ।

तर्कदीपिका पृ० १२६-३०

५. गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् । सुभाषितावलि १०४०

पृष्ठ २७३

१. (क) व्याप्त्याद्यप्रतिसन्धानदशायामुपमिनोमिनानुमिनोमि इति विलक्षण प्रतीतिसिद्धायाः विलक्षणप्रतीतेः नानुमितित्वम् ।

मुक्तावलीप्रभा पृ० ५४३

(ख) अनुमित्यपेक्षया शाब्दज्ञानस्य विलक्षणस्य 'शब्दात्प्रत्येमि' इत्यनुव्य वसायसाक्षिकस्य सर्वसम्मतत्वात् । तर्कदीपिका पृ० १४१-४२

२. यदि पुनरनुभविकलोकानां स्वरसवाही 'शब्दादमुमर्थं प्रत्येमि' इत्य-नुभवः तदा वैयञ्जनिकी प्रतीतिर्गीर्वाणगुरुणाप्यशक्यवारणेति व्यञ्जनासिद्धिः । नीलकण्ठप्रकाशिका पृ० ३३०

पृष्ठ २७४

१. आकांक्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः । तर्कसंग्रह पृ० १३४

२. शाब्दं प्रति तात्पर्यज्ञानस्यापि हेतुत्वम् । भाषारत्न पृ० २०३

३. वाक्यं त्वाकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः ।

तर्कभाषा पृ० ४७

४. यत्पदस्य यत्पदाभावप्रयुक्तमन्वयबोधाजनकत्वं तत्पदसमभिव्याहृत-तत्पदत्वमाकांक्षा । तर्क किरणावली पृ० १३५

५. एकपदार्थे अपरपदार्थवत्वं योग्यता । भाषारत्न पृ० २०१

६. अविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः । तर्कदीपिका पृ० १३६

पृष्ठ २७५

१. (घटपदार्थबोधे) आदौ 'घट' पद 'अम्' पद विषयक समूहालम्बन-श्रवणं, ततो घटकर्मत्वोभयविषयकसमूहालम्बनोपस्थितिः, ततः शाब्दबोधः तत्पूर्वं पदोपस्थित्यादीनां सत्वात् ।

ननुघट पदज्ञानमेव कुतो भविष्यति, न च घट पदस्य श्रावण-मेव भविष्यति तत्र श्रवणसमवायसत्वादिति वाच्यम्, घटपदत्वं हि अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन घविशिष्टटकारत्वं, तस्य च श्रावणं न सम्भवति । तथाहि घवर्णोत्पत्त्यनन्तरं टवर्णोत्पत्तिकाले घ-घत्वेइति-निर्विकल्पकम्, ततः ट-टत्वे इति निर्विकल्पकम् घकारनाशश्च, तद-नन्तरं घट पदस्य घ-विशिष्टत्वेन श्रावणं न सम्भवति तत्पूर्वं घकारस्य नाशात् घकारे श्रोत्रसमवायाभावात् इति चेत् घकारस्य लौकिक-प्रत्यक्षानुत्पादेऽपि उपनीतभानोत्पादसंभवात्, तत्पूर्वं घकार ज्ञान-सत्वात् । तथाहि ट-टत्वे इति निविकल्पकं टकारांशे निर्विकल्पकरूपं जायते । इत्थं च तदा घकारज्ञानसत्वात् द्वितीयक्षणे टकारे घप्रकारक प्रत्यक्षोत्पत्तिर्भवत्येव तत्प्रकारकप्रत्यक्षं प्रति तज्ज्ञानस्य हेतुत्वात् ।

भाषारत्न पृ० १९६-१९७

पृष्ठ २७७

१. यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः । काव्य प्रकाश १०. १०८

पृष्ठ २७८

१. तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।

यजुर्वेद ३१ : ७

२. मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् । न्यायसूत्र २. १. ६८

पृष्ठ २७९

१. तत्रोपपाद्य ज्ञानेनोपपादक कल्पनमर्थापत्तिः ।

वेदान्तपरिभाषा पृ० २४६

पृष्ठ २८०

१. ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम् ।
वही पृ० २५८

पृष्ठ २८३

१. यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यो तादृगर्थविचारणे ।
तर्क भाषा पृ० १२५

२. अभावोप्यनुमानमेव, यथोत्पन्नं कार्य कारणसद्भावे लिङ्गम् ।
एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम् ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १११

पृष्ठ २८४

१. संभवोप्यविनाभावादनुमानमेव । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १११

पृष्ठ २८५

१. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः ।
सर्वदर्शन संग्रह पृ० २७९

पृष्ठ २८६

१. तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लधीयसी ।
वेदे तेनाप्रमाणत्वं न शंकामधिगच्छति । इति ।
श्लोक वार्त्तिक २. ६९

पृष्ठ २८८

१. यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतोग्राह्यं स्यात् तदानभ्यासदशोत्पन्नज्ञाने 'इदं ज्ञानं प्रमा नवेत्याकारकः सर्वजनानुभवसिद्धप्रामाण्यसंशयो न स्यात् । यतस्तत्र यदि ज्ञानं स्वेन ज्ञातं तदा तन्मते प्रामाण्यं ज्ञातमेव, यदि ज्ञाने ज्ञातेऽपि प्रामाण्यं न ज्ञातं तदा न स्वतोग्राह्यत्वसिद्धि । यदि तु ज्ञानमेव न ज्ञातं तदा धर्मिज्ञानाभावात्कथं संशयः, अतो धर्मि ज्ञाने प्रामाण्यं न स्वतोग्राह्यम् । नैयायिकमते परतः अनुमानादितो ग्राह्यम्,

यत: जलप्रत्यक्षानन्तर तदानयनप्रवृत्तौ सत्या जललाभे सति 'पूर्वमुत्पन्न जलप्रत्यक्षज्ञान प्रमा, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्, यत्र सफलप्रवृत्तिजनकत्व नास्ति, तत्र प्रमात्व नास्ति यथा—मरुमरीचिकाजलज्ञाने, इति व्यतिरेकिणानुमानेन प्रायश: सर्वत्रज्ञाने प्रमात्व निश्चीयते, तस्मात् ज्ञानगत प्रामाण्य परतोग्राह्यम् । तर्क किरणावली पृ० १४५

(ख) स्वत प्रामाण्यग्रहे 'जलज्ञान प्रमा नवा इत्यनभ्यासदशाया प्रमात्वसशयो न स्यात् । अनुव्यवसायेन प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात् । तस्मात् स्वतोग्राह्यत्वाभावात्परतोग्राह्यत्वम् । तर्कदीपिका पृ० १५२

पृष्ठ २९१

१ सिद्धदर्शनमपि केचित् विद्यान्तरमङ्गीकुर्वन्ति ।

प्रशस्तपाद विवरण पृ० १२९

२. 'सुख्यहम्' इत्याद्यनुव्यसायगम्य सुखत्वादिकमेव लक्षणम् ।

तर्क दीपिका पृ० १५९

३ धर्मासाधारणकारणकात्मगुणत्वम (सुखलक्षणम्) ।

कणाद रहस्यम् पृ० १२२

पृष्ठ २९२

१ प्रयत्नोत्पाद्यसाधनाधीन सुख सासारिकम् । इच्छामात्राधीनसाधनसाध्यं सुख स्वर्ग' । सप्त पदार्थी पृ० ५०

२ सर्वेऽमी सुखप्रधाना: स्वसविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्द सारत्वात् । ...... सकलवैषयिकोपरागशून्यशुद्धापरयोगिगत: स्वानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते ।

अभिनवभारती ६ ३४

३ स्रगाद्यभिप्रेतविषयसान्निध्ये सतीष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्धर्माद्यपेक्षादात्ममनसो सयोगादनुग्रहाभिष्वङ्गनयनादिप्रसादजनकमुत्पद्यते तत्सुखम् । अतीतेषु विषयेषु स्मृतिजम् । अनागतेषु सकल्पजम् । यत्तु विदुषामसत्सु विषयानुस्मरणेच्छासकल्पेष्वाविर्भवति तद् विद्याशमसन्तोषधर्मविशेषनिमित्तमिति । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३०

पृष्ठ २९३

१ (क) सन्तोषादनुत्तमसुख लाभः । योगदर्शन २. ४२

(ख) यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ।

योग भाष्य पृ० २४६

पृष्ठ २९५

१. प्रयत्नवदात्ममनः संयोगासमवायिकारणिका क्रिया चेष्टा ।

कणाद रहस्यम् पृ० १२७

पृष्ठ २९६

१. यथा पृथिवीत्वं धर्मः । तर्क किरणावली पृ० २६

२ (क) यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म :। वैशेषिक सूत्र १. १. २.

(ख) अभ्युदयस्तत्वज्ञानं निःश्रेयसमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः तदुभयं यतः स धर्मः । उपस्कार भाष्य पृ० ४

३ (क) चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः । मीमांसादर्शन १. १. २

(ख) चोदनेतिक्रियायाः प्रवर्त्तकवचनम् । .. .. तया यो लक्ष्यते सोऽर्थः पुरुषं निःश्रयसेन संयुनक्ति इति ।

शाबर भाष्य पृ० १२. १३ ।

४. वेदःस्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् । मनुस्मृति २.१२
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह :
धीः विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् । मनुस्मृति ६.९२

५. धर्मशब्दोऽयं पाकादिवत् सभाग एव धृति साधने प्रवर्त्तते ।

युक्तिस्नेहप्रपूरणी सिद्धान्त चन्द्रिका पृ० २५

६. धारणाद्धर्मइत्याहुः धर्मो धारयतेः प्रजाः । महाभारत शान्तिपर्व

७. वेदोऽखिलोधर्मंमूलम् । मनुस्मृति २. ६

८. धर्मः पुरुषगुणः, कर्त्तुःप्रियाहितमोक्षहेतुः अतीन्द्रियः ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३८

६ तस्य तु साधनानि श्रुतिस्मृतिविहितानि वर्णाश्रमिणा सामान्य-विशेषभावेनावस्थितानि द्रव्यगुणकर्माणि । वही पृ० १३८

पृष्ठ २९७

१ देवदत्तस्याद्य शरीरं देवदत्तविशेषगुणप्रेरितभूतपूर्वक कार्यत्वे सति-तद्भोगसाधनत्वात् तन्निमित्तस्रगादिवत् । न चाय भूतधर्म एव साधारण्यप्रसङ्गात् । नहि भूतधर्मा गन्धादय कस्यचिदेव ।
कणादरहस्यम् पृ० १३५-१३६

पृष्ठ २९८

१. यथैधासि समिद्धोऽग्नि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन
ज्ञानाग्नि : सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा । गीता ४. ३७

पृष्ठ २९९

१ प्रायश्चित्तनाश्यपापजन्यदु खप्रागभावसत्वेपि तद्गोवधजनितपाप नाशादुत्तरासमयलाभ एव प्रायश्चित्तफलम् ।
कणादरहस्यम् पृष्ठ १४३

२. द्विविध पातकमुपातक महापातक च । तत्रोत्पन्नधर्मफलीभूतप्रतिबन्धक-पापत्वमुपपातकत्वम् । धर्मोत्पत्तिप्रतिबन्धकपापत्व महापातकत्वम् । तथाचेद पाप नश्यतु धर्मफल मयोपभुज्यतामित्यर्थितयोपपातके प्रायश्चित्ताचरणम् । इत: प्रभृति पुण्यमेव मे समुत्पद्यता महापातक नश्यत्विविकामनया महापातके प्रायश्चित्ताचरणम्, नतु दु खानुत्पादार्थितया । कणादरहस्यम् पृ० १४३

३ दु खप्रागभावोऽस्त्येव किन्तु प्रायश्चित्तेन दुखकारणप्रत्यवायविघटन-द्वारा स एव प्रतिपाल्यते । वही पृ० १४२ ।

पृष्ठ ३००

१. अविदुषो रागद्वेषवतः प्रवर्त्तकाद्धर्मात् प्रकृष्टात् स्वल्पाधर्मसहितात् ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिमनुष्यलोकेष्वाशयानुरूपैरिष्टशरीरेन्द्रियविषयसुखादिभि र्योगो भवति । तथा प्रकृष्टादधर्मात्स्वल्पधर्मसहितात् प्रेत-तिर्यग्योनिस्थानेष्वनिष्टशरीरेन्द्रियविषयदु खादिभिः योगो भवति ।

एवं प्रवृत्ति लक्षणाद्धर्मादधर्मसहिताद्देवमनुष्यतिर्यङ् नारकेषु पुन-पुन. ससारबन्धो भवति । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १४३

२ ज्ञानपूर्वकात्तु कृतादसकल्पितफलाद् विशुद्धे कुले जातस्य दु:खविगमोपायजिज्ञासोराचार्यमुपसगम्योत्पन्न ······ ·· तत्वज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य रागद्वेषाद्यभावात् तज्जयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पत्तौ पूर्वसचितयोश्चोपभोगान्निरोधे सन्तोषसुख शरीरपरिच्छेद चोत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ निवृत्तिलक्षण केवलो धर्म: परमार्थदर्शनज सुख कृत्वा निवर्त्तते · ···पुन शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष इति ।

वही पृ० १४३-४४

पृष्ठ ३०१

१ वेग.······ 'स्पर्शवद् द्रव्यसयोगविशेषविरोधी ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३६

पृष्ठ ३०२

१. अनुभवजन्यास्मृतिहेतुर्भावना । तर्कसग्रह पृ० १६१

पृष्ठ ३०३

१ नवीनास्तु—तत्तद्विषयकस्मृति तत्तद्विषयकसस्कार च प्रति तत्तद्विषयकज्ञानत्वेनैव हेतुता नानुभवत्वेन, सस्कारस्य स्मृत्यात्मकफलनाश्यतया प्रथमस्मरणेन तज्जनकसस्कारस्य नाशेन एकबारमनुभूतस्यैक बार स्मरणानन्तर पुन पुन सर्वानुभूतस्मरणाभावप्रसङ्गात् ज्ञानत्वेन कारणतायात्तु प्रथमानुभवनाशेऽपि स्मरणात्मकज्ञानेन पुन सस्कार: पुन स्मरण तेन पुन सस्कार' पुन स्मरणमित्येव पुन पुन' स्मरणलाभात् ज्ञानत्वेनैव स्मृतिसस्कार च प्रति कारणत्वमितिवदन्ति । तर्क किरणावली पृ० १६२

२ (क) सोय स्थिरतर सर्गान्तरजन्मान्तरस्थायी सदृशादृष्टचिन्तादिना उद्बुध्यते । उद्बुद्धश्च स्मृति जनयति । कणादरहस्यम् पृ० १३३

(ख) पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसप्रतिपत्ते. ।

न्याय सूत्र ३ १ १९

३ अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थापादक स्थितिस्थापकः ।

तर्कसग्रह पृ० १६१

पृष्ठ ३०४

१ बुद्ध्यादिषट्क स्पर्शान्ता स्नेहः सासिद्धिको द्रवः।
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिकाः गुणा । भाषा परिच्छेद ९०-९१

२ रूप रस स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम् ।
द्रवत्व स्नेहवेगाश्च मता मूर्त्तगुणा अमी ॥
धर्माधर्मौ भावना च शब्दो बुद्ध्यादयोऽपि च
एतेऽमूर्त्तगुणा सर्वे विद्वद्भि परिकीर्त्तिताः ।
सख्यादयो विभागान्ता उभयेषा गुणा मता । वही ८६—८८

३ सयोगश्च विभागश्च सख्या द्वित्वादिकास्तथा ।
द्विपृथक्त्वादयस्तद्वदेतेऽनेकाश्रिताः गुणा ।
अतः शेषगुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः । वही ८९— ९०

४ सख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्व स्नेह एव च
एते तु द्वीन्द्रियग्राह्या अथस्पर्शान्तशब्दका ।
बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्या गुरुत्वादृष्टभावना ।
अतीन्द्रिया .... । वही ९२—९४

५ · ····विभूनान्तु ये स्युर्वैशेषिका गुणाः
अकारणगुणोत्पन्ना एते तु परिकीर्त्तिताः ।
अपाकजास्तु स्पर्शान्ताः द्रवत्व च तथाविधम् ।
स्नेहवेगगुरुत्वैकपृथक्त्वपरिमाणकम् ।
स्थितिस्थापक इत्येते स्युः कारणगुणोद्भवाः । वही ९४—९६

६. भवेदसमवायित्वमथवैशेषिके गुणे ।
आत्मनः स्यान्निमित्तत्वमुष्णस्पर्शगुरुत्वयो.
वेगेऽपि च द्रवत्वे च सयोगादिद्वये तथा ।
द्विधैव कारणत्व स्यादथ प्रादेशिको भवेत्
वैशेषिको विभुगुण सयोगादिद्वय तथा । वही ९७—९९

पृष्ठ ३०५

१. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवि—
तण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानाना तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।
न्यायसूत्र १. १. १.

२. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। वही १. १. ३.

३. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्। वही, १. १. १४

परिशिष्ट २

ग्रन्थ		लेखक	पृष्ठ
अभिनव भारती	:	अभिनगुप्तपाद	२९२
उपस्कार भाष्य	:	शकर मिश्र	२४, २७, ३९, ४०, ४९, ४४, ४७, ५४, ५६, ६८, ७१, ७२, ७८, ८४, ८८, ९०, ९१ १८४, १९८, १९९, २०९, २२५, २३०, २३७, २६३, २९६
ऋग्वेद	:		४७
कणाद रहस्य	:	शंकर मिश्र	२९, ६५, ९४, ९५, ९६, ९९, १०२, १०४, १०५, १०७, १११, १२२, १२५, १२७, १२८, १२९, १५९, १६०, १६५, २२७, २३७, २६३, २९१, २९५, २९७, २९९, ३०३
कठोपनिषद्	:		७५
काव्य प्रकाश	:	मम्मट	८०, २६८, २७०, २७७
काशिका	:	जयादित्यवामन	२६७
किरणावली प्रकाश			९५
किरणावली	:	उदयन	२९
कुसुमांजलि	:	,,	६२, ६५, ६६,
गदाधरी	:	आचार्य गदाधर	२४१

ग्रन्थ	लेखक	पृष्ठ
Thomson's law of thought :		२०६
Translation of भाषापरिच्छेद :	Roer	५०
Vacabulagry of Pholosophy :	Fleming	१६३
Logic :	Whately	११६
Systom of Logic :	J. S. Mill	१७

परिशिष्ट ३

पारिभाषिक शब्दावली एवं समानन्तर अंग्रेजी शब्द

पदार्थ	Category
द्रव्य	Substance
गुण	Quality
कर्म	Action
सामान्य	Generality
विशेष	Particularity
समवाय	Co-inherence
अभाव	Ngation
पृथिवी	Eearth
जल	Water
अग्नि	Fire
वायु	Air
आकाश	Ether
काल	Time
दिशा	Space
आत्मा	Soul
मनस्	Mind
नित्य	Eternal
अनित्य	Non-eternal

अपेक्षा बुद्धि	The notion which refers to many units.
रूप	Colour
रस	Taste
गन्ध	Odour
स्पर्श	Touch
पाकजगुण	Qualities product of heat
संख्या	Number
परिमाण	Quantity/Dimension
सुख	Pleasure
दु:ख	Pain
इच्छा	Desire
द्वेष	Aversion
प्रयत्न	Effort
धर्म	Merit
अधर्म	Demerit
अदृष्ट	Destiny
संस्कार	Faculty, Impules
वेग	Velocity
भावना	Mental impression
स्थितिस्थापक	Elasticity
मूर्त्त	Corporeal
भूत	Element
उत्क्षेपण	Tossing
अवक्षेपण	Dropping
आकुञ्चन	Contraction
प्रसारण	Expantion
गमन	Motion
मोक्ष	Salvation
अपवर्ग	Eternal Cessation of Pain
पारिमाण्डल्य अणुपरिमाण	Infinite Simality

परिमण्डल	Aglobular atom
द्वयणुक	Binary atam
मध्यम परिमाण	Middling minuteness/Intermediate greatness
परममहत्व विभुत्व	All-pervasion
पृथक्त्व	Severalty
संयोग	Conjunction
निमित्तकारण	Instrumental cause
समवायिकारण	Intimate cause
असमवायिकरण	None-intimate cause
असाधारण कारण	Special cause
साधारण कारण	Universal cause
उपादान कारण	Material cause
प्रागभाव	Antecident Negation
प्रध्वंसाभाव	Destruction Negation
अत्यन्ताभाव	Absolute Negation
अन्योन्याभाव	Reciprocal Negation
विभाग	Disjunction
परत्व	Posterioniry
अपरत्व	Priority
पर	Posteriority
अपर	Prior
गुरुत्व	Gravity
द्रवत्व	Fluidity
सांसिद्धिक	Natural
नैमित्तिक	Contingent
स्नेह	Viscidity
पिण्डीभाव	Agglutination
शब्द	Sound
ध्वन्यात्मक शब्द	Inarliculate sound
वर्णात्मक शब्द	Arliculate sound
संयोगज	Born of conjuction

विभागज	Born of disjunction
शब्दज	Born of Sound
बुद्धि	Cognition
स्मृति	Remembrance
अनुभव	Apprehension
निर्विकल्पक	Indeterminate perception
सविकल्पक	Determinate perception
अनुव्यवसाय	Subsequent Consciousness
व्यवसाय	Simple Cognition
संस्कार	Mental impression
प्रत्यभिज्ञा	Recognition
स्मरण	Recolletion
प्रत्यय	Belief
प्रतीति	Notion
प्रमा	Right apprehension
अप्रमा	False or wrong apprehension
प्रत्यक्ष ज्ञान	Proof Sensory knowledge
प्रत्यक्ष प्रमाण	Perception
अनुमिति	Inferential knowledge
अनुमान	Inference
शाब्द ज्ञान	Verbal knowledge
शब्द प्रमाण	Verbal testimony
उपमिति	Analogy
उपमान	Comparision
कारण	Cause
करण	Proximate cause
अन्यथासिद्ध	Redundant
कार्य	Effect
प्रतियोगी	Contradictory
अनुयोगी	Contrary
कारणवाद	Theory of causalty
सत्कार्यवाद	Existent effect theory (Realism)

असत्कार्यवाद	Non-existent effect theory
शून्यवाद	Relativis
विवर्त्तवाद या मायावाद	Theory of appearance
सन्निकर्ष	The contact of organ and object
संयोग	Conjunction
संयुक्त समवाय	Intimate union with conjunction
संयुक्त समवेत समवाय	Intimate union with intimately united with the conjunction
समवाय	Intimate Union
समवेत समवाय	Intimate union with Intimetly united
विशेषण विशेष्यभाव	Connection of the attribute with the substantive
अनुपलब्धि	Non-apprehension
सहकारी	Accessory
अनुमान	Inference
परामर्श	Consideration, Logical antecedent, Logical datum
पक्ष	Minor term
पक्ष धर्मता	Characteniꞵic of minor term
पक्षता	" "
व्याप्ति	Invariable concomitance, Invariable co-exestance
हेतु	Middle term
लिङ्ग	Sign Mark
स्वार्थानुमान	Inference for one self
परार्थानुमान	Inference for another; syllogism
पूर्ववत्	Reasoning from cause to effect : Deduction Proper

शेषवत्	(An inference of a past shower) Reasoning from effect to cause
सामान्यतोदृष्ट	Induction
केवलान्वयि	Positive
केवल व्यतिरेकि	Negative
अन्वय व्यतिरेकि	Positive and negative
प्रसङ्गापादन	Reductio ad absurdum
न्याय (पञ्चावयव वाक्य	Syllosism
प्रतिज्ञा	Proposition
हेतु	Reason
उदाहरण	Examples
उपनय	Application
निगमन	Conclusion
जिज्ञासा	Curiosity
संशय	Dout
शक्यप्राप्ति	Power of the proof to produce knowledge
प्रयोजन	Aim
संशयव्युदास	Removal of objections
प्रतिज्ञा	Premise
अपदेश	Sign
निदर्शन	Illustration
अनुसन्धान	Scrutiny
प्रत्याम्नाय	Repetition
सपक्ष	Similar instance
विपक्ष	Contrary instance
हेत्वाभास	Logical Fallacy
सव्यभिचार (अनैकान्तिक)	Discrepancy of reason

विरुद्ध	Contradiction of reason, contrary reson
सप्रतिपक्ष	Ambiguity of reason Counter balenced reson
बाधित	Contradicted reason
साधारण	Wide
असाधारण	Peculiar
अनुपसंहारी	Non-exclusive
आश्रयासिद्ध	Non-existent substratum
स्परूपासिद्ध	Non-existent reason
व्याप्यत्वासिद्ध	Non existent concomitance
उपाधि	Limitation condition
शब्द	Word
शाब्दज्ञान	Verbal knowledge
आकांक्षा	Expectancy
योग्यता	Compatibilty
सन्निधि	Juxtaposition, proximity
तात्पर्य ज्ञान	Intended sentence
शब्द शक्ति (अभिधा)	Expressive power of words
लक्षणा	Implication
व्यञ्जना	Suggestion
वाक्य	Sentance
वैदिक वाक्य	Sacred sentance
लौकिक वाक्य	Profone sentance
अर्थापति	Presumption
अनुपलब्धि	Non-apprehension
संभव	Inclusion
ऐतिह्य	Tradition
चेष्टा	Sign
परिशेष	Elimenation
प्रामाण्यवाद	Validity of knowledge

प्रामाण्य	Authoritativeness
अप्रामाण्य	Non-authoritativeness
स्वत: प्रामाण्य	Self validity of knowlege
परतः प्रामाण्य	External proof
अप्रमा	Wrong knowledge
सशय	Doubt
विपर्यय	Error Mis-apprehension proper
तर्क	False assumption
आत्माश्रय	Ignoratio Elenchi
अन्योन्याश्रय	Dilemma
चक्रक	Circular reasoning
अनवस्था	Regressus ad infinitum
प्रमाणबाधितार्थ प्रसंग	Reductio ad absurdum
स्मृति	Remembrance